सन्मति आगम-साहित्य रत्नमाला का प्रथम रत्न :

सामायिक-सूत्र

[प्रवचन, मूल, अर्थ एवं विवेचन सहित]

लेखक :

उपाध्याय अमरमुनि

प्रकाशक :

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

पुस्तक :
सामायिक-सूत्र

*

लेखक :
उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज

*

अन्तर्दर्शन
पं० बेचरदासजी दोशी

*

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण :
दीपावली, १९६९

*

मूल्य :
पाँच रुपये मात्र

*

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा-२

*

मुद्रक :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

प्रकाशकीय

धर्म यदि जीवन का आधार है तो व्रत उसकी आधारशिला है। धार्मिक जागरण, उसमें श्रद्धा, निष्ठा एवं भक्ति-भाव ही हमारे अंदर आध्यात्मिकता का विकास कर, हममें देवोपम जीवन का पर्याय बनाता है, तो व्रत हमें आत्मशुद्धि, आन्तरिक सौम्यता, ऋजुता, विनयिता एवं 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावभूमि तैयार करता है।

प्राणिमात्र में समता का आधार ही सामायिक व्रत का अर्थ है। सामायिक, जितना अंतर की शुद्धता, समता एवं सहजता पर बल देता है, बाह्य का उतना विधान नहीं करता। हाँ बाह्य का विधान उतनी ही दूर तक करता है, जैसे कि दरिया के उस पार जाने के लिए नौका का विधान आवश्यक होता है।

प्रस्तुत पुस्तक सामायिक-सूत्र धर्म एवं व्रत की इसी मूल भावना पर भाष्य के साथ-साथ मौलिक विवेचन एवं चिंतन प्रस्तुत करती है। धर्म एवं व्रतों पर आज अनेकानेक पुस्तकें देखने को मिलती हैं किन्तु हमारा उद्देश्य मात्र धर्म के नाम पर धर्म की पुस्तकें आँख मूँद कर छापने का नहीं है, बल्कि धर्मप्रेमी श्रद्धालु सज्जनों को धर्म व व्रतों के सूत्रों का सरल भाषा में स्पष्ट एवं चिंतनपूर्ण भाष्य प्रस्तुत करने के साथ ही उन्हें धर्म व व्रतों की मूल बातों से अवगत करना है, जो उन्हें वास्तविकता का समुचित ज्ञान कराता है।

सामायिक-सूत्र, हमारा इस दिशा में सफल प्रयास है, यह बात इससे स्वयं सिद्ध हो जाती है कि प्रस्तुत संस्करण इस पुस्तक का तृतीय संस्करण है। इस संस्करण में जैसा कि मैंने बहुत पूर्व सोचा था कि हम धर्मप्रेमी सज्जनों को सामायिक की मूल बातों के मौलिक

एवं तात्त्विक विवेचन से अवगत कराएँ, हमारी कल्पना साकार हो चुकी है। श्रद्धेय कविश्री उपाध्याय अमरचंद्रजी महाराज की कृपा एवं आशीर्वाद के अर्घ्यस्वरूप हम सुधी पाठकों के समक्ष, सामायिक-सूत्र का यह तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रस्तुत करते अपार गौरव की अनुभूति कर रहे हैं। इसमें कवि श्रीजी की व्रत एवं धर्मपरक नितान्त मौलिक एवं तात्त्विक चिंतना को सर्वसाधारण के व्यवहारयोग्य सरल एवं बोधगम्य भाषा-शैली में संजोया गया है।

हमें विश्वास है, धर्मप्रेमी सज्जन, पूर्व की भाँति इस संस्करण को भी हृदय से अपनाएँगे तथा अपना अमूल्य सुझाव देकर हमें इस दिशा में बल प्रदान करेंगे। सामायिक सबके लिए मंगलमय हो!

मंत्री,
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

अन्तर्दर्शन

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी द्वारा लिखित सामायिक सूत्र मैं सम्पूर्ण पढ़ गया हूँ। इसमें मूल पाठ तथा उसका संस्कृतानुवाद (संस्कृत शब्दच्छाया) दोनों ही हैं। मूल पाठ के प्रत्येक शब्द का हिन्दी में अर्थ तो है हीं, साथ ही प्रत्येक सूत्र के अन्त में उसका अखंड संस्कृत भावार्थ भी दिया गया है। और भी, कविरत्न जी ने हिन्दी-विवेचन के रूप में सप्रमाण युगोपयोगी तथा जीवन-स्पर्शी शास्त्रीय चर्चाओं एवं विवेचनाओं से इसे अध्ययनशील हृदयों के लिए अत्यंत ही उपयोगी रूप दिया है। संप्रदाय के सीमित क्षेत्र के बीच रहते हुए भी कविरत्नजी की विवेचना प्रायः साम्प्रदायिक भावना से शून्य है, व्यापक है। तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण कर उन्होंने इस ओर एक नया प्रकाश दिया है। इस प्रकार तुलनात्मक पद्धति तथा व्यापक भाव की दृष्टि का अनुसरण देखकर मुझे सविशेष प्रमोद होता है।

कविरत्न जी का जैन-जगत् में साधुत्व के नाते एक विशेष स्थान है। फिर भी उन्होंने विनयशील स्वभाव, विद्यानुशीलन की प्रवृत्ति, विवेक-दृष्टि और असाम्प्रदायिक विचारों के सहारे अपने-आप को और भी ऊपर उठाया है। मेरा और उनका अध्यापक-अध्येता का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, अतः जितना मैं स्वयं उन्हें नजदीक से समझ पाया हूँ, उतना ही यदि उनके अनुयायी भी अपने गुरु कविरत्न जी को समझने की चेष्टा करें, तो निश्चय ही वे अपना और अपनी सम्प्रदाय का श्रेय-साधन करने में एक सफल पार्ट अदा करेंगे।

प्रत्येक प्राणी में स्वरक्षण-वृत्ति का भाव जन्म से होता है। इस **स्वरक्षण-वृत्ति को सर्वरक्षण-वृत्ति में बदल देना ही सामायिक का प्रधान**

उद्देश्य है। मानव की दृष्टि सर्वप्रथम अपनी ही देह, इन्द्रियाँ और भोग-विलास तक पहुँचती है, फलतः उसकी रक्षा के लिए वह सारे कार्य-अकार्य करने को तैयार रहता है। जब वह आगे बढ़कर पारिवारिक चेतना प्राप्त करता है, तब उसकी वह रक्षणवृत्ति विकसित होकर परिवार की सीमा में पहुँच जाती है। परन्तु, सामायिक का दूरगामी आदर्श हमें बताता है कि स्वरक्षण वृत्ति के विकास का महत्त्व केवल अपनी देह और परिवार तक ही सीमित नहीं, वह तो विश्वव्यापी है। वह शांति परिषद् (पीस कान्फ्रेंस) की तरह केवल विचारमात्र में नहीं, अपितु व्यवहार में प्राणि-मात्र की रक्षा-वृत्ति में है। विश्व-रक्षण का भाव रखने वाला और उसी के अनुसार कार्य करने वाला मानव ही सच्ची सामायिक करता है। फिर भले ही वह श्रावक हो या और कोई गृहस्थ हो, किंवा संन्यस्त साधु हो। किसी भी संप्रदाय-मत का अथवा देश का क्यों न हो और किसी भी विधि-परंपरा से सम्बन्ध रखने वाला क्यों न हो। विभिन्न जातियाँ, विभिन्न भाषाएँ और विभिन्न विधियाँ सामायिक में अन्तर नहीं डाल सकतीं, रुकावट पैदा नहीं कर सकती। जहाँ समभाव है, विश्वरक्षणवृत्ति है और उसका आचरण है, वहीं सामायिक है। बाह्य भेद गौण हैं, मुख्य नहीं।

प्राणि-मात्र को आत्मवत् समझते हुए सब व्यवहार चलाने का ही नाम सामायिक है—सम+आय+इक=सामायिक। सम=समभाव, सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति, आय=लाभ, जिस प्रवृत्ति से समता की, समभाव की प्राप्ति हो, वही सामायिक है।

जैन शास्त्र में सामायिक के दो भेद बताए गए हैं—एक द्रव्य-सामायिक, दूसरी भाव-सामायिक। समभाव की प्राप्ति, समभाव का अनुभव और फिर समभाव का प्रत्यक्ष आचरण-भाव सामायिक है। ऐसे भाव-सामायिक की प्राप्ति के लिए जो बाह्यसाधन और अंतरंग-साधन जुटाए जाते हैं, उसे द्रव्य-सामायिक कहते हैं। जो द्रव्य-सामायिक हमें भाव-सामायिक के समीप न पहुँचा सके, वह द्रव्य-सामायिक नहीं, किन्तु अन्ध-सामायिक है, मिथ्या सामायिक है, यदि और उग्र भाषा में कह दूँ, तो छल-सामायिक है।

हम अपने नित्य प्रति के जीवन में भाव-सामायिक का प्रयोग करें, यही द्रव्य-सामायिक का प्रधान उद्देश्य है। हम घर में हों, दुकान में

हों, कोर्ट-कचहरी में हों, किसी भी व्यावहारिक कार्य में और कहीं भी क्यों न हों, सर्वत्र और सभी समय सामायिक की मौलिक भावना के अनुसार हमारा सब लौकिक व्यवहार चलना चाहिए। उपाश्रय या स्थानक में, "**सावज्जं जोगं पच्चक्खामि**"—'पाप-युक्त प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ'—सामायिक के रूप में ली गई उक्त प्रतिज्ञा की सार्थकता वस्तुतः आर्थिक, राजनीतिक और घरेलू व्यवहारों में ही सामने आ सकती है। दृढ़ निश्चय के साथ जीवन में सर्वत्र सामायिक-प्रयोग की भावना अपनाने के लिए ही तो हम प्रतिदिन उपाश्रयादिक पवित्र स्थानों में देवगुरु के समक्ष, "**सावज्जं जोगं पच्चक्खामि**" की उद्घोषणा करते हैं, सामायिक का पुनः-पुनः अभ्यास करते हैं। जब हम अभ्यास करते-करते जीवन के सब व्यवहारों में सामायिक का प्रयोग करना सीख जाएं और इस क्रिया में भली-भाँति समर्थ हो जायँ, तभी हमारा द्रव्य सामायिक के रूप में किया हुआ नित्यप्रति का अभ्यास सफल हो सकता है और तभी हम सच्चे सामायिक का परिणाम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं।

जो भाई यह कहते हैं कि उपाश्रय और स्थानक में तो सामायिक करना शक्य है, परन्तु सर्वत्र और सभी समय सामायिक कैसे निभ सकती है? उनसे मैं कहूँगा कि जब आप दुकान पर हों तो ग्राहक को अपने सगे भाई की तरह समझें, फलतः उससे किसी भी रूप में छल का व्यवहार नहीं करें, तोलमाप में ठगाई नहीं करें, वह जैसा सौदा मांगता है वैसा ही सौदा यदि दुकान में हो, तो उचित मूल्यों में दें। यदि सौदा खराब हो, बिगड़ा हुआ हो, तो स्पष्ट इन्कार कर दें, तो इस सत्य व्यवहारमय दुकानदारी का नाम भी सामायिक होगा। निश्चय ही आप उस समय बिना मुख-वस्त्रिका और राजोहरण के, बिना आसन और माला के होते हैं, परन्तु समभाव में रहकर संयत वाणी बोलते हुए भगवान् महावीर की बताई हुई सच्ची सामायिक-विधि का पालन अवश्य कर लेते हैं।

इसी प्रकार, आप घर के व्यवहार में भी समझ सकते हैं। यदि आप घर में माता, पिता, भाई, बहिन, बहू, बेटे और बेटी इत्यादि सभी स्वजनों के साथ आत्मवत् व्यवहार करने में सदा जागरूक हैं। कभी अज्ञान, मोह या लोभ के कारण उत्पात खड़े होने की संभावना हो, तो आप समभाव से अपना कर्त्तव्य सोचते हैं। किसी भी प्रकार का

क्षुब्ध वातावरण हो, अपने विवेक को जागृत रखते हैं, तो यह भी सच्ची सामायिक होगी। इसी तरह लेन-देन, खेती के कामों और मजदूरों आदि की समस्या भी सुलझाई जा सकती है। साहूकार, कृषक और किसी भी श्रमजीवी का झगड़ा, आप समभाव-रूप सामायिक के सतत अभ्यास और विवेक के द्वारा प्रेम-पूर्वक सुलझा सकेंगे।

एक बात और। सच्ची सामायिक का फल वैभव-प्राप्ति नहीं है, भोग-प्राप्ति नहीं है, पुत्र और राज्य-प्राप्ति भी नहीं है। सामायिक का फल तो सर्वत्र समभाव की प्राप्ति, समभाव का अनुभव, प्राणि-मात्र में समभाव की प्रवृत्ति, मानव-समाज में सुख-शांति का विस्तार, अशांति का नाश और कलह-प्रपंच का त्याग है। यही सामायिक का लक्ष्य है और यही सामायिक का उद्देश्य है।

सामायिक समभाव की अपेक्षा रखता है। वह मुख-वस्त्रिका, रजोहरण और आसन आदि की तथा मन्दिर आदि की अपेक्षा नहीं रखता। उक्त सब चीजों को समभाव के अभ्यास का साधन कहा जा सकता है। परन्तु यदि वे चीजें समभाव के अभ्यास में हमें उपयोगी नहीं हो सकीं, तो परिग्रहमात्र हैं, आडम्बरमात्र हैं। सामायिक करते हुए हमें लोभ, क्रोध, मोह, अज्ञान, दुराग्रह, अन्ध-श्रद्धा तथा साम्प्रदायिक द्वेष को त्यागने का अभ्यास करना चाहिए। अन्य सम्प्रदायों के साथ समभाव से बर्ताव करना तथा उनके विचारों को सरल भाव से समझना, सामायिक के साधक का यह आवश्यक कर्त्तव्य है। उक्त बातों पर कविश्री जी ने अपने विवेचन में विस्तार के साथ बहुत अच्छे ढंग से प्रकाश डाला है।

कभी-कभी हम धार्मिक क्रिया-कांडों और विधि-विधानों को प्रपंच-सिद्धि का निमित्त भी बना लेते हैं, धर्म के नाम पर खुल्लम-खुल्ला अधर्म का आचरण करने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हम उन विधानों का हृदय एवं भाव ठीक तरह समझ नहीं पाते। आज के धर्म और सम्प्रदायों के अधिकतर अनुयायियों का प्रत्यक्ष आचरण तथा धर्म-विधान इसकी साक्षी दे रहा है।

दूसरी, फूट की मनोवृत्ति है—धार्मिक फूट की मनोवृत्ति को ही हम लेंगे। हमारे पूर्वजों ने, सुधारकों ने समय-समय पर युगानुकूल उचित परिष्कार और क्रांति की भावना से प्रेरित होकर प्राचीन

जीर्ण-शीर्ण धार्मिक क्रिया-कलापों में थोड़ा-सा नया हेर-फेर क्या किया—हमने उसे फूट का प्रमाण ही मान लिया—भेदभाव का आदर्श सिद्धान्त ही समझ लिया। जैन समाज का श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदाय तथा श्वेताम्बर संप्रदाय में भी, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी आदि के भेद और दिगम्बर संप्रदाय में भी तारण पंथ तथा तेरह पंथ आदि की विभिन्नता, इसी मनोवृत्ति के प्रतीक हैं। फूट का रोग फैल रहा है, धर्म के नाम पर निन्दनीय प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, सर्वत्र एक भयंकर अराजकता फैली हुई है।

समाज में दो श्रेणी के मनुष्य होते हैं, एक पंडित-वर्ग के लोग, जिनकी आजीविका एवं प्रतिष्ठा शास्त्रों पर चलती है। पंडित वर्ग में कुछ तो वस्तुतः निःस्पृह, त्यागी, स्व-पर श्रेय के साधक, समभावी होते हैं और कुछ इसके विपरीत सर्वथा स्वार्थजीवी, दुराग्रही और प्रतिष्ठा-प्रिय। दूसरी श्रेणी गतानुगतिक, परंपरा-प्रिय, रूढ़वादी अज्ञानियों की होती है। और, कहना नहीं होगा कि पंडित-वर्ग में अधिकता प्रायः उन्हीं लोगों की होती है, जो स्वार्थजीवी और दुराग्रही, प्रतिष्ठा-प्रिय होते हैं। समाज पर प्रभाव भी उन्हीं का रहता है। फल यह होता है कि जनता को वास्तविक सत्य की प्रेरणा नहीं मिल पाती। इसके विपरीत, एक-दूसरे को झूठा आदि कठोर शब्दों से सम्बोधित कर घोर हिंसा की, पारस्परिक द्वेष की प्रेरणा ही प्राप्त होती है। शुद्ध धर्माचरण का प्रतिबिंब हमारे व्यवहारों में आए तो कैसे? हम तो पाखंडाचरण, सांप्रदायिक द्वेष के भक्त बन जाते हैं, व्यवहाराचरण को धर्माचरण से सर्वथा अलग मान लेते हैं। हमारे साम्प्रदायिक हठ का राग हमें दबा लेता है। संप्रदाय के कर्णधार हमें सत्य की ओर नहीं ले जाते, प्रत्युत भ्रांति में डाल देते हैं। धर्म के नाम पर आज जो हो रहा है, वह सत्य की असाधारण विडम्बना नहीं तो और क्या है?

धार्मिक मनुष्य के लिए धर्माचरण केवल कुछ प्रचलित क्रियाकाण्डों की परंपरा तक ही सीमित नहीं है, वस्तुतः प्रत्येक धर्माचरण का प्रतिबिम्ब हमारे नित्यप्रति के व्यवहाराचरण में उतरना चाहिए। संक्षेप में कहें, तो शुद्ध और सत्य व्यवहार का नाम ही तो धर्म है। जब हम व्यवहाराचरण को धर्माचरण से सर्वथा अलग वस्तु समझते हैं, तब बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है और सबका सब साम्प्रदायिक

कर्मकाण्ड एक पाखंड बन कर रह जाता है। यदि शुद्ध व्यवहार को ही धर्माचरण समझें, तो फिर अनेक मत-मतान्तरों के होने पर भी किसी प्रकार की हानि को संभावना नहीं है। धर्म और मत-पंथ कितने ही क्यों न हों, यदि वे सत्य के उपासक हैं, पारस्परिक अखंड सौहार्द के स्थापक हैं, आध्यात्मिक जीवन को स्पर्श करने वाले हैं, तो समाज का कल्याण ही करते हैं। परन्तु, जब मुमुक्षा कम हो जाती है, साधना-वृत्ति शिथिल पड़ जातीं है और केवल पूर्वजों का राग अथवा अपने हठ का राग बलवान् बन जाता है तब संप्रदाय पुराने विधि-विधानों की कुछ-की-कुछ व्याख्या करने लगते हैं और जनता को भ्रान्ति में डाल देते हैं। ऐसी दशा में गतानुगतिक साधारण जनता सत्य के तट पर न पहुँच कर क्रियाकाण्ड के विकट भँवर में हीं चक्कर काटने लगती हैं।

जबतक साधारण जनता में प्रचुर अज्ञान है, विवेक-शक्ति का अभाव है, तबतक किसी भी कर्मकाण्ड से उसको लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। धार्मिक कर्मकाण्ड में हानि नहीं है, जनता का स्वयं का अज्ञान या उपदेशकों द्वारा दिया गया मिथ्या उपदेश ही हानि का कारण है। संक्षेप में, हमारे कहने का भाव यह है कि यदि धार्मिक क्रियाकांड के द्वारा जनता को वस्तुतः लाभ पहुँचाना अभीष्ट हो, तो धार्मिक कर्मकाण्ड में परिवर्तन करने की अपेक्षा, तद्गत अज्ञानता को ही दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। मैं आज के जन-हितैषी आचार्यों से प्रार्थना करूँगा कि वे मुमुक्षु जनता को धार्मिक कर्मकाण्डों की पृष्ठभूमि में रहने वाले सत्य का प्रकाश दें और निष्प्राण क्रियाकाण्ड में प्राण डालने का प्रयत्न करें। हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों में इसीलिए कहा है—

"जो वर्ग धर्मगुरु या धर्मप्रज्ञापक का पद धारण करता है, उसको गंभीर भाव से अन्तर्मुख होकर शास्त्रों का अध्ययन-मनन और परिशीलन करना चाहिए। मात्र शास्त्रीय सिद्धांतों के ऊपर राग-दृष्टि रखने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि ज्ञान हो भी जाए, तो ऐसा ज्ञान शास्त्रों के प्रज्ञापन में निश्चित और प्रामाणिक नहीं हो सकता।"

"जिस धर्मगुरु की प्रसिद्धि बहुश्रुत के रूप में जनता में होती है, जिसका लोग आदर करते हैं, जिसकी शिष्य-परम्परा विस्तृत है, यदि उसकी शास्त्रीय-ज्ञान की प्ररूपणा निश्चित नहीं है, तो वह जिस

धर्म का आचार्य है, उसी धर्म का शत्रु होता है। अर्थात् ऐसा धर्मगुरु धर्मशत्रु का काम करता है।"

"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेद इत्यादि को लक्ष्य में रखकर ही शास्त्रों का विवेचन करना चाहिए। अधिकारी जिज्ञासु का ख्याल किए बिना ही किया गया धर्म-विवेचन, वक्ता और श्रोता दोनों का ही अहित करता है।"

धर्म-साधना के लिए बाह्य साधनों का त्याग कर देना ही कोई साधना नहीं है। साधन से त्याग से ही विकारी मनोवृत्ति का अन्त नहीं हो जाता। कल्पना कीजिए, एक आदमी कलम से अश्लील शब्द लिखता है। उसे कोई धर्मोपदेशक यह कहे कि कलम से अश्लील शब्द लिखे जाते हैं, अतः कलम को फेंक दो, तो क्या होगा? वह कलम फेंक देगा, और कलम से अश्लील शब्द लिखना बन्द हो जायगा, परन्तु फिर पेन्सिल से लिखने लगेगा। वह भी छुड़ा दी जायगी, तो खड़िया या कोयले से लिखेगा। यदि उसे भी अधर्म कह कर फिकवा देंगे, तो नख-रेखाओं में अश्लीलता अंकित करने की भावना जोर पकड़ेगी। इस प्रकार साधन के फेंकने अथवा बदलने से मानव कभी भी अश्लील प्रवृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता। वह साधन बदलता चला जायगा; परन्तु भावना को नहीं बदलेगा। अतएव धर्मोपदेशक गुरु को विचार करना चाहिए कि अश्लील प्रवृत्ति का मूल कहाँ है? उसका मूल साधन में नहीं, अज्ञान में है; और, अज्ञान का मूल कहाँ है? अज्ञान का मूल अशुद्ध संकल्प में मिलेगा। ऐसी स्थिति में अश्लील प्रवृत्ति को रोकने के लिए हमारे हृदय में जो अशुद्ध संकल्प है, उसका परिहार आवश्यक है। उदाहरण के लिए, अश्लील-लेखन को ही लीजिए। अश्लील-लेखन को रोकने लिए कलम फिकवा देना आवश्यक नहीं है। आवश्यक है मनुष्य के मन में रहने वाले अशुद्ध संकल्पों का त्याग, बुरे भावों का त्याग। अस्तु, अशुद्ध संकल्पों के त्याग पर ही जोर देना चाहिए, और बताना चाहिए कि अशुद्ध संकल्प ही अधर्म है, पाप है, हिंसा है। जबतक मन में से यह विष न निकलेगा, तबतक केवल साधनों को छोड़ देने अथवा साधनों में परिवर्तन कर लेने भर से किसी प्रकार भी शुद्धि होना संभव नहीं। जो समाज केवल बाह्य साधनों पर ही धर्मभाव प्रतिष्ठित करता है, अन्तर्जगत् में उतर कर अशुद्ध संकल्पों

का वहिष्कार नहीं करता, वह क्रिया-जड़ हो जाता है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग में ही शुद्ध व्यवहार, शुद्ध आचरण और शुद्ध धर्म-प्रवृत्ति संभव है, अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त सभी बातों पर कविरत्नजी ने सम्यक् रूप से विवेचना प्रस्तुत की है। इस ओर उनका यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य कहा जायगा। कम से-कम मैं तो इस पर अधिक प्रसन्न हूँ और प्रस्तुत प्रकाशन को एक श्रेष्ठ अनुष्ठान मानता हूँ। सर्वसाधारण में धर्म की वास्तविक साधना के प्रचार के लिए, यह जो मंगल प्रयत्न किया गया है, उसके लिए कविश्री जी को भूरि-भूरि धन्यवाद !

मेरा विश्वास है, प्रस्तुत सामायिक-सूत्र के अध्ययन से जैन-समाज में सर्व-धर्म समभाव की अभिवृद्धि होगी और भाई-भाई के समान जैन-संप्रदायों में उचित सद्भाव एवं प्रेम का प्रचार होगा। इतना ही नहीं, जैन-संघ को हानि पहुँचाने वाली उलझनें भी दूर होंगी।

कविरत्नजी दीर्घजीवी बनकर समाज को यथावसर ऐसे अनेक ग्रन्थ प्रदान करें और अपनी प्रतिभा का अधिकाधिक योग्य परिचय दें, यह मेरी मंगल कामना है।

१२ व, भारतीय निवास सोसाइटी
अहमदाबाद (गुजरात)

—बेचरदास दोशी

अनुक्रमणिका

	प्रवचन		१—१३२
१.	विश्व क्या है ?	....	१
२.	चैतन्य	....	४
३.	मनुष्य और मनुष्यत्व	....	१३
४.	मनुष्यत्व का विकास	....	१६
५.	सामायिक : एक विश्लेषण	....	२७
६.	सामायिक : द्रव्य और भाव	....	३३
७.	सामायिक की शुद्धि	....	३७
८.	सामायिक के दोष	....	४८
९.	अठारह पाप	....	५३
१०.	सामायिक के अधिकारी	....	५८
११.	सामायिक का महत्त्व	....	६१
१२.	सामायिक का मूल्य	....	६६
१३.	सामायिक में दुर्ध्यान विवर्जन	....	६८
१४.	शुभ भावना	....	७२
१५.	आत्मा ही सामायिक है	....	७६
१६.	साधु और श्रावक की सामायिक	....	८१
१७.	सामायिक के छह आवश्यक	....	८४
१८.	सामायिक कब करनी चाहिए ?	....	८५
१९.	आसन कैसा ?	....	८८
२०.	पूर्व और उत्तर दिशा ही क्यों ?	....	९०
२१.	प्राकृत भाषा में ही क्यों ?	....	९५
२२.	दो घड़ी ही क्यों	....	९९

२३. वैदिक सन्ध्या और सामायिक १०३
२४. प्रतिज्ञा पाठ कितनी बार ? १०९
२५. सामायिक में ध्यान ११२

सामायिक सूत्र १३३—२८७

१. नमस्कार-सूत्र ... १३५
२. सम्यक्त्व-सूत्र ... १५१
३. गुरु-गुण-स्मरण-सूत्र १६१
४. गुरु-वन्दन-सूत्र १७१
५. आलोचना-सूत्र १८५
६. कायोत्सर्ग-सूत्र १९०
७. आगार-सूत्र २०६
८. चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र २१४
९. प्रतिज्ञा-सूत्र २२९
१०. प्रणिपात-सूत्र २४७
११. समाप्ति-सूत्र २८२

परिशिष्ट २८९—३०४

१. विधि २९१
२. संस्कृतच्छायानुवाद २९४
३. सामायिक-सूत्र : पद्यानुवाद ३०१

१ || विश्व क्या है ?

प्रिय सज्जनो ! यह जो कुछ भी विश्व-प्रपंच प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में आपके सामने है, यह क्या है ? कभी एकान्त में बैठकर इस सम्बन्ध में कुछ सोचा-विचारा भी है या नहीं ? उत्तर स्पष्ट है—'नहीं'। आज का मनुष्य कितना भूला हुआ प्राणी है कि वह जिस संसार में रहता-सहता है, अनादिकाल से जहाँ जन्म-मरण की अनन्त कड़ियों का जोड़-तोड़ लगाता आया है, उसी के सम्बन्ध में नहीं जानता कि वह वस्तुतः क्या है ?

आज के भोग-विलासी मनुष्यों का इस प्रश्न की ओर, भले ही लक्ष्य न गया हो, परन्तु हमारे प्राचीन तत्त्वज्ञानी महापुरुषों ने इस सम्बन्ध में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की हैं। भारत के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने संसार की इस रहस्यपूर्ण गुत्थी को सुलझाने के अति स्तुत्य प्रयत्न किए हैं और वे अपने प्रयत्नों में बहुत-कुछ सफल भी हुए हैं।

जैन दृष्टि

*

परन्तु, आज तक की जितनी भी संसार के सम्बन्ध में दार्शनिक विचारधाराएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें यदि कोई सबसे अधिक स्पष्ट, सुसंगत एवं तर्कपूर्ण स्पष्ट विचारधारा है, तो वह केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन के धर्ता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जैन तीर्थङ्करों की है। भगवान् ऋषभदेव आदि सभी तीर्थङ्करों का कहना है कि "यह विश्व चैतन्य और जड़ रूप से उभयात्मक है, अनादि है, अनन्त है। न कभी बना है और न कभी नष्ट होगा। पर्याय की दृष्टि से आकार-प्रकार का,

रूप का परिवर्तन होता रहता है, परन्तु मूल-स्थिति का कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता है। मूल-स्थिति का अर्थ 'द्रव्य' है।"[1]

चैतन्याद्वैत

*

चैतन्याद्वैतवादी वेदान्त के कथनानुसार—"विश्व केवल चैतन्य-मय ही है।" यह जैन धर्म को स्वीकार नहीं। यदि जगत् की उत्पत्ति से पहले केवल एक परब्रह्म चैतन्य ही था, जड़ अर्थात् प्रकृति नामक कोई दूसरी वस्तु थी ही नहीं, तो फिर यह नानाप्रपंचरूप जगत कहाँ से आगया? शुद्ध ब्रह्म में तो किसी भी प्रकार का विकार नहीं आना चाहिए? यदि माया के कारण विकार आ गया है, तो वह माया क्या है? सत् या असत्? यदि सत् है, अस्तित्वरूप है—तो अद्वैतवाद—एकत्ववाद कहाँ रहा? ब्रह्म और माया, द्वैत न हो गया? यदि असत् है, नास्तित्वरूप है—तो वह शश-शृङ्ग अथवा आकाश-पुष्प के समान अभाव-स्वरूप ही होनी चाहिए। फलतः वह शुद्ध परब्रह्म को विकृत कैसे कर सकती है? जो वस्तु ही नहीं, अस्तित्वरूप ही नहीं, वह क्रियाशील कैसे? कर्त्ता तो वही बनेगा, जो भावस्वरूप होगा, क्रियाशील होगा! यह एक ऐसी प्रश्नावली है, जिसका वेदान्त के पास कोई उत्तर नहीं।

जड़ाद्वैत

*

अब रहा जड़ाद्वैतवादी चार्वाक अर्थात् नास्तिकवादी विचार, जो यह कहता है कि "संसार केवल प्रकृति-स्वरूप ही है, जड़रूप ही है; उसमें आत्मा अर्थात् चैतन्य नाम का कोई दूसरा पदार्थ किसी भी रूप में नहीं है।"

जैन धर्म का इसके प्रति भी तर्क है कि "यदि केवल प्रकृति ही है, आत्मा है ही नहीं; तो फिर कोई सुखी, कोई दुखी, कोई क्षमाशील, कोई त्यागी, कोई भोगी, यह विचित्रता क्यों? जड़ प्रकृति को तो सदा एक जैसा रहना चाहिए! दूसरे, प्रकृति तो जड़ है, उसमें भले-बुरे का ज्ञान कहाँ? कभी किसी जड़ ईंट या पत्थर

---

१. भगवती सूत्र, शतक २ उद्देशक १

आदि को तो ये सङ्कल्प नहीं हुए ? एक नन्हे-से कीड़े में भी संकल्प शक्ति है। वह जरा-सा छेड़ने पर झटपट सिकुड़ता है और आत्म-रक्षा के लिए प्रयत्न करता है; परन्तु ईंट या पत्थर को कितना ही पीटिए, उनकी ओर से किसी भी तरह की चेतना का प्रदर्शन नहीं होगा।" चार्वाक उक्त प्रश्नों के समक्ष मौन है।

अतएव संक्षेप में यह सिद्ध हो जाता है कि यह अनादि संसार, चैतन्य और जड़ उभयरूप है, एकरूप नहीं। जैन तीर्थंकरों का कथन इस सम्बन्ध में पूर्णतया सौ टंची सोने के समान निर्मल और सत्य है। * * *

---

२ || चैतन्य

प्रस्तुत प्रसंग चैतन्य अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में ही कुछ कहने का है, अतः पाठकों की जानकारी के लिए इसी दिशा में कुछ पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं । दार्शनिक क्षेत्र में आत्मा का विषय बहुत ही गहन एवं जटिल माना जाता है, अतः एक स्वतन्त्र पुस्तक के द्वारा ही इस पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा सकता है। परन्तु, समयाभाव के कारण, अधिक विस्तार में न जाकर, संक्षेप में, मात्र स्वरूप-परिचय कराना ही यहाँ हमारा लक्ष्य है।

आत्मा क्या है, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शनों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। किसी भी वस्तु को नाममात्र से मान लेना कि वह है, यह एक चीज है; और वह किस प्रकार से है, किस रूप से है, यह दूसरी चीज है। अतः आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले दर्शनों का भी, आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में परस्पर मतैक्य नहीं है। कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। सब के सब परस्पर विरोधी लक्ष्यों की ओर दौड़ रहे हैं।

सांख्यदर्शन

*

सांख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानता है। वह कहता है कि "आत्मा सदाकाल कूटस्थ-एकरूप रहता है। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन--हेरफेर नहीं होता। प्रत्यक्षतः जो ये सुख, दुःख आदि के परिवर्तन आत्मा में दिखलाई देते हैं, सब प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

अस्तु, सांख्य-मत में आत्मा अकर्त्ता है। अर्थात् वह किसी भी प्रकार के कर्म का कर्त्ता नहीं है। करने वाली प्रकृति है। प्रकृति के दृश्य आत्मा देखती है, अतः वह केवल द्रष्टा है। सांख्य-सिद्धान्त का यही सूत्र है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार-विमूढात्मा, कर्त्ताहमिति मन्यते॥ —गीता, ३।२७

वेदान्तदर्शन

*

वेदान्त भी आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानता है। परन्तु, उसके मत में ब्रह्मरूप आत्मा एक ही है, सांख्य के समान अनेक नहीं। प्रत्यक्ष में जो नानात्व दिखलाई देता है, वह माया-जन्य है, आत्मा का अपना नहीं। परब्रह्म के साथ ज्योंही माया का स्पर्श हुआ, वह एक से अनेक हो गया, संसार बन गया। पहले, ऐसा कुछ नहीं था। वेदान्त जहाँ आत्मा को एक मानता है, वहाँ सर्वव्यापी भी मानता है। अखिल ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा का पसारा है, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। वेदान्त के आदर्श-सूत्र है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। —छांदोग्यउपनिषद् ३।१४।१
एकमेवाद्वितीयम्। —छां० उ० ६।२।१

वैशेषिकदर्शन

*

वैशेषिक आत्मा तो अनेक मानते हैं, पर मानते हैं सर्वव्यापी। उनका कहना है कि "आत्मा एकान्त नित्य है। वह किसी भी परिवर्तन के चक्र में नहीं आती। जो सुख-दुःख आदि के रूप में परिवर्तन नजर आता है, वह आत्मा के गुणों में है, स्वयं आत्मा में नहीं। ज्ञान आदि आत्मा के गुण अवश्य हैं, पर, वे आत्मा को तंग करने वाले हैं, संसार में फँसाने वाले हैं। जब तक ये नष्ट नहीं हो जाते, तब तक आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वरूपतः आत्मा 'जड़' है। आत्मा से भिन्न पदार्थ के रूप में माने जाने वाले ज्ञान-गुण के सम्बन्ध से आत्मा में चेतना है, स्वतः नहीं।"

बौद्धदर्शन

*

बौद्ध आत्मा को एकान्त क्षणिक मानते हैं। उनका अभिप्राय

यह है कि प्रत्येक आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट होती रहती है और उस से नवीन-नवीन आत्मा उत्पन्न होती रहती है। यह आत्माओं का जन्म-मरण-रूप प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। जब आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मा को समूल नष्ट कर दिया जाए, वर्तमान आत्मा नष्ट होकर आगे नवीन आत्मा उत्पन्न ही न हो, तब उसकी मोक्ष होती है, दु:खों से छुटकारा मिलता है। न रहेगी आत्मा और न रहेंगे उससे होने वाले सुख-दु:ख। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।

आर्यसमाज

*

आजकल के प्रचलित पंथों में आर्यसमाजी आत्मा को सर्वथा अल्पज्ञ मानते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार आत्मा न कभी सर्वज्ञ होती है और न वह कर्म-बन्धन से छुटकारा पाकर कभी मोक्ष ही प्राप्त कर सकती है। जब शुभ कर्म होता है तो मरने के बाद कुछ दिन मोक्ष में आनन्द का भोग प्राप्त होता है। और जब अशुभ कर्म होता है, तो इधर उधर की दुर्गतियों में दु:ख का भोग प्राप्त होता है। आत्मा अनन्तकाल तक यों ही ऊपर-नीचे भटकती रहेगी। सदा के लिए अजर, अमर, अखण्ड शान्ति कभी नहीं मिलेगी।

देवसमाज

*

देवसमाजी आत्मा को प्रकृति-जन्य जड़-पदार्थ मानते हैं, स्वतन्त्र चैतन्य नहीं। वे कहते हैं कि "आत्मा भौतिक है, अतः वह एक दिन उत्पन्न होती है और नष्ट भी हो जाती है; आत्मा अजर, अमर, सदाकाल स्थायी नहीं है। जब आत्मा ही नहीं है, तो फिर मोक्ष का प्रश्न ही कहाँ रहा?" आध्यात्मिक साधना का चरम लक्ष्य, आर्य-समाज के समान देवसमाज के ध्यान में भी नहीं है।

जैन दर्शन का समाधान

आत्मा परिणामी नित्य है

*

भारत के उक्त विभिन्न दर्शनों में से जैन दर्शन आत्मा के सम्बन्ध में एक पृथक् ही धारणा रखता है, जो पूर्णतया स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। जैन धर्म का कहना है कि "आत्मा परिणामी—परिवर्तनशील

नित्य है ; कूटस्थ—एकरस नित्य नहीं। यदि वह सांख्य की मान्यता के अनुसार कूटस्थ नित्य होता, तो फिर नरक, देव, मनुष्य आदि नाना गतियों में कैसे घूमता ? कभी क्रोधी और कभी शान्त कैसे होता ? कभी सुखी और कभी दुःखी कैसे बनता ? कूटस्थ को तो सदा काल एक जैसा रहना चाहिए ! कूटस्थ में परिवर्तन कैसा ? यदि यह कहा जाए कि ये सुख, दुःख, ज्ञान, आदि सब प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं, तो यह भी मिथ्या है। क्योंकि, ये वस्तुतः प्रकृति के धर्म होते, तब तो आत्मा के निकल जाने के बाद, जड़ प्रकृति-रूप से अवस्थित मृतक शरीर में भी होने चाहिएँ थे; पर उसमें होते नहीं। क्या कभी किसी ने सजीव शरीर के समान, निर्जीव हड्डी और मांस को भी दुःख से घबराते और सुख से हर्षित होते देखा है ? अतः सिद्ध है कि आत्मा परिणामशील नित्य है। सांख्य के अनुसार कूटस्थ नित्य नहीं। परिणामी नित्य से यह अभिप्राय है कि आत्मा कर्मानुसार नरक, तिर्यंच आदि में तथा सुख-दुःख रूप में बदलती भी रहती है और फिर भी आत्मतत्त्व-रूप में स्थिर, नित्य रहती है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। सुवर्ण-कंकण आदि गहनों के रूप में बदलता रहता है, साथ ही सुवर्ण-रूप से ध्रुव भी रहता है। इसी प्रकार आत्मा भी।"

आत्मा अनन्त हैं

*

वेदान्त के अनुसार आत्मा एक और सर्वव्यापी भी नहीं। यदि ऐसा होता, तो जिनदास, कृष्णदास, रामदास आदि सब व्यक्तियों को एक समान ही सुख-दुःख होना चाहिए था। क्योंकि जब आत्मा एक ही है, और वह सर्वव्यापी भी है ; फिर प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग सुख-दुःख का अनुभव क्यों करे ? कोई धर्मात्मा और कोई पापात्मा क्यों बने ? दूसरा दोष यह है कि सर्वव्यापी मानने से परलोक भी घटित नहीं हो सकता। क्योंकि जब आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी है, फलतः कहीं आती-जाती ही नहीं ; तब फिर नरक स्वर्ग आदि विभिन्न स्थानों में जाकर पुनर्जन्म कैसे लेगी ? सर्वव्यापी को कर्मबन्धन भी नहीं हो सकता ! क्या कभी सर्वव्यापी आकाश भी किसी बन्धन में आता है ? और जब बन्धन ही नहीं तो फिर मोक्ष कहाँ रहा ?

ज्ञान : आत्मा का गुण है

*

"आत्मा का ज्ञान-गुण स्वाभाविक नहीं है", वैशेषिक दर्शन का उक्त कथन भी अभ्रान्त नहीं है। प्रकृति और चैतन्य दोनों में विभेद की रेखा खींचने वाला आत्मा का यदि कोई विशेष लक्षण है, तो वह एक ज्ञान ही है। आत्मा का कितना ही क्यों न पतन हो जाए, वह वनस्पति आदि स्थावर जीवों की अतीव निम्न स्थिति तक क्यों न पहुँच पाए, फिर भी उसकी ज्ञानस्वरूप चेतना पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाती। अज्ञान का पर्दा कितना ही घनीभूत क्यों न हो, ज्ञान का क्षीण प्रकाश, फिर भी अन्दर में चमकता ही रहता है। सघन बादलों के द्वारा ढँक जाने पर भी क्या कभी सूर्य के प्रकाश का दिवस-सूचक स्वरूप नष्ट हुआ है ? कभी नहीं। और ज्ञान के नष्ट होने पर ही मुक्ति होगी, यह कहना तो और भी अटपटा है ! आत्मा का जब ज्ञान-गुण ही नष्ट हो गया, तब फिर शेष में क्या स्वरूप बच रहेगा ? तेजोहीन अग्नि, अग्नि नहीं, राख हो जाती है। गुणी का अस्तित्व अपने निजी गुणों के अस्तित्व पर ही आश्रित है। क्या कभी बिना गुण का भी कोई गुणी होता है ? कभी नहीं। ज्ञान आत्मा का एक विशिष्ट गुण है, अतः वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा के साथ सदैव अविच्छिन्न रूप से रहता है। भगवान महावीर तो आत्मा और ज्ञान में अभेद सम्बन्ध मानते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि "जो ज्ञाता है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञाता है"।

> जे विन्नाया से आया, जे आया से विन्नाया।
>
> जेण वियाणइ से आया। —आचारांग १।५।५

आत्मा निरन्वय क्षणिक नहीं

*

"आत्मा क्षण-क्षण में उत्पन्न एवं साथ ही नष्ट होती रहती है", बौद्ध धर्म का यह सिद्धान्त भी अनुभव एवं तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्षणभंगुर का अर्थ तो यह हुआ कि "मैंने पुस्तक लिखने का संकल्प किया, तब अन्य आत्मा थी, लिखने लगा, तब अन्य आत्मा थी, अब लिखते समय अन्य आत्मा है और पूर्ण लिखने के बाद जब पुस्तक समाप्त होगी, तब अन्य ही कोई आत्मा उत्पन्न हो जायेगी। यह सिद्धान्त प्रत्यक्षतः सर्वथा बाधित है। क्योंकि, मुझे

संकल्पकर्त्ता के रूप में निरन्तर एक ही प्रकार का संकल्प है कि "मैं ही संकल्प करनेवाला हूँ, मैं ही लिखनेवाला हूँ और मैं ही पूर्ण करूँगा।" यदि आत्मा उत्तरोत्तर अलग-अलग है, तो संकल्प आदि में विभिन्नता क्यों नहीं? दूसरी बात यह है कि आत्मा को निरन्वय क्षणिक मानने से कर्म और कर्म-फल का एकाधिकरण-रूप सम्बन्ध भी अच्छी तरह नहीं घट सकता। एक आदमी चोरी करता है और उसे दण्ड मिलता है। परन्तु, बौद्ध के विचार से आत्मा बदल गयी। अतः चोरी की किसी ने और दण्ड मिला किसी दूसरे को। भला, यह भी कोई न्याय है? चोर करनेवाली आत्मा का कृत-कर्म निष्फल गया और उधर चोरी न करनेवाली दूसरी आत्मा को बिना कर्म के व्यर्थ ही दण्ड भोगना पड़ा।

आत्मा सर्वज्ञ और मुक्त हो सकती है

*

"आत्मा कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकती, मोक्ष नहीं पा सकती", यह आर्य समाज का कथन भी उचित नहीं। हमें अल्पज्ञ ही रहना है, संसार में ही भटकना है, तो फिर भला यम, नियम एवं तपश्चरण आदि की साधना का क्या अर्थ? धर्म साधना आत्मा के सद्गुणों का विकास करने के लिए ही तो है। और, जब गुणों के विकसित होते-होते आत्मा पूर्ण विकास के पद पर पहुँच जाती है, तो वह सर्वज्ञ हो जाती है, अन्त में वह सब कर्म बन्धनों को काटकर मोक्ष पद प्राप्त कर लेती है—सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाती है। मोक्ष प्राप्त करने के बाद, फिर कभी भी उसे संसार में भटकना नहीं पड़ता। जिस प्रकार जला हुआ बीज फिर कभी उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार तपश्चरण आदि की आध्यात्मिक अग्नि से जला हुआ कर्म-बीज भी फिर कभी जन्म-मरण का विष-अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता।

जहा दड्ढाण बीयाणं ण जायंति पुणंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा॥

—दशा श्रुतस्कन्ध ५।१५

जिस प्रकार दूध में से निकालकर अलग किया हुआ मक्खन, पुनः अपने स्वरूप को तज कर दूध-रूप हो जाए, यह असम्भव है; ठीक उसी प्रकार कर्म से अलग होकर सर्वथा शुद्ध हुई आत्मा, पुनः

आबद्ध नहीं हो सकती, कर्म-जन्य सुख-दुःख नहीं भोग सकती। विना कारण के कभी भी कार्य नहीं होता—यह न्यायशास्त्र का ध्रुव सिद्धान्त है। जब मोक्ष में संसार के कारण कर्म ही नहीं रहे, तो फिर संसार में पुनरागमनरूप उसका कार्य कैसे हो सकता है ?

आत्मा पंचभूतात्मक नहीं है

*

'आत्मा पाँच भूतों की बनी हुई है और एक दिन वह नष्ट हो जाएगी'—यह देव समाज आदि नास्तिकों का कथन भी सर्वथा असत्य है। भौतिक पदार्थों से आत्मा की विभिन्नता स्वयं सिद्ध है। किसी भी भौतिक पदार्थ में चेतना का अस्तित्व नहीं पाया जाता। और इधर प्रत्येक आत्मा में थोड़ी या बहुत चेतना अवश्य होती है। अतः लक्षण-भेद से पदार्थ-भेद का सिद्धान्त सर्वमान्य होने के कारण जड़ प्रकृति से चैतन्य आत्मा का पृथक्त्व युक्तिसंगत है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँच जड़ भूतों के सम्मिश्रण से चैतन्य आत्मा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? जड़ के संयोग से तो जड़ की ही उत्पत्ति हो सकती है, चैतन्य की नहीं। कारण के अनुरूप ही तो कार्य होता है। और उत्पन्न भी वही चीज होती है, जो पहले न हो। किन्तु, आत्मा सदा से है और सदा रहेगी। जब एक शरीर क्षीण हो जाता है और तज्जन्म-सम्वन्धी कर्म भोग लिया जाता है, तब आत्मा नवीन कर्मानुसार दूसरा शरीर धारण कर लेती है। शरीर-परिवर्तन का यह अर्थ नहीं कि शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। अमूर्त आकाश के समान अमूर्त आत्मा भी न कभी वनती है, न बिगड़ती है। वह अनादि है और अनन्त है, फलतः अखण्ड है, अच्छेद्य है, अभेद्य है।

आत्मा अमूर्त-अरूपी है

*

आत्मा अरूपी है, उसका कोई रूप-रंग नहीं। आत्मा में स्पर्श रस, गन्ध आदि किसी भी तरह नहीं हो सकते क्योंकि वे सव जड़ पुदगल-प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

आत्मा अतीन्द्रिय है

*

आत्मा इन्द्रिय, वाणी, बुद्धि और मन से अगोचर है—

सव्वे सरा नियट्टंति तक्का तत्थ न विज्जइ।*

—आचारांग १।५।६

आत्मा स्वपर-प्रकाशक है

*

अस्तु, आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने की शक्ति एक-मात्र आत्मा में ही है, अन्य किसी भी भौतिक साधन में नहीं। जिस प्रकार स्व-पर प्रकाशक दीपक को देखने के लिए दूसरे किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, अपने उज्ज्वल प्रकाश से ही वह स्वयं प्रतिभासित हो जाता है; ठीक इसी प्रकार स्व-पर प्रकाशक आत्मा को देखने के लिए भी किसी दूसरे भौतिक प्रकाश की आवश्यकता नहीं। अन्तर में रमा हुआ ज्ञान-प्रकाश ही, जिसमें से वह प्रस्फुरित हो रहा है, उस अनन्त तेजोमय आत्मा को भी देख लेता है। आत्मा की सिद्धि के लिए स्वानुभूति ही सबसे बड़ा प्रमाण है। अतएव आत्मा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'मैं' क्यों हूँ, चूँकि 'मैं' हूँ।

आत्मा सर्वव्यापी नहीं

*

आत्मा सर्वव्यापी नहीं, बल्कि शरीर-प्रमाण होती है। छोटे शरीर में छोटी और बड़े शरीर में बड़ी हो जाती है। छोटी वय के बालक में आत्मा छोटी होती है, और उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों शरीर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा का भी विस्तार होता जाता है। आत्मा में संकोच-विस्तार का गुण प्रकाश के समान है। एक विशाल कमरे में रखे हुए दीपक का प्रकाश बड़ा होता है; परन्तु यदि आप उसे उठाकर एक छोटे-से घड़े में रख दें, तो उसका प्रकाश उतने में ही सीमित हो जाएगा। यह सिद्धान्त अनुभव-सिद्ध भी है कि शरीर में जहाँ कहीं भी चोट लगती है, सर्वत्र दुःख का अनुभव होता है।

---

* तुलना कीजिए—न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनः।

—केन उपनिषद्, खण्ड १, कण्डिका ३।

शरीर से बाहर किसी भी चीज को तोड़िए, कोई दुःख नहीं होगा। शरीर से वाहर आत्मा हो, तभी तो दुःख होगा न ? अतः सिद्ध है कि आत्मा सर्वव्यापी न होकर शरीर-प्रमाण ही है।

आत्मा के स्वरूप के सम्वन्ध में संक्षिप्त पद्धति अपनाते हुए भी काफी विस्तार के साथ लिखा गया है। इतना लिखना आवश्यक भी था। यदि आत्मा का उचित अस्तित्व ही निश्चित न हो, तो फिर आप जानते हैं, धर्म, अधर्म की चर्चा का मूल्य ही क्या रह जाता है ? धर्म का विशाल महल आत्मा की बुनियाद पर ही खड़ा है। * * *

---

३ || मनुष्य और मनुष्यत्व

आत्मा अपनी स्वरूप-स्थितिरूप स्वाभाविक परिणति से तो शुद्ध है, निर्मल है, विकार-रहित है; परन्तु कषाय-मूलक वैभाविक परिणति के कारण वह अनादिकाल से कर्म-बन्धन में जकड़ी हुई है। जैन दर्शन का कहना है कि "कषाय-जन्य कर्म अपने एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा आदि है और अनादिकाल से चले आनेवाले प्रवाह की अ पेक्षा अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरह की कषाय-मूलक हलचल किया ही करता है। और यह हलचल ही कर्मबन्ध की जड़ है। अतः सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिशः अर्थात् किसी एक कर्म की अपेक्षा से आदि वाले हैं; परन्तु कर्म-रूप प्रवाह से—परम्परा से अनादि हैं। भूतकाल की अनन्त गहराई में पहुँच जाने के बाद भी, ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता, जबकि आत्मा पहले सर्वथा शुद्ध रही हो, और बाद में कर्म-स्पर्श के कारण अशुद्ध बन गई हो! यदि कर्म-प्रवाह को आदिमान् माना जाए, तो प्रश्न होता है कि विशुद्ध आत्मा पर बिना कारण अचानक ही कर्म-मल लग जाने का क्या कारण है? बिना कारण के तो कार्य नहीं होता! और, यदि सर्वथा शुद्ध आत्मा भी, बिना कारण के यों ही व्यर्थ लिप्त हो जाती है, तो फिर तप-जप आदि की अनेकानेक कठोर साधनाओं के बाद मुक्त हुए जीव भी पुनः कर्म में लिप्त हो जाएँगे! इस दशा में, मुक्ति को एक प्रकार से सोया हुआ संसार ही कहना चाहिए। सोते रहे तब तक तो आनन्द और जगे तो फिर वही हाय-हाय! मोक्ष में कुछ काल तक आनन्द में रहना और फिर वही कर्म-चक्र की पीड़ा सहना!

मनुष्य जीवन देव-दुर्लभ है

*

हाँ, तो आत्मा, कर्म-मल से लिप्त होने के कारण अनादिकाल से संसार-चक्र में घूम रही है, त्रस और स्थावर की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रही है। कभी नरक में गयी, तो कभी तिर्यंच में, नाना गतियों में, नाना-रूप धारण कर, घूमते-घामते अनन्तकाल हो चुका है; परन्तु दुःख से छुटकारा नहीं मिला। दुःख से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन मनुष्य जन्म है। आत्मा का जब कभी अनन्त पुण्योदय होता है, तब कहीं मानव जन्म की प्राप्ति होती है। भारतीय धर्मशास्त्रों में मनुष्य-जन्म की बड़ी महिमा गाई गई है। कहा जाता है कि देवता भी मानव-जन्म की प्राप्ति के लिए तड़पते हैं! भगवान महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में अनेक बार मनुष्य-जन्म की दुर्लभता का वर्णन किया है—

"कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुपत्ता, आययन्ति मणुस्सयं॥" —उत्तराध्ययन ३।७

अनेकानेक योनियों में भयंकर दुःख भोगते-भोगते जब कभी अशुभ कर्म क्षीण होते हैं, और आत्मा शुद्ध-निर्मल होती है, तब वह मनुष्यत्व को प्राप्त करती है।

मोक्ष-प्राप्ति के चार कारण दुर्लभ बताते हुए भी, भगवान महावीर ने, अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में, मनुष्यत्व को ही सबसे पहले गिना है। वहाँ बतलाया है कि "मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण, श्रद्धा और सदाचार के पालन में प्रयत्नशीलता—ये चार साधन जीव को प्राप्त होने अत्यन्त कठिन हैं।"

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

—उत्तराध्ययन ३।१

क्या सचमुच ही मनुष्य जन्म इतना दुर्लभ है? क्या मनुष्य से बढ़-कर अन्य कोई जीवन नहीं? इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मानव भव अतीव दुर्लभ वस्तु है। परन्तु, धर्म-शास्त्रकारों का आशय, इसके पीछे कुछ और ही रहा हुआ प्रतीत होता है। वे दुर्लभता का भार, मनुष्य शरीर पर न डाल कर, मनुष्यत्व पर डालते हैं। बात वस्तुतः है भी ठीक। मनुष्य शरीर के पा लेने-भर से तो कुछ नहीं हो

जाता। हम एक दो बार क्या, अनन्त बार मनुष्य वन चुके हैं—लम्बे-चौड़े सुन्दर, सुरूप, वलवान! पर लाभ कुछ नहीं हुआ। कभी-कभी तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक उठानी पड़ी है। मनुष्य तो चोर भी है, जो निर्दयता के साथ दूसरों का धन चुरा लेता है! मनुष्य तो कसाई भी है, जो प्रतिदिन निरीह पशुओं का खून वहा कर प्रसन्न होता है! मनुष्य तो साम्राज्यवादी राजा लोग भी हैं, जिनकी राज्य-तृष्णा के कारण लाखों मनुष्य वात-की-वात में रणचण्डी की भेंट हो जाते हैं! मनुष्य तो वेश्या भी है, जो रूप के वाजार में बैठकर चन्द चाँदी के टुकड़ों के लिए अपना जीवन विगाड़ती है और देश की उठती हुई तरुणाई को भी मिट्टी में मिला देती है। आप कहेंगे, ये मनुष्य नहीं, राक्षस हैं। हाँ, तो मनुष्य-शरीर बेकार है, कुछ अर्थ नहीं। हम इतनी बार मनुष्य वन चुके हैं, जिसकी कोई गिनती नहीं। एक आचार्य अपनी कविता की भाषा में कहते हैं कि—

"हम इतनी वार मनुष्य-शरीर धारण कर चुके हैं कि यदि उनके रक्त को एकत्र किया जाए, तो असंख्य समुद्र भर जाएँ, मांस को एकत्र किया जाए, तो चाँद और सूरज भी दव जाएँ, हड्डियों को एकत्र किया जाए, तो असंख्य मेरु पर्वत खड़े हो जाएँ।"

मनुष्यता की आवश्यकता

*

भाव यह है कि मनुष्य शरीर इतना दुर्लभ नहीं, जितनी कि मनुष्यता दुर्लभ है। हम जो अभी संसार-सागर में गोते खा रहे हैं, इसका अर्थ यही है कि हम मनुष्य तो बने; पर दुर्भाग्य से मनुष्यत्व नहीं पा सके, जिसके विना किया-कराया सव धूल में मिल गया, काता-पींजा फिर से कपास हो गया!

मनुष्यता कैसे मिल सकती है? यह एक प्रश्न है; जिस पर सव-के-सव धर्मशास्त्र एक स्वर से पुकार रहे हैं। मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं—एक अन्दर की ओर झाँकना, दूसरा वाहर की ओर झाँकना। जो जीवन वाहर की ओर झाँकता रहता है, संसार की मोह-माया के अन्दर उलझा रहता है, अपने आत्मतत्त्व को भूल कर केवल देह का ही पुजारी वना रहता है, वह मनुष्य-भव में मनुष्यता के दर्शन नहीं कर सकता।

मनुष्य का समग्र जीवन इस देह-रूपी घर की सेवा करने में ही बीत जाता है। यह देह आत्मा के साथ आजकल अधिक-से-अधिक पचास, सौ या सवा सौ वर्ष के लगभग ही रहता है। परन्तु, इतने समय तक मनुष्य करता क्या है? दिन-रात इस शरीर-रूपी मिट्टी के घरौंदे की परिचर्या ही में लगा रहता है, दूसरे आत्म-कल्याणकारी आवश्यक कर्त्तव्यों का तो उसे भान ही नहीं रहता। देह को खाने के लिए कुछ अन्न चाहिए, लेकिन प्रातःकाल से लेकर अर्धरात्रि तक तेली के बैल की तरह आँखें बन्द किए, तन-तोड़ परिश्रम करता है। देह को ढाँपने के लिए कुछ वस्त्र चाहिए, किन्तु सुन्दर-से-सुन्दर वस्त्र पाने के लिए वह व्याकुल हो जाता है। देह के रहने के लिए एक साधारण-सा घर चाहिए, पर कितने ही क्यों न अत्याचार करने पड़ें, गरीबों के गले काटने पड़ें, येन केन प्रकारेण वह सुन्दर भवन बनाने के लिए जुट जाता है। सारांश यह है कि देह-रूपी घर की सेवा करने में, उसे अच्छे-से-अच्छा खिलाने-पिलाने में, मनुष्य अपना अनमोल नर-जन्म नष्ट कर डालता है। घर की सार सँभाल रखना, उसकी रक्षा करना, यह घरवाले का आवश्यक कर्त्तव्य है; परन्तु यह तो नहीं होना चाहिए कि घर के पीछे घरवाला अपने आपको ही भुला डाले, बरबाद कर डाले। भला, जो शरीर अन्त में पचास-सौ वर्ष के बाद एक दिन अवश्य ही अपने को छोड़ने वाला है, उसकी इतनी गुलामी क्यों? आश्चर्य होता है, मनुष्य की इस मूर्खता पर! जो शरीर-रूपी घर में रहता है, जो शरीर-रूपी घर का स्वामी है, जो शरीर से पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा; उस अजर, अमर, अनन्त शक्तिशाली आत्मा की कुछ भी सार-सँभाल नहीं करता। बहुत-सी बार तो उसे, देह के अन्दर कौन रह रहा है, इतना भी भान नहीं रहता। अतः शरीर को ही 'मैं' कहने लग जाता है। देह के जन्म को अपना जन्म, देह के बुढ़ापे को अपना बुढ़ापा, देह की आधि-व्याधि को अपनी आधि-व्याधि, देह की मृत्यु को अपनी मृत्यु समझ बैठता है, और काल्पनिक विभीषिकाओं के कारण रोने-धोने लगता है। शास्त्रकार इस प्रकार के भौतिक विचार रखने वाले देहात्मवादी को बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्या संकल्प, मनुष्य को अपने वास्तविक अन्तर्जगत की ओर अर्थात् चैतन्य की ओर झाँकने नहीं देते, हमेशा बाह्य जगत् के भौतिक भोग-विलास की ओर ही, उसे उलझाये रखते हैं। केवल बाह्य जगत् का द्रष्टा

मनुष्य, आकृति-मात्र से मनुष्य है, परन्तु उसमें मोक्ष-साधक मनुष्यत्व नहीं।

आत्मदर्शन

*

मनुष्य-जीवन का दूसरा पहलू अन्दर की ओर झाँकना है। अन्दर की ओर झाँकने का अर्थ यह है कि मनुष्य देह और आत्मा को पृथक्-पृथक् वस्तु समझता है, जड़ जगत् की अपेक्षा चैतन्य को अधिक महत्त्व देता है, और भोग-विलास की ओर से आँखें बन्द करके अन्तर् में रमे हुए आत्मतत्त्व को देखने का प्रयत्न करता है। शास्त्र में उक्त जीवन को अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि का नाम दिया गया है। मनुष्य के जीवन में मनुष्यत्व की भूमिका यहीं से शुरू होती है। अधोमुखी जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त और कौन है? यही वह भूमिका है, जहाँ अनादिकाल के अज्ञान-अन्धकाराच्छन्न जीवन में सर्वप्रथम सत्य की सुनहली किरण प्रस्फुटित होती है।

पाठकों ने समझ लिया होगा कि मनुष्य और मनुष्यत्व में क्या अन्तर है? मनुष्यशरीर का होना दुर्लभ है, या मनुष्यत्व का होना? सम्यग्दर्शन मनुष्यत्व की पहली सीढ़ी है। इस पर चढ़ने के लिए अपने-आपको कितना बदलना होता है, यह अभी ऊपर की पंक्तियों में लिख आया हूँ। वकील, बैरिस्टर, जज या डाक्टर आदि की अनेक कठिन-से-कठिन परीक्षाओं में तो प्रतिवर्ष हजारों, लाखों व्यक्ति उत्तीर्ण होते हैं; परन्तु मनुष्यत्व की परीक्षा में, समग्र जीवन काल में भी, उत्तीर्ण होने वाले कितने मनुष्य हैं? मनुष्यत्व की सच्ची शिक्षा देने वाले स्कूल, कालेज, विद्यामन्दिर तथा पाठ्यपुस्तकें आदि भी कहाँ हैं? मनुष्याकृति में घूमते-फिरते करोड़ों मनुष्य दृष्टि-गोचर होते हैं, परन्तु आकृति के अनुरूप हृदय वाले एवं मनुष्यता की सुगन्ध से हर क्षण सुगन्धित जीवन रखने वाले मनुष्य गिनती के ही होंगे। मनुष्यत्व से रहित मनुष्य-जीवन, पशु पक्षियों से भी गया-गुजरा होता है। अज्ञानी पशु तो घी, दूध तथा भारवहन आदि सेवाओं के द्वारा मानवसमाज का थोड़ा-बहुत उपकार करते भी रहते हैं; परन्तु मनुष्यता-शून्य मनुष्य तो अन्याय एवं अत्याचार का चक्र चलाकर स्वर्गोपम दिव्य संसार को सहसा नरक का नमूना बना डालता है। अस्तु, धन्य हैं वे

आत्माएँ, जो सत्यासत्य का विवेक प्राप्त कर अपने जीवन में मनुष्यता का विकास करते हैं जो कर्म-बन्धनों को काट कर पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता स्वयं प्राप्त करते हैं और दूसरों को भी प्राप्त कराते हैं, जो हमेशा करुणा की अमृत-धारा से परिप्लावित रहते हैं, और समय आने पर संसार की भलाई के लिए अपना तन-मन-धन आदि सर्वस्व निछावर कर डालते हैं, अतएव उनका जीवन यत्र-तत्र-सर्वत्र उन्नत-ही उन्नत होता जाता है, पतन का कहीं नाम ही नहीं मिलता।

हाँ, तो जैन-धर्म मनुष्य-शरीर की महिमा नहीं गाता है, वह महिमा गाता है, मनुष्यत्व की। भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में यही कहा है—

"माणुस्सं खु सुदुल्लहं।" —उत्तराध्ययन २०।११

अर्थात् 'मनुष्यो ! मनुष्य होना बड़ा कठिन है।' भगवान् की वाणी का आशय यही है कि मनुष्य का शरीर तो कठिन नहीं, वह तो अनन्त बार मिला है और मिल जाएगा; परन्तु आत्मा में मनुष्यता का प्राप्त होना ही दुर्लभ है। भगवान ने अपने जीवन-काल में भारतीय जनता के इसी सुप्त मनुष्यत्व को जगाने का प्रयत्न किया था। उनके सभी प्रवचन मनुष्यता की ज्योति से जगमगा रहे हैं। अब आप यह देखिए कि भगवान् मनुष्यत्व के विकास का किस प्रकार वर्णन करते हैं। * * *

४ ‖ मनुष्यत्व का विकास

जैन-धर्म के अनुसार मनुष्यत्व की भूमिका चतुर्थ गुणस्थान अर्थात् सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होती है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—'सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठ !' हाँ, तो सम्यग्दर्शन मानव-जीवन की बहुत बड़ी विभूति है, बहुत बड़ी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति है ! अनादि काल से अज्ञान-अन्धकार में पड़े हुए मानव को सत्य सूर्य का प्रकाश मिल जाना कुछ कम महत्व की चीज नहीं है। परन्तु मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। अकेला सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्दर्शन का सहचारी सम्यग्ज्ञान—सत्य की अनुभूति, आत्मा को मोक्ष-पद नहीं दिला सकते, कर्मों के बन्धन से पूर्णतया नहीं छुड़ा सकते। मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल सत्य का ज्ञान अथवा सत्य का विश्वास कर लेना ही पर्याप्त नहीं है; इसके साथ सत्य के सम्यग् आचरण की भी बड़ी भारी आवश्यकता है।

ज्ञान और क्रिया

*

जैन-धर्म का ध्रुव सिद्धान्त है—

नाणकिरियाहिं मोक्खो

—विशेषा० भा० गा० ३

अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों मिलकर ही आत्मा को मोक्ष-पद का अधिकारी बनाते हैं। भारतीय दर्शनों में न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि कितने ही दर्शन केवल ज्ञान-मात्र से मोक्ष मानते हैं; जबकि

मीमांसक आदि दर्शन केवल आचार—क्रियाकाण्ड से ही मोक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु, जैनधर्म ज्ञान और क्रिया दोनों के संयोग से मोक्ष मानता है, किसी एक से नहीं। यह प्रसिद्ध बात है कि रथ के दो चक्रों में से यदि एक चक्र न हो तो रथ की गति नहीं हो सकती। और एक चक्र छोटा हो तब भी रथ की गति भली-भाँति नहीं हो सकती। एक पाँख से कोई भी पक्षी आकाश में नहीं उड़ सकता है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट बतलाया है कि 'यदि तुम्हें मोक्ष की सुदूर भूमिका तक पहुँचना है, तो अपने जीवनरथ में ज्ञान और सदाचरण-रूप दोनों ही चक्र लगाने होंगे। केवल लगाने ही नहीं, दोनों चक्रों में से किसी एक को मुख्य या गौण बना कर भी काम नहीं चल सकेगा; ज्ञान और आचरण दोनों को ठीक बराबर सुदृढ़ रखना होगा। ज्ञान और क्रिया की दोनों पाँखों के बल पर ही, यह आत्म-पक्षी, निःश्रेयस की ओर ऊर्ध्वगमन कर सकता है!"

जीवन के चार प्रकार

*

स्थानांग-सूत्र (४) में प्रभु महावीर ने चार प्रकार के मानव-जीवन बतलाए हैं—

(१) एक मानव-जीवन वह है जो सदाचार के स्वरूप को तो पहचानता है, परन्तु सदाचार का आचरण नहीं करता।

(२) दूसरा वह है, जो सदाचार का आचरण तो अवश्य करता है, परन्तु सदाचार का स्वरूप भली-भाँति नहीं जानता। आँखें बन्द किए गति करता है।

(३) तीसरा वह व्यक्ति है, जो सदाचार के रूप को यथार्थ रूप से जानता भी है और तदनुसार आचरण भी करता है।

(४) चौथी श्रेणी का वह जीवन है, जो न तो सदाचार का स्वरूप ही जानता है और न सदाचार का कभी आचरण ही करता है। वह लौकिक भाषा में अन्धा भी है, और पद-हीन पंगु भी।

उक्त चार विकल्पों में से केवल तीसरा विकल्प ही, जो सदाचार को जानने और आचरण करने रूप है; मोक्ष की साधना को सफल बनाने वाला है। आध्यात्मिक जीवन-यात्रा के लिए ज्ञान के नेत्र और आचरण के पैर अतीव आवश्यक हैं।

सर्व और देश चारित्र

*

जैनदर्शन की परिभाषा में आचरण को 'चारित्र' कहते हैं। चारित्र का अर्थ है—संयम, वासनाओं का—भोगविलासों का त्याग, इन्द्रियों का निग्रह, अशुभ से निवृत्ति, और शुभ में—शुद्ध में प्रवृत्ति।

चारित्र के मुख्यतया दो भेद माने गए हैं—'सर्व' और 'देश'। अर्थात् पूर्ण रूप से त्याग-वृत्ति सर्व-चारित्र है और अल्पांश में अर्थात् अपूर्ण-रूप से त्याग-वृत्ति, देश-चारित्र है। सर्वांश में त्याग महाव्रत-रूप होता है—अर्थात् हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का सर्वथा प्रत्याख्यान साधुओं के लिए होता है। और, अल्पांश में अमुक सीमा तक हिंसा आदि का त्याग गृहस्थ के लिए माना गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में मुनि-धर्म का वर्णन करना हमें अभीष्ट नहीं है। अतः सर्व-चारित्र का वर्णन न करके देश-चारित्र का यानी गृहस्थ-धर्म का ही हम वर्णन करेंगे। भूमिका की दृष्टि से भी गृहस्थ-धर्म का वर्णन प्रथम अपेक्षित है। गृहस्थ, जैनतत्वज्ञान में वर्णित गुणस्थानों के अनुसार आत्मविकास की पंचम भूमिका पर है, और मुनि छठी भूमिका पर।

विकास की प्रथम श्रेणी : श्रावकधर्म

*

जैनागमों में गृहस्थ अर्थात् श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन किया गया है। उनमें पाँच अणुव्रत होते हैं। 'अणु' का अर्थ 'छोटा' होता है, और व्रत का अर्थ 'प्रतिज्ञा' है। साधुओं के महाव्रतों की अपेक्षा गृहस्थों के हिंसा आदि के त्याग की प्रतिज्ञा मर्यादित होती है, अतः वह 'अणु व्रत' है। तीन गुण-व्रत होते हैं। गुण का अर्थ है—विशेषता। अस्तु, जो नियम पाँच अणु-व्रतों में विशेषता उत्पन्न करते हैं, अणु-व्रतों के पालन में उपकारक एवं सहायक होते हैं, वे 'गुण-व्रत' कहलाते हैं। चार शिक्षा व्रत हैं। शिक्षा का अर्थ शिक्षण अर्थात् अभ्यास है। जिनके द्वारा धर्म की शिक्षा ली जाय, धर्म का अभ्यास किया जाय, वे प्रतिदिन अभ्यास करने के योग्य नियम 'शिक्षा-व्रत' कहे जाते हैं।

पाँच अणुव्रत

*

(१) **स्थूल प्राणातिपात विरमण**—विना किसी अपराध के व्यर्थ ही जीवों को मारने के विचार से, प्राण-नाश करने के संकल्प से मारने का त्याग। मारने में किसी प्राणी का नाश या कष्ट देना भी सम्मिलित है। इतना ही नहीं, अपने आश्रित पशुओं तथा मनुष्यों को भूखा-प्यासा रखना, उनसे उनकी अपनी शक्ति से अधिक अनुचित श्रम लेना, किसी के प्रति दुर्भावना, डाह आदि रखना भी हिंसा ही है। अपराध करने वालों की दण्डस्वरूप हिंसा का और पृथ्वी, जल आदि स्थावर-जीवों की सूक्ष्म हिंसा का त्याग गृहस्थ जीवन में अशक्य है।

(२) **स्थूल मृषावाद विरमण**—सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय एवं दूसरे जीवों को किसी भी प्रकार के कष्ट पहुँचाने वाले झूठ का त्याग। झूठी गवाही, झूठी दस्तावेज, किसी के गुप्त मर्म का प्रकाशन, झूठी सलाह, फूट डलवाना एवं वर कन्या-सम्बन्धी और भूमि-सम्बन्धी मिथ्या भाषण आदि गृहस्थ के लिए अत्यधिक निषिद्ध माना गया है।

(३) **स्थूल अदत्तादान विरमण**—मोटी चोरी का त्याग। चोरी करने के संकल्प से किसी की विना आज्ञा चीज उठा लेना, चोरी है। इसमें किसी के घर में सेंध लगाना, दूसरी ताली लगाकर ताला खोल लेना, धरोहर मार लेना, चोर की चुराई हुई चीजें ले लेना, राष्ट्र द्वारा लगाई हुई चुंगी तथा कर आदि न देना, नाप-तोल में कम अधिक करना, असली वस्तु के स्थान पर नकली वस्तु दे देना आदि सम्मिलित हैं।

(४) **स्थूल मैथुन विरमण**—अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर अन्य किसी भी स्त्री से अनुचित सम्बन्ध न करना, मैथुन त्याग है। स्त्री के लिए भी अपने विवाहित पति को छोड़कर अन्य पुरुषों से अनुचित सम्वन्ध के त्याग करने का विधान है। अपनी स्त्री या अपने पति से भी अनियमित संसर्ग रखना, काम-भोग की तीव्र अभिलापा रखना, अनुचित कामोद्दीपक शृङ्गार करना आदि भी गृहस्थ ब्रह्मचारी के लिए दूषण माने गये हैं।

(५) **स्थूल परिग्रह विरमण (इच्छापरिमाण)**—गृहस्थ से धन का पूर्ण त्याग नहीं हो सकता। अतः गृहस्थ को चाहिए कि वह धन, धान्य, सोना, चांदी, घर, खेत, पशु आदि जितने भी पदार्थ हैं, अपनी आवश्यकतानुसार उनकी एक निश्चित मर्यादा कर ले। आवश्यकता से अधिक सग्रह करना पाप है। व्यापार आदि में यदि निश्चित मर्यादा से कुछ अधिक धन प्राप्त हो जाए तो उसको जनसेवा एवं परोपकार में खर्च कर देना चाहिए।

तीन गुण व्रत

*

(१) **दिग्व्रत**—पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में दूर तक जाने का परिमाण करना अर्थात् अमुक दिशा में अमुक प्रदेश तक इतनी दूर तक जाना, आगे नहीं। यह व्रत मनुष्य की लोभ-वृत्ति पर अंकुश रखता है, हिंसा आदि से बचाता है। मनुष्य व्यापार आदि के लिए दूर देशों में जाता है, तो वहाँ की प्रजा का शोषण करता है। जिस किसी भी उपाय से धन कमाना ही जब मुख्य हो जाता है, तो एक प्रकार से लूटने की मनोवृत्ति पैदा हो जाती है। अतएव जैन-धर्म का सूक्ष्म आचार-शास्त्र इस प्रकार की मनोवृत्ति में भी पाप देखता है। वस्तुतः पाप है भी। शोषण से बढ़कर और क्या पाप होगा? आज के युग में यह पाप बहुत बढ़ चला है। दिग्व्रत ही इस पाप से बचा सकता है। एकमात्र शोषण की भावना से न विदेशों में अपना माल भेजना चाहिए, और न विदेश का माल अपने देश में लाना चाहिए।

(२) **भोगोपभोग परिमाण व्रत**—जरूरत से ज्यादा भोगोपभोग सम्बन्धी चीजें काम में न लाने का नियम करना ही प्रस्तुत व्रत का अभिप्राय है। भोग का अर्थ एक ही बार काम में आने वाली वस्तु से है। जैसे—अन्न, जल, विलेपन आदि। उपभोग का अर्थ बार-बार काम में आने वाली वस्तु से है। जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण आदि। इस प्रकार अन्न, वस्त्र आदि भोग-विलास की वस्तुओं का आवश्यकता के अनुसार परिमाण करना चाहिए। साधक के लिए जीवन को भोग के क्षेत्र में सिमटा हुआ रखना अतीव आवश्यक है। अनियंत्रित जीवन पशु-जीवन होता है।

(३) **अनर्थदण्ड-विरमण व्रत**—बिना किसी प्रयोजन के व्यर्थ ही पापाचरण करना, अनर्थ दण्ड है। श्रावक के लिए इस प्रकार अशिष्ट

भाषण आदि का तथा किसी को चिढ़ाने आदि व्यर्थ का चेष्टाओं का त्याग करना आवश्यक है। कामवासना को उद्दीप्त करनेवाले सिनेमा देखना, गन्दे उपन्यास पढ़ना, गन्दा मजाक करना, व्यर्थ ही शस्त्रादि का संग्रह कर रखना आदि भी अनर्थ-दण्ड में सम्मिलित हैं।

चार शिक्षा व्रत

*

(१) **सामायिक व्रत**—दो घड़ी तक हिंसा, असत्य आदि के रूप में पापकारी व्यापारों का परित्याग कर समभाव में रहना सामायिक है। राग-द्वेष बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों का त्याग कर मोह-माया के दुःसंकल्पों को हटाना, सामायिक का मुख्य उद्देश्य है।

(२) **देशावकाशिक व्रत**—जीवन-भर के लिए स्वीकृत दिशा परिमाण में से तथा भोगोपभोग परिमाण में से और भी प्रतिदिन देशान्तर गमनादि एव भोगोपभोग की सीमा कम करते रहना, देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत का उद्देश्य जीवन को नित्य-प्रति इधर-उधर गमनादि की एवं भोगोपभोग की आसक्ति-रूप पाप-क्रियाओं से बचाकर रखना है।

(३) **पौषध व्रत**—एक दिन और एक रात के लिए अब्रह्मचर्य, पुष्पमाला आदि सचित्त, शरीरश्रृङ्गार, शस्त्र-धारण आदि सांसारिक पाप-युक्त प्रवृत्तियों को छोड़ कर, एकांत स्थान में साधु-वृत्ति के समान धर्म-क्रिया में आरूढ़ रहना, पौषध व्रत है। यह धर्म-साधना निराहार भी होती है, और शक्ति न हो, तो अल्प प्राशुक भोजन के द्वारा भी की जा सकती है। परिस्थिति के अनुसार एक अहोरात्र से कम समय में भी हो सकती है।

(४) **अतिथि संविभाग व्रत**—साधु, श्रावक आदि योग्य सदाचारी साधकों को शुद्ध आहार आदि का उचित दान करना ही प्रस्तुत व्रत का स्वरूप है। संग्रह ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। संग्रह के बाद यथावसर अतिथि की सेवा करना भी मनुष्य का महान् कर्तव्य है। अतिथि-संविभाग का एक लघु रूप, हर किसी अभावग्रस्त गरीब की अनुकम्पा-बुद्धि से योग्य सेवा करना भी है, यह ध्यान में रहना चाहिए।

विकास की दूसरी श्रेणी : साधुवर्ग

*

मनुष्यता के विकास की यह प्रथम श्रेणी पूर्ण होती है। दूसरी श्रेणी साधु-जीवन की है। साधु जीवन की श्रेणी, छठे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर तेरहवें गुणस्थान में केवल-ज्ञान प्राप्त करने पर अन्त में चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है। चौदहवें गुणस्थान की भूमिका तय करने के बाद कर्म-मल का प्रत्येक दाग साफ हो जाता है, आत्मा पूर्णतया शुद्ध, स्वच्छ एवं स्व-स्वरूप में स्थित हो जाता है; फलत: सदाकाल के लिए कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर, जन्म-जरा, मरण आदि के दु:खों से पूर्णतया छुटकारा पाकर मोक्ष-दशा को प्राप्त हो जाता है, परम—उत्कृष्ट आत्मा परमात्मा बन जाता है।

सामायिक का स्वरूप

*

हमारे पाठक अधिकांश अभी गृहस्थ हैं, अत: उनके समक्ष हमने साधु-जीवन की भूमिका की बात न करके पहले उनकी ही भूमिका का स्वरूप रखा है। आपने देख लिया है कि गृहस्थ-धर्म के बारह व्रत हैं। सभी व्रत अपनी-अपनी मर्यादा में उत्कृष्ट हैं। परन्तु, यह स्पष्ट है कि नौवें सामायिक व्रत का महत्व सबसे महान् माना गया है। सामायिक का अर्थ 'सम-भाव' है। अत: सिद्ध है कि जब तक हृदय में 'सम-भाव' न हो, राग-द्वेष की परिणति कम न हो, तब तक उग्र-तप एवं जप आदि की साधना कितनी ही क्यों न की जाए, उससे आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती। वस्तुत: समस्त व्रतों में सामायिक ही मोक्ष का प्रधान अंग है। अहिंसा आदि ग्यारह व्रत इसी समभाव के द्वारा जीवित रहते हैं। वस्तुत: अहिंसा आदि सभी व्रत सामायिक स्वरूप ही हैं। गृहस्थ-जीवन में प्रति-दिन अभ्यास की दृष्टि से दो घड़ी तक यह सामायिक व्रत किया जाता है। आगे चलकर मुनि-जीवन में यह यावज्जीवन के लिए धारण कर लिया जाता है। अत: पंचम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक एकमात्र सामायिक व्रत की ही साधना की जाती है। मोक्ष-अवस्था में, जबकि साधना समाप्त होती है, समभाव पूर्ण हो जाता है। और, इस समभाव के पूर्ण हो जाने का नाम ही मोक्ष है। यही कारण है कि प्रत्येक

तीर्थंकर मुनि-दीक्षा लेते समय सर्वप्रथम सामायिक साधना की प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं।*

और, केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद प्रत्येक तीर्थंकर सर्व-प्रथम जनता को इसी महान् व्रत का उपदेश करते हैं—

सामाइयाइया वा वयजीवाणिकाय भावणा पढमं।
एसो धम्मोवाओ जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो।

—आवश्यक-निर्युक्ति २७१

सामायिक को चौदह पूर्व का सारभूत (पिंड) बतलाते हुए आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण कहते हैं—

"सामाइयं संखेवो चोद्दसपुव्वत्थ पिंडो त्ति"

—विशे० भा० गा० २७९६

जैन जगत् के ज्योतिर्धर विद्वान् श्री यशोविजयजी सामायिक को संपूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी का रहस्य बताते हुए यही बात इस प्रकार कहते हैं—

"सकलद्वादशाङ्गोपनिपद्भूतसामायिकसूत्रवत्"

—तत्त्वार्थ-टीका, प्रथम अध्याय

अस्तु, मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिए सामायिक एक सर्वोच्च साधन है। अतः हम पाठकों के समक्ष प्रस्तुत सामायिक के शुद्ध स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। * * *

सामाइयभावपरिणइ भावाओ जीव एव सामाइयं।

—आ० नि० २६३६

सामायिक क्या है ? आत्मा की स्वभाव-परिणति ! इस दृष्टि से आत्मा (जीव) ही सामायिक है। * * *

---

*सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं त्ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ।

५ सामायिक : एक विश्लेषण

सामायिक का शब्दार्थ

*

सामायिक शब्द का अर्थ बड़ा ही विलक्षण है। व्याकरण के नियमानुसार प्रत्येक शब्द का भाव उसी में अन्तर्निहित रहता है। अतएव सामायिक शब्द का गंभीर एवं उदार भाव भी उसी शब्द में छुपा हुआ है। हमारे प्राचीन जैनाचार्य हरिभद्र, मलयगिरि आदि ने भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों के द्वारा, वह भाव, संक्षेप में इस भाँति प्रकट किया है—

(१) **समो—रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, इण् गतौ, अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः—समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः, समाय एव सामायिकम्।**[1]

रागद्वेष में मध्यस्थ रहना 'सम' है, सम—अर्थात् माध्यथ्य-भावयुक्त साधक की मोक्षाभिमुखी प्रवृत्ति सामायिक है।[2]

(२) **"समानि-ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु अयनं गमनं समायः, स एव सामायिकम्"**[3] मोक्ष मार्ग के साधन ज्ञान, दर्शन और

---

१. आवश्यक मलयगिरीवृत्ति, गा० ८५४।

२. तुलना कीजिए विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं से—

रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं अयो त्ति गमणं ति।
समगमणं ति समाओ स एव सामाइयं नाम ॥३४७७॥

३. अहवा समाइं सम्मत्त-नाण चरणाइं तेसु तेहिं वा।
अयणं अओ समाओ स एव सामाइयं नाम ॥३४७६॥

चारित्र 'सम' कहलाते हैं; उनमें अयन यानी प्रवृत्ति करना सामायिक है।

(३) 'सर्वजीवेषु मैत्री साम, साम्नो आयः=लाभः सामायः, स एव सामायिकम्।'[1] सब जीवों पर मैत्रीभाव रखने को 'साम' कहते हैं, :अत साम का लाभ जिससे हो, वह सामायिक है।

(४) 'समः सावद्ययोगपरिहारनिरवद्योगानुष्ठानरूपजीव - परिणामः तस्य आयः=लाभः समायः, स एव सामायिकम्।'[2] सावद्य योग अर्थात् पापकार्यों का परित्याग और निरवद्ययोग अर्थात् अहिंसा, दया समता आदि कार्यों का आचरण, ये दो जीवात्मा के शुद्ध स्वभाव 'सम' कहलाते हैं। उक्त 'सम' की जिसके द्वारा प्राप्ति हो, वह सामायिक है।

(५) 'सम्यक् शब्दार्थः समशब्दः सम्यगयनं वर्तनम् समयः, स एव सामायिकम्।'[3] 'सम' शब्द का अर्थ अच्छा है और अयन का अर्थ आचरण है। अस्तु, श्रेष्ठ आचरण का नाम भी सामायिक है।

(६) 'समये कर्त्तव्यम् सामायिकम्।' अहिंसा आदि की जो उत्कृष्ट साधना समय पर की जाती है, वह सामायिक है। उचित समय पर करने योग्य आवश्यक कर्तव्य को सामायिक कहते हैं। यह अन्तिम व्युत्पत्ति हमें सामायिक के लिए नित्यप्रति कर्तव्य की भावना प्रदान करती है।

ऊपर शब्द-शास्त्र के अनुसार भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट किए गए हैं; परन्तु जरा सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करेंगे, तो मालूम होगा कि सभी व्युपत्तियों का भाव एक ही है, और वह है 'समता।' अतएव एक शब्द में कहना चाहें, तो 'समता' का नाम सामायिक है। राग-द्वेष के प्रसंगों में विषम न होना, अपने आत्म-स्वभाव में 'सम' रहना ही, सच्चा सामायिक व्रत है।

---

१. अहवा सामं मित्ती तत्थ अओ तेण वत्ति सामाओ।
अहवा सामस्साओ लाओ सामाइयं नाम ॥३४८१॥

२. अहवा समस्स आओ गुणाणलाभो त्ति जो समाओ सो ॥३४८०॥

३. सम्ममओ वा समओ सामाइयमुभय विद्धि भावाओ।
अहवा सम्मस्साओ लाभो सामाइयं होइ ॥३४८२॥

सामायिक का रूढ़ार्थ

*

शब्दार्थ के अतिरिक्त शब्द का रूढ़ अर्थ भी हुआ करता है। वर्तमान में प्रचलित प्रत्येक धार्मिक-क्रिया का जो रूढ़ार्थ है, वह ऊपर से तो बहुत संक्षिप्त, सीमित एवं स्थूल मालूम होता है; परन्तु उसमें रहा हुआ आशय, हेतु या रहस्य बहुत ही गंभीर, विस्तृत एवं विचारपूर्वक मनन करने योग्य होता है।

सामायिक की क्रिया, जो एक बहुत ही पवित्र एवं विशुद्ध क्रिया है, उसका रूढ़ार्थ यह है कि—'एकान्त स्थान में शुद्ध आसन बिछाकर शुद्ध वस्त्र अर्थात् अल्प हिंसा से बना हुआ, सादा (रंग-बिरंगा, भड़कीला नहीं) खादी आदि का वस्त्र-परिधान कर, दो घड़ी तक 'करेमि भंते' के पाठ से सावद्य व्यापारों का परित्याग कर, सांसारिक झंझटों से अलग होकर, अपनी योग्यता के अनुसार अध्ययन, चिंतन, ध्यान, जप, धर्म-कथा आदि करना सामायिक है।'

क्या ही अच्छा हो, शब्दार्थ रूढ़ार्थ से और रूढ़ार्थ शब्दार्थ से मिल जाय! सोने में सुगन्ध हो जाय!

सामायिक का लक्षण

*

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभ-भावना।
आर्तरौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

'सब जीवों पर समता—समभाव रखना, पाँच इन्द्रियों का संयम-नियंत्रण करना, अन्तर्हृदय में शुभ भावना—शुभ संकल्प रखना, आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों का त्याग कर धर्मध्यान का चिन्तन करना सामायिक व्रत है।'

ऊपर के श्लोक में सामायिक का पूर्ण लक्षण वर्णन किया गया है। यदि अधिक दौड़-धूप में न पड़कर, मात्र प्रस्तुत श्लोक पर ही लक्ष्य रक्खा जाए और तदनुसार जीवन बनाया जाए, तो सामायिक-व्रत की आराधना सफल हो सकती है।

समता

*

सामायिक का मुख्य लक्षण 'समता' है।[१] समता का अर्थ है—मन की स्थिरता, रागद्वेष का उपशमन समभाव, एकीभाव, सुख-दुःख में निश्चलता इत्यादि। समता, आत्मा का स्वरूप है, और विषमता पर-स्वरूप, यानी कर्मों का स्वरूप। अतएव समता का फलितार्थ यह हुआ कि कर्म-निमित्त से होने वाले राग आदि विपम भावों की ओर से आत्मा को हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना ही 'समता' है।

उक्त 'समता' लक्षण ही सामायिक का एक ऐसा लक्षण है, जिसमें दूसरे सब लक्षणों का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार पुष्प का सार गन्ध है, दुग्ध का सार घृत है, तिल का सार तेल है, इसी प्रकार जिन-प्रवचन का सार 'समता' है। यदि साधक होकर भी समता की उपासना न कर सका, तो फिर कुछ भी नहीं। जो साधक भोग-विलास की लालसा में अपनेपन का भान खो वैठता है, माया की छाया में पागल हो जाता है, दूसरों की उन्नति देखकर डाह से जल-भुन जाता है, मान-सम्मान की गन्ध से गुदगुदा जाता है, जरा से अपमान से तिलमिला उठता है, हमेशा वैर, विरोध, दंभ, विश्वासघात आदि दुर्गुणों के जाल में उलझा रहता है, वह समता के आदर्श को किसी भी प्रकार नहीं पा सकता। कपड़े उतार डाले, आसन बिछाकर वैठ गये, मुखवस्त्रिका बांध ली, एक दो स्तोत्र के पाठ पढ़ लिए; इसका नाम सामायिक नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं—"साधना करते-करते अनन्त जन्म बीत गए, मुखवस्त्रिका के हिमालय जितने ढेर लगा दिए; फिर भी आत्मा का कुछ कल्याण नहीं हुआ।" क्यों नहीं हुआ? समता के विना सामायिक निष्प्राण जो है।

सच्चे साधक का स्वरूप कुछ और ही होता है। वह समता के गम्भीर सागर में इतना गहरा उतर जाता है कि विषमता की ज्वालाएँ उसके पास तक नहीं फटक सकतीं। कोई निन्दा करे या प्रशंसा, गाली दे या धन्यवाद, ताडन-तर्जन करे या सत्कार; परन्तु

---

१. सामाइयंति समभावलक्खणं। —विशेपा० भा० गा० ९०५

अपने मन में किसी भी प्रकार का विषम-भाव न लावे, रागद्वेष न होने दे, किसी को प्रिय-अप्रिय न माने, हृदय में हर्ष-शोक न होने दे। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों को समान माने, दुःख से छूटने के लिए या सुख प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का अनुचित प्रयत्न न करे, संकट आ पड़ने पर अपने मन में यह विचार करे कि "ये पौद्गलिक संयोग-वियोग आत्मा से भिन्न हैं। इन संयोग-वियोगों से न तो आत्मा का हित ही हो सकता है, और न अहित ही।"

जो साधक उक्त पद्धति से समभाव में स्थिर रहता है, दो घड़ी के लिए जीवन-मरण तक की समस्याओं से अलग हो जाता है, वही साधक समता का सफल उपासक होता है, उसी की सामायिक विशुद्धता की ओर अग्रसर होती है।

प्राचीन आगम अनुयोगद्वार-सूत्र में तथा आचार्य भद्रबाहु कृत आवश्यक निर्युक्ति में 'समभाव' रूप सामायिक का क्या ही सुन्दर वर्णन किया गया है—

> जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
> तस्स सामाइयं होइ; इइ केवलि-भासियं ॥[1]
>
> —आव० नि० ॥७९९॥

—जो साधक त्रस-स्थावर-रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है उसी की सामायिक शुद्ध होती है—ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

> जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे।
> तस्स सामाइयं होइ; इइ केवलि-भासियं ॥[2]
>
> —आव० नि० ॥७९८॥

—जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में संलग्न हो जाती है; उसी की सामायिक शुद्ध होती है—ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

---

१. (क) अनुयोग द्वार १२८
   (ख) नियमसार १२६

२. (क) अनुयोग द्वार १२७
   (ख) नियमसार १२७

आचार्य हरिभद्र पंचाशक में लिखते हैं—

समभावो सामाइयं,
तण-कंचण सत्तु मित्त विसओ त्ति ।
णिरभिस्संगं चित्तं ;
उचिय पवित्तिप्पहाणं च ॥११।५॥

चाहे तिनका हो, चाहे सोना, चाहे शत्रु हो, चाहे मित्र, सर्वत्र अपने मन को राग-द्वेष की आसक्ति से रहित रखना तथा पाप-रहित उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना, सामायिक है ; क्योंकि 'समभाव' ही तो सामायिक है। * * *

सावद्यकर्ममुक्तस्य दुर्ध्यानरहितस्य च ।
समभावो मुहूर्ततद्-व्रतं सामायिकाह्वयम् ।

—धर्म० अधि० ३७

आर्त रौद्र आदि दुर्ध्यानों से रहित तथा सावद्य कर्म से मुक्त होकर मुहुर्त भर तक जो समभाव की आराधना की जाती है—वह सामायिक व्रत कहलाता है। * * *

६ सामायिक : द्रव्य और भाव

जैन-धर्म में प्रत्येक वस्तु का द्रव्य और भाव की दृष्टि से बहुत गंभीर विचार किया जाता है। अतएव सामायिक के लिए भी प्रश्न होता है कि द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक का स्वरूप क्या है ?

द्रव्य सामायिक

*

द्रव्य का अभिप्राय यहाँ ऊपर के विधि-विधानों तथा साधनों से है। अतः सामायिक के लिए आसन-बिछाना, रजोहरण या पूंजणी रखना, मुखवस्त्रिका[1] बांधना, गृहस्थ वेष के कपड़े उतारना, माला फेरना आदि द्रव्य सामायिक है। द्रव्य सामायिक का वर्णन द्रव्य-शुद्धि, क्षेत्र -शुद्धि आदि के वर्णन में अच्छी तरह किया जाने वाला है।

भाव सामायिक

*

भाव का अभिप्राय यहाँ अन्तर्हृदय के भावों और विचारों से है। अर्थात् राग-द्वेष से रहित होने के भाव रखना, राग-द्वेष से रहित

---

१. श्वेताम्बर संप्रदाय के दो भाग हैं—स्थानकवासी और मूर्तिपूजक। स्थानकवासी समाज में मुख पर मुखवस्त्रिका बांधने की परंपरा है, और मूर्तिपूजक समाज में मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने की प्रथा है। हां, बोलते समय यतना के लिए मुख पर लगाने का विधान उनके यहाँ भी है। दिगम्बर जैन परम्परा में तो आजकल सामायिक की प्रथा ही नहीं है। उनके यहाँ सामायिक के लिए एक पाठ बोला जाता है और मुखवस्त्रिका का कोई विधान नहीं है।

होने के लिए प्रयत्न करना, यथाशक्ति राग-द्वेष से रहित होते जाना, भाव सामायिक है। उक्त भाव को जरा दूसरे शब्दों में कहें, तो यों कह सकते हैं कि बाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि के द्वारा आत्म-निरीक्षण में मन को जोड़ना, विषमभाव का त्यागकर समभाव में स्थिर होना, पौद्गलिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझ कर उनसे ममत्व हटाना एवं आत्मस्वरूप में रमण करना 'भाव सामायिक' है।

द्रव्य और भाव का सामंजस्य

*

ऊपर द्रव्य और भाव का जो स्वरूप व्यक्त किया गया है, वह काफी ध्यान देने योग्य है। आजकल की जनता, द्रव्य तक पहुँच कर ही थक कर बैठ जाती है, भाव तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करती। यह माना कि द्रव्य भी एक महत्वपूर्ण साधना है; परन्तु अन्ततोगत्वा उसका सार भाव के द्वारा ही तो अभिव्यक्त होता है! भाव-शून्य द्रव्य, केवल मिट्टी के ऊपर रुपये की छाप है। अतः वह साधारण बालकों में रुपया कहला कर भी बाजार में कीमत नहीं पा सकता। द्रव्य-शून्य भाव, रुपये की छाप से रहित केवल चांदी है। अतः वह कीमत तो रखती है; परन्तु रुपये की तरह सर्वत्र निराबाध गति नहीं पा सकती। चांदी भी हो और रुपये की छाप भी हो; तब जो चमत्कार आता है, वही चमत्कार द्रव्य और भाव के मेल से साधना में पैदा हो जाता है। अतः द्रव्य के साथ-साथ भाव का भी विकास करना चाहिए, ताकि आध्यात्मिक जीवन भली-भांति उन्नत बन सके, मोक्ष की ओर गति-प्रगति कर सके।

बहुत से सज्जन कहते हैं कि भाव सामायिक का पूर्णतया पालन तो सर्वथा पूर्णवीतराग गुणस्थानों में ही हो सकता है, पहले नहीं। पहले तो राग-द्वेष के विकल्प उठते रहते ही हैं, क्रोध, मान; माया, लोभ का प्रभाव बहता ही रहता है। पूर्ण वीतराग जीवन्मुक्त आत्मा से नीचे की श्रेणी के आत्मा, भाव सामायिक की ऊंची चट्टान पर हरगिज नहीं पहुँच सकते। अतः जबकि भावरूप शुद्ध सामायिक हम कर ही नहीं सकते, तो फिर द्रव्य सामायिक भी क्यों करें? उससे हमें क्या लाभ?

उक्त विचार के समाधान में कहना है कि द्रव्य, भाव का

साधन है। यदि द्रव्य के साथ भाव का ठीक-ठीक सामंजस्य न भी बैठ सके, तो भी कोई आपत्ति नहीं। अभ्यास चालू रखना चाहिए। अशुद्ध करने वाले किसी दिन शुद्ध भी करने के योग्य हो जायेंगे। परन्तु, जो बिलकुल ही नहीं करने वाले हैं; वे क्यों कर आगे बढ़ सकेंगे? उन्हें तो कोरा ही रहना पड़ेगा न? जो अस्पष्ट बोलते हैं, वे बालक एक दिन स्पष्ट भी बोल सकेंगे, पर जन्म के मूक क्या करेंगे?

सामायिक शिक्षा व्रत है

*

भगवान् महावीर का आदर्श तो 'कडेमाणे कड़े' का है। जो मनुष्य साधना के क्षेत्र में चल पड़ा है, भले वह थोड़ा ही चला हो; परन्तु चलने वाला यात्री ही समझा जाता है। जो यात्री हजार मील लंबी यात्रा करने को चला हो, किन्तु अभी गांव के बाहर ही पहुँचा हो; फिर भी उसकी यात्रा का मार्ग तो कम हुआ? इसी प्रकार पूर्ण सामायिक करने की वृत्ति से यदि थोड़ा-सा भी प्रयत्न किया जाए; तब भी वह सामायिक के छोटे-से-छोटे अंश को अवश्य प्राप्त कर लेता है। आज थोड़ा तो कल और अधिक। बूंद-बूंद से सागर भरता है!

सामायिक शिक्षा व्रत है। आचार्य माणिक्यशेखरसूरी ने कहा है— शिक्षा नाम पुनः पुनरभ्यासः।

—आव० निर्यु० भा० ३ पृ० १८[1]

धर्माचरण के पुनः पुनः अभ्यास को शिक्षा कहा जाता है। उक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि सामायिक व्रत एक बार ही पूर्णतया अपनाया नहीं जा सकता। सामायिक की पूर्णता के लिए नित्य-प्रति दिन का अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास की शक्ति महान् है। बालक प्रारम्भ में ही वर्णमाला के अक्षरों पर अधिकार नहीं कर सकता। वह पहले, अष्टावक्र की भांति, टेढे-मेढे, मोटे-पतले अक्षर बनाता है। सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वथा हताश हो जाता है। परन्तु ज्यों ही वह आगे बढ़ता है, अभ्यास में प्रगति करता है तो बहुत सुन्दर लेखक बन जाता है। लक्ष्य-वेध करने वाला पहले

---

१. जैन ग्रन्थमाला गोपीपुरा, सूरत से प्रकाशित, विक्रमाब्द २००५।

ठीक तौर से लक्ष्य नहीं वेध सकता, आगा-पीछा-तिरछा हो जाता है; परन्तु निरन्तर के अभ्यास से हाथ स्थिर होता है, दृष्टि चौकस होती है, और एक दिन का अनाड़ी निशानेबाज़ अचूक शब्द-वेधी तक बन जाता है। यह ठीक है कि सामायिक की साधना बड़ी कठिन साधना है; सहज ही यह सफल नहीं हो सकती। परन्तु अभ्यास करिए, आगे बढ़िए, आपको साधना का उज्ज्वल प्रकाश एक-न-एक-दिन अवश्य जगमगाता नजर आएगा! एक दिन का साधना-भ्रष्ट मरीचि तपस्वी, कुछ जन्मों के बाद भगवान् महावीर के रूप में हिमालय-जैसा महान्, अटल, अचल, साधक बनता है और समभाव के क्षेत्र में एक महान् उच्च आदर्श उपस्थित करता है!! * * *

सामाइयमाहु तस्स जं
जो अप्पाणभए ण दंसए ॥

—सूत्र० १।२।१७

जो अपनी आत्मा को भय से मुक्त—अर्थात् निर्भयभाव में स्थापित करता है, वही सामायिक की साधना कर सकता है।

७ सामायिक की शुद्धि

संसार में काम करने का महत्त्व उतना नहीं है; जितना कि काम को ठीक ढंग से करने का महत्त्व है। यह न मालूम करो कि काम कितना किया ? बल्कि यह मालूम करो कि काम कैसा किया ? काम अधिक भी किया, परन्तु वह सुन्दर ढ़ंग से, जैसा चाहिए था वैसा न किया, तो एक तरह से कुछ भी न किया !

सामायिक के सम्बन्ध में यही बात है। सामायिक-साधना की महत्ता, मात्र जैसे-तैसे साधना का काल पूरा कर देना, एक सामायिक की बजाय चार-पाँच सामायिक कर लेना ही नहीं है। सामायिक की महत्ता इसमें है कि आपको सामायिक करते देखकर दर्शकों के हृदय में भी सामायिक के प्रति आदर्श श्रद्धा जागृत हों; वे लोग भी सामायिक करने के लिए उद्यत हों। आपका अपना आत्म-कल्याण तो होना ही चाहिए। वह क्रिया जो अपने और दूसरों के हृदय में कोई खास रसानुभूति न पैदा कर सके, वह साधना ही क्या ? वस्तुतः जीवित साधना ही साधना है, मृत-साधना का कोई मूल्य नहीं है !

चार प्रकार की शुद्धि

*

सामायिक करने के लिए सबसे पहले भूमिका की शुद्धि होना आवश्यक है। यदि भूमि शुद्ध होती है, तो उसमें बोया हुआ बीज भी फलदायक होता है। इसके विपरीत, यदि भूमि शुद्ध नहीं है, तो उसमें बोया हुआ बीज भी सुन्दर और सुस्वादु फल कैसे दे सकता है ? अस्तु, सामायिक के लिए भूमिका-स्वरूप

चार प्रकार की शुद्धि आवश्यक है—द्रव्य-शुद्धि, क्षेत्र-शुद्धि, काल-शुद्धि और भाव-शुद्धि। उक्त चार शुद्धियों के साथ की हुई सामायिक ही पूर्ण फलदायिनी होती है, अन्यथा नहीं। संक्षेप में चारों तरह की शुद्धि की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) **द्रव्य-शुद्धि**—सामायिक के लिए जो भी आसन, वस्त्र, रजोहरण या पूंजणी, माला, मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि द्रव्य-साधन आवश्यक हैं, उनका अल्पारंभ, अहिंसक एवं उपयोगी होना आवश्यक है। रजोहरण आदि उपकरण, जीवों की यतना (रक्षा) के उद्देश्य से ही रखे जाते हैं, इसलिए उपकरण ऐसे होने चाहिएं, जिनके उत्पादन में अधिक हिंसा न हुई हो, जो सौन्दर्य की बुद्धि से न रक्खे गये हों, संयम की अभिवृद्धि में सहायक हों, जिनके द्वारा जीवों की भली-भाँति यतना हो सकती हो।

कितने ही लोग सामायिक में कोमल रोयें वाले गुदगुदे आसन रखते हैं, अथवा सुन्दरता के लिए रंग-बिरंगे, फूलदार, आसन बना लेते हैं; परन्तु, इस प्रकार के आसनों की भली भांति प्रतिलेखना नहीं हो सकती। अतः आसन ऐसा होना चाहिए, जो रोयें वाला न हो, रंग-बिरंगा न हो, भड़कीला न हो, मिट्टी से भरा हुआ न हो; किन्तु स्वच्छ हो, साफ हो, श्वेत हो, सादा हो, जहां तक हो सके खादी का हो।

रजोहरण या पूंजणी भी योग्य होनी चाहिए, जिससे भली-भांति जीवों की रक्षा की जा सके। कुछ लोग ऐसी पूंजणियाँ रखते हैं, जो रेशम की वनी हुई होती हैं, जो मात्र शोभा-शृङ्गार के काम की चीज है, सुविधा-पूर्वक पूंजने की नहीं। पूंजने का क्या काम, प्रत्युत साधक उलटा और ममता के पाश में बँध जाता है! वह पूंजनी को सदा अधर-अधर रखता है, मलिनता के भय से जरा भी उपयोग में नहीं लाता।

सादगी और स्वच्छता

*

मुखवस्त्रिका की स्वच्छता पर भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता हैं। आजकल के सज्जन मुखवस्त्रिका इतनी गंदी, मलिन, एवं वेड़ौल रखते हैं कि जिससे जनता घृणा करने

लग जाती है। धर्म तो उपकरण की शुद्धता में है, उसका ठीक ढंग से उपयोग करने में है, उसे गंदा एवं बीभत्स रखने में नहीं। कुछ बहनें मुखवस्त्रिका को गहना ही बना कर रख देती हैं, गोटा लगाती हैं, सलमे से सजाती हैं, मोती जड़ती हैं; परन्तु ऐसा करना सामायिक के शान्त एवं ममताशून्य वातावरण को कलुषित करना है। अतः मुखवस्त्रिका का सादा और स्वच्छ होना आवश्यक है।

वस्त्रों का शुद्ध होना भी आवश्यक है। इस शुद्धता का अर्थ इतना ही है कि वस्त्र गंदे न हों, दूसरों को घृणा उत्पन्न करने वाले न हों, चटकीले-भड़कीले न हों, रंग बिरंगे न हों; किन्तु स्वच्छ हों, साफ हों, सादे हों।

माला भी कीमती न होकर सूत की या और कोई साधारण श्रेणी की हो, बहुमूल्य मोती आदि की माला ममता बढ़ाने वाली होती हैं। कभी-कभी ऐसी माला अहंकार आदि की अनुचित भावना को भी भड़का देती है। सूत आदि की माला भी स्वच्छ हो, गंदी न हो।

पुस्तकें भी ऐसी हों, जो भाव और भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों, आत्मज्योति को जागृत करने वाली हों, हृदय में से काम, क्रोध, मद, लोभ आदि की वासना क्षीण करने वाली हों, जिनसे किसी प्रकार का विकार एवं साम्प्रदायिक विद्वेष आदि न पैदा होता हो।

सामायिक में आभूषण आदि धारण करना भी ठीक नहीं है। जो गहने निकाले जा सकते हों, उन्हें अलग करके ही सामायिक करना ठीक है। अन्यथा ममता का पाश सदा लगा ही रहेगा, हृदय शान्त नहीं हो सकेगा। वस्त्र भी धोती और चादर आदि के अतिरिक्त और न होने चाहिए। सामायिक त्याग का क्षेत्र है। अतः उसमें त्याग का ही प्रतीक होना अत्यावश्यक है।

सामायिक-कालीन वेश-भूषा

*

यद्यपि सामायिक में 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'—'सावद्य यानी पाप-व्यापारों का परित्याग करता हूँ', उक्त प्रतिज्ञावाक्य में

पाप-कार्यों के त्याग का ही उल्लेख है, वस्त्र ग्रादि के त्याग का नहीं। परन्तु, हमारी प्राचीन परंपरा इसी प्रकार की है कि ग्रनुपयुक्त ग्रलंकार तथा गृहस्थवेषोचित पगड़ी, कुरता ग्रादि वस्त्रों का त्याग करना ही चाहिए, ताकि संसारी दशा से साधना-दशा की पृथक्ता मालूम हो, ग्रौर मनोविज्ञान की दृष्टि से धर्म-क्रिया का वातावरण ग्रपने-ग्रापको भी ग्रनुभव हो, तथा दूसरों की दृष्टि में भी सामायिक की महत्ता प्रतिभासित हो।

कुछ सज्जनों का कहना है कि 'सामायिक में कपड़े उतारने की कोई ग्रावश्यकता नहीं; क्योंकि सामायिक के पाठ में ऐसा कोई विधान नहीं है।' यह ठीक है कि पाठ में विधान नहीं है। परन्तु, सब विधान पाठ में ही हों, यह तो कोई नियम नहीं। कुछ ग्रन्य पाठों पर भी दृष्टि डालनी होती है, कुछ परंपरा की प्राचीनता भी देखनी होती है। उपासकदशांग-सूत्र में कुण्डकोलिक श्रावक के ग्रध्ययन में वर्णन ग्राया है कि "उसने नाम-मुद्रिका ग्रौर उत्तरीय ग्रलग पृथ्वी-शिला पट्ट पर रखकर भगवान् महावीर के पास स्वीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार की।"[1] यह धर्म-प्रज्ञप्ति सामायिक के सिवा ग्रौर कोई नहीं हो सकती। नाम-मुद्रिका ग्रौर उत्तरीय उतारने का क्या प्रयोजन? स्पष्ट ही उक्त पाठ सामायिक की ग्रोर संकेत करता है। इसके ग्रतिरिक्त, कपड़े उतारने की परंपरा भी बहुत प्राचीन है। इसके लिए ग्राचार्य हरिभद्र तथा ग्रभयदेव ग्रादि के ग्रन्थों का ग्रवलोकन करना चाहिए। ग्राचार्य हरिभद्र चूर्णि का पाठ उद्धृत करते हुए कहते हैं—

'सामाइयं कुणंतो मउडं ग्रवणेति, कुंडलाणि, णाममुद्दं, पुप्फ-तंबोलपावरगमादी वोसिरति।' —ग्रावश्यक-बृहद्वृत्तिः प्रत्याख्यान ६ ग्रध्ययन

ग्राचार्य ग्रभयदेव कहते हैं—

'स च किल सामायिकं कुर्वन् कुंडले, नाममुद्रां चापनयति, पुष्प-ताम्बूलप्रावरादिकं च व्युत्सृजतीत्येष विधिः सामायिकस्य।'

—पंचाशक-विवरण १

---

१. नाममुद्दगं उत्तरिज्जगं च पुढवीसिलापट्टए ठवेइ, ठवेइत्ता, समणस्स भगवग्रो महावीरस्स ग्रंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरति।

—उपासकदशांग, ग्रध्ययन ६

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि हमारी प्राचीन परंपरा, आज की नहीं, प्रत्युत हरिभद्र के समय से करीब बारह सौ वर्ष तो पुरानी है ही। हरिभद्र ने भी अपने समय में चली आई प्राचीन परंपरा का ही उल्लेख किया है, नवीन का नहीं। अतएव गृहस्थवेशोचित वस्त्र उतारना ही ठीक है। प्राचीनकाल में केवल धोती और दुपट्टा, ये दो ही वस्त्र धारण किये जाते थे; अतः अर्वाचीन पगड़ी, कोट, कुरता, पजामा आदि उतार कर सामायिक करने से हमारा ध्यान अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर भी उन्मुख होता है।

यह वस्त्र और गहना आदि का त्याग पुरुष-वर्ग के लिए ही विहित है। स्त्री-जाति के लिए ऐसा कोई विधान नहीं है। स्त्री की मर्यादा वस्त्र उतारने की स्थिति में नहीं है। अतएव वे वस्त्र पहने हुए ही सामायिक करें, तो कोई दोष नहीं है। जिन-शासन-का प्राण ही अनेकान्त है। प्रत्येक विधि-विधान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, व्यक्ति आदि को . लक्ष्य में रखकर अनेक रूप माना गया है।

हां, तो द्रव्य-शुद्धि पर अधिक बल देने का भाव यह है कि अच्छे-बुरे पुद्गलों का मन पर असर होता है। बाहर का वातावरण अन्दर के वातावरण को कुछ न कुछ प्रभाव में लेता ही है। अतः मन में अच्छे विचार एवं सात्विक भाव स्फुरित करने के लिए ऊपर की द्रव्य-शुद्धि साधारण साधक के लिए आवश्यक है। हालांकि निश्चय की दृष्टि से यह ऊपर का परिवर्तन कोई आवश्यक नहीं। निश्चय दृष्टि का साधक हर कहीं और हर किसी रूप में अपनी साधना कर सकता है। बाह्य वातावरण, उसे जरा भी क्षुब्ध नहीं कर सकता। वह नरक—जैसे वातावरण में भी स्वर्गीय वातावरण का अनुभव कर सकता है। उसका उच्च-जीवन किसी भी विधान के अथवा वातावरण के बन्धन में ही नहीं रहता। परन्तु, जब साधक इतना दृढ़ एवं स्थिर हो, तभी न? जब तक साधक पर बाहर के वातावरण का कुछ भी असर पड़ता है; तब तक वह जैसे चाहे वैसे ही अपनी साधना नहीं चालू रख सकता। उसे शास्त्रीय विधि-विधानों के पथ पर चलना ही आवश्यक है।

(२) क्षेत्र-शुद्धि—क्षेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहां साधक सामायिक करने के लिए बैठता है। क्षेत्र-शुद्धि का अभिप्राय यह है कि सामायिक करने का स्थान भी शुद्ध होना चाहिए। जिन स्थानों पर बैठने से विचारधारा टूटती हों, चित्त में चंचलता आती हों, अधिक स्त्री-पुरुष या पशु आदि का आवा-गमन अथवा निवास हों, लड़के और लड़कियां कोलाहल करते हों—खेलते हों, विषय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द कान में पड़ते हों, इधर-उधर दृष्टिपात करने से विकार पैदा होता हो, अथवा कोई क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो; ऐसे स्थानों पर बैठकर सामायिक करना ठीक नहीं है। आत्मा को उच्च दशा में पहुँचाने के लिए, अन्तर्हृदय में समभाव की पुष्टि करने के लिए क्षेत्र-शुद्धि सामायिक का एक अत्यावश्यक अंग है। अतः सामायिक करने के लिए वही स्थान उपयुक्त हो सकता है, जहां चित्त स्थिर रह सके, आत्मचिन्तन किया जा सके, और गुरुजनों के संसर्ग से यथोचित ज्ञान-वृद्धि भी हो सके।

सामायिक के योग्य स्थान

*

जहां तक हो सके, घर की अपेक्षा उपाश्रय में सामायिक करने का ध्यान रखना चाहिए। एक तो उपाश्रय का वातावरण गृहस्थी की झंझटों से बिलकुल अलग होता है। दूसरे, सहधर्मी भाइयों के परिचय से अपनी जैनसंस्कृति की महत्ता का ज्ञान भी होता है। उपाश्रय, ज्ञान के आदान-प्रदान का सुन्दर साधन है। उपाश्रय का शाब्दिक अर्थ भी सामायिक के लिए अधिक उपयुक्त है। उपाश्रय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है। उप=उत्कृष्ट, आश्रय=स्थान। अर्थात् मनुष्यों के लिए अपने घर आदि स्थान केवल आश्रय हैं; जबकि उपाश्रय इहलोक तथा परलोक दोनों प्रकार के जीवन को उन्नत बनाने वाला होने से एवं धर्म-साधना के लिए उपयुक्त स्थान होने से उत्कृष्ट आश्रय है।'

दूसरी व्युत्पत्ति है—'उप=उपलक्षण से आश्रय=स्थान।' अर्थात् निश्चयदृष्टि से आत्मा के लिए वास्तविक आश्रय—आधार वह स्वयं ही है, और कोई नहीं। परन्तु उक्त आत्म-स्वरूप आश्रय की प्राप्ति, व्यावहारिक दृष्टि से

धर्म-स्थान में ही घटित हो सकती है, अतः धर्म-स्थान उपाश्रय कहलाता है। तीसरी व्युत्पत्ति है—'उप=समीप में आश्रय=स्थान।' अर्थात् जहां आत्मा अपने विशुद्ध भावों के पास पहुँच कर आश्रय ले, वह स्थान। भाव यह है कि उपाश्रय में बाहर की सांसारिक गड़बड़ कम होती है, चारों ओर की प्रकृति शांत होती है, एकमात्र धार्मिक वातावरण की महिमा ही सम्मुख रहती है; अतः सर्वथा एकान्त, निरामय, निरुपद्रव एवं कायिक, वाचिक, मानसिक क्षोभ से रहित उपाश्रय सामायिक के लिए उपयुक्त माना गया है। यदि घर में भी ऐसा ही कोई एकान्त स्थान हो, तो वहां पर भी सामायिक की जा सकती है। शास्त्रकार का अभिप्राय शान्त और एकान्त स्थान से है, फिर वह कहीं भी मिले।

(२) काल-शुद्धि—काल का अर्थ समय है, अतः योग्य समय का विचार रखकर जो सामायिक की जाती है, वही सामायिक निर्विघ्न तथा शुद्ध होती है। बहुत से सज्जन समय की उचितता अथवा अनुचितता का बिल्कुल विचार नहीं करते। यों ही जब जी चाहा, तभी अयोग्य समय पर सामायिक करने बैठ जाते हैं। फल यह होता है कि सामायिक में मन शान्त नहीं रहता, अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों का प्रवाह मस्तिष्क में तूफान खड़ा कर देता है। फलतः सामायिक की साधना गुड़-गोबर हो जाती है।

सेवा महान् धर्म है

*

आजकल एक बुरी धारणा चल रही है। यदि घर में कभी कोई बीमार हो, और दूसरा कोई सेवा करने वाला न हो; तब भी बीमार की सेवा को छोड़ कर लोग सामायिक करने बैठ जाते हैं। यह प्रथा उचित नहीं है। इस प्रकार सामायिक का महत्व घटता है, दूसरों पर बुरी छाप पड़ती है। वह काल सेवा का है, सामायिक का नहीं। शास्त्रकार कहते हैं—

'काले कालं समायरे'

—दशवैकालिक ५।२।४

जिस कार्य का जो समय हो, उस समय वही कार्य करना चाहिए। यह कहाँ का धर्म है कि घर में बीमार कराहता रहे और तुम उधर सामायिक में स्तोत्रों की झड़ियां लगाते रहो ? भगवान् महावीर ने तो साधुओं के प्रति भी यहां तक कहा है कि 'यदि कोई समर्थ साधु, बीमार साधु को छोड़ कर अन्य किसी कार्य में लग जाए, बीमार की उचित सार-सँभाल न करे, तो उसको गुरु चौमासी का प्रायश्चित आता है—

"जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ, न गवेसंतं वा साइज्जइ....आवज्जइ चउम्मासियं परिहारठाणं अणुग्घाइयं।"

—निशीथ १०।३७

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जब साधु के लिए भी यह कठोर अनुशासन है, तो फिर गृहस्थ के लिए तो कहना ही क्या ? उसके ऊपर तो घर गृहस्थी का, परिवार की सेवा का इतना विशाल उत्तरदायित्व है कि वह उससे किसी भी दशा में मुक्त नहीं हो सकता। अतः काल-शुद्धि के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बीमार को छोड़ कर सामायिक करना ठीक नहीं। हाँ, यदि सामायिक प्रतिदिन करने का का नियम ले रखा हो, तो रोगी के लिए दूसरी व्यवस्था करके अवश्य ही नियम का पालन करना चाहिए।

(४) **भाव-शुद्धि**—भाव-शुद्धि से अभिप्राय है—मन, वचन और शरीर की शुद्धि। मन, वचन और शरीर की शुद्धि का अर्थ है—इनकी एकाग्रता। जब तक मन, वचन और शरीर की एकाग्रता न हो, चंचलता न रुके; तब तक दूसरा बाह्य विधि-विधान जीवन में उत्क्रान्ति नहीं ला सकता। जीवन उन्नत तभी होता है, जब कि साधक मन, वचन, शरीर की एकाग्रता भंग करने वाले, अन्तरात्मा में मलिनता पैदा करने वाले दोषों को त्याग दे। मन, वचन, शरीर की शुद्धि का प्रकार यों है—

(१) **मनः-शुद्धि**—मन की गति बड़ी विचित्र है। एक प्रकार से जीवन का सारा भार ही मन के ऊपर पड़ा हुआ है। आचार्य कहते हैं— 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

—मैत्रायणी आरण्यक ६। ३४-११

'मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है।'

वास्तव में यह बात है भी ठीक। मन का काम विचार करना है, फलतः आकर्षण-विकर्षण, कार्याकार्य, स्थिति-स्थापकता आदि सब कुछ, विचारशक्ति पर ही निर्भर हैं। और तो क्या, हमारा सारा जीवन ही विचार है। विचार ही हमारा जन्म है, मृत्यु है, उत्थान है, पतन है, स्वर्ग है, नरक है, सब-कुछ है। विचारों का वेग अन्य सब वेगों की अपेक्षा अधिक तीव्रगतिमान् होता है। आजकल के विज्ञान का मत है कि प्रकाश की गति एक सेकण्ड में १,८०,००० मील है, विद्युत् की गति २,८८,००० मील है, जब कि विचारों की गति २२,६५,१२० मील है। उक्त कथन से अनुमान लगाया जा सकता है कि मनोगत विचारों का प्रवाह कितना महान् है ?

विचारशक्ति के दो रूप

*

विचार-शक्ति के मुख्यतया दो भेद हैं—कल्पना-शक्ति और तर्क-शक्ति। कल्पना-शक्ति का उपयोग करने से मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं, मन चंचल और वेगवान् हो जाता है; किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं रहती। इन्द्रियों पर, जिनका राजा मन है, जिन पर वह शासन करता है, स्वयं अपना नियंत्रण कायम नहीं रख सकता। जब मन चंचल हो उठता है, तो कर्मों का प्रवाह चारों ओर से अन्तरात्मा की ओर उमड़ पड़ता है, हजारों वर्षों के लिए अन्तस्तल में गहरी मलिनता पैठ जाती है। मन की दूसरी शक्ति तर्क-शक्ति है, जिसका उपयोग करने से कल्पना-शक्ति पर नियंत्रण स्थापित होता है, विचारों को व्यवस्थित बनाकर असत्संकल्पों का पथ छोड़ा जाता है, और सत्संकल्पों का पथ अपनाया जाता है। तर्क-शक्ति के द्वारा पवित्र हुई मनोभूमि में ज्ञान एवं क्रिया-रूपी अमृतजल से सिंचन पाकर समभाव-रूपी कल्पवृक्ष बहुत शीघ्र फलशाली हो जाता है। राग, द्वेष, भय, शोक, मोह, माया आदि का अन्धकार कल्पना का अन्धकार है, और वह, तर्क-शक्ति का सूर्य उदय होते ही, तथा अहिंसा, दया, सत्य-संयम, शील, सन्तोष आदि की उज्ज्वल किरणें प्रस्फुरित होते ही अपने आप ध्वस्त, विध्वस्त हो जाता है !

मन का नियंत्रण

*

प्रश्न हो सकता है कि मन को नियंत्रण में कैसे किया जाय? मन को एक बार ही नियंत्रण में ले लेना बड़ी कठिन बात है। मन तो पवन से भी सूक्ष्म है। वह प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जैसे महात्माओं को भी अन्तर्मुहुर्त जितने अल्प समय में सातवीं नरक के द्वार तक पहुँचा देता है और फिर कुछ क्षणों में ही वापस लौटकर केवलज्ञान, केवलदर्शन के द्वार पर भी खड़ा कर देता है। तभी तो कहा है—

'मनोविजेता जगतोविजेता'

—मन का जीतने वाला, जगत का जीतने वाला है।

मनुष्य की संकल्प शक्ति अपरंपार है, वह चाहे तो मन पर अपना अखण्ड शासन चला सकता है। इसके लिए जप करना, ध्यान करना, सत्साहित्य का अवलोकन करना आवश्यक है[1]

(२) **वचन-शुद्धि**—मन एक गुप्त एवं परोक्ष शक्ति है। अतः वहां प्रत्यक्ष कुछ करना, कठिन-सा है। परन्तु, वचनशक्ति तो प्रकट है, उस पर तो प्रत्यक्ष नियंत्रण का अंकुश लगाया जा सकता है। प्रथम तो सामायिक करते समय वचन को गुप्त ही रखना चाहिए। यदि इतना न हो सके, तो कम-से-कम वचन समिति का पालन तो करना ही चाहिए। इसके लिए यह ध्यान में रखना चाहिए कि साधक सामायिक-व्रत में कर्कश, कठोर, और दूसरे के कार्य में विघ्न डालने वाला वचन न बोले। सावद्य अर्थात् जिससे किसी जीव की हिंसा हो, ऐसा. सदोष वचन भी न बोले। क्रोध, मान, माया एवं लोभ के वश में होकर वचन बोलना भी निषिद्ध है। किसी की चापलूसी के लिए भटैती करना, दीन वचन बोलना, विपरीत या अतिशयोक्ति मे बोलना भी ठीक नहीं। सत्य भी ऐसा नहीं बोलना चाहिए जो दूसरे का अपमान करने वाला हो। वचन अन्तरंग दुनिया का प्रतिबिम्ब है। अतः मनुष्य को हर समय, विशेषकर सामायिक के समय बड़ी सावधानी से वाणी का प्रयोग करना चाहिए। पहले

१—लेखक की 'महामंत्र-नवकार' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

हिताहित परिणाम का विचार करो और फिर बोलो—इस सुनहले सिद्धान्त को भूलना, अपनी मनुष्यता को भूलना है।

(३) काय-शुद्धि—कायशुद्धि का यह अर्थ नहीं कि शरीर को साफ-सुथरा, सजा-धजा कर रखना चाहिए। यह ठीक है कि शरीर को गंदा न रक्खा जाए, स्वच्छ रक्खा जाए; क्योंकि गंदा शरीर मानसिक-शान्ति को ठीक नहीं रहने देता, धर्म की भी हीलना करता है। परन्तु, यहाँ काय-शुद्धि से हमारा अभिप्राय कायिक संयम से है। आन्तरिक आचार का भार मन पर है और बाह्य आचार का भार शरीर पर है। जो मनुष्य उठने में, बैठने में, खड़ा होने में, हाथ-पैर आदि को इधर-उधर हिलाने डुलाने में विवेक से काम लेता है; असभ्यता नहीं दिखलाता है, किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुंचाता है; वही काय-शुद्धि का सच्चा उपासक होता है। जब तक हमारा बाह्य कायिक आचार शुद्ध एवं अनुकरणीय नहीं होगा; तब तक दूसरे अनुकरणप्रिय साधकों पर हम अपना क्या धार्मिक प्रभाव डाल सकते हैं? हमारे में आन्तरिक शुद्धि है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर जनता को हमारे बाह्य-आचरण पर से ही तो मिलेगा? आन्तरिक शुद्धि की आधार भूमि, बाह्य ही तो है न? इसलिए सामायिक में आन्तरिक भाव शुद्धि के साथ बाह्याचार-शुद्धि की भी आवश्यकता है। * * *

८ ‖ सामायिक के दोष

शास्त्रकारों ने सामायिक के समय में मन, वचन और शरीर को संयम से रखना बताया है। परन्तु, मन बड़ा चंचल है, वह स्थिर नहीं रहता। आकाश से पाताल तक के अनेकानेक झूठे सच्चे घाट-कुघाट घड़ता ही रहता है। अतएव अविवेक, अहंकार आदि मन के दोषों से बचना, साधारण बात नहीं है। इसी प्रकार भूल, विस्मृति, असावधानता आदि के कारण वचन और शरीर की शुद्धि में भी दूषण लग जाते हैं। सामायिक को दूषित करने वाले तथा सामायिक के महत्व को घटाने वाले मन-वचन-शरीर सम्बन्धी, स्थूल रूप से, बत्तीस दोष होते हैं। सामायिक करने से पहले साधक को दश मन के, दश वचन के और बारह काय के, इस प्रकार कुल बत्तीस दोषों को जानना आवश्यक है, ताकि यथावसर दोषों से बचा जा सके और सामायिक की पवित्र साधना को सुरक्षित रक्खा जा सके।

मन के दस दोष

*

अविवेक जसो कित्ती, लाभत्थी गव्व-भय-नियाणत्थी।
संसय रोस अविणओ, अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा॥

(१) **अविवेक**—सामायिक करते समय किसी प्रकार का विवेक न रखना, किसी भी कार्य के औचित्य-अनौचित्य का अथवा समय-असमय का ध्यान न रखना, 'अविवेक' है।

(२) **यशः-कीर्ति**—सामायिक करने से मुझे यश प्राप्त होगा, समाज में मेरा आदर-सत्कार बढ़ेगा, लोग मुझे धर्मात्मा कहेंगे; इस

प्रकार यशः-कीर्ति की कामना से प्रेरित होकर सामायिक करना 'यशःकीर्ति' दोष है।

(३) लाभार्थ—धन आदि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना 'लाभार्थ' दोष है। सामायिक करने से व्यापार में अच्छा लाभ रहेगा, व्याधि नष्ट हो जायेगी, इत्यादि विचार लाभार्थ दोष के अंतर्गत हैं।

(४) गर्व—मैं बहुत सामायिक करने वाला हूँ, मेरे बराबर कौन सामायिक कर सकता है? अथवा मैं बड़ा कुलीन हूँ, धर्मात्मा हूँ, इत्यादि गर्व करना 'गर्व' दोष है।

(५) भय—मैं अपनी जाति में ऊँचे घराने का व्यक्ति होकर भी यदि सामायिक न करूँ तो लोग क्या कहेंगे? इस प्रकार लोक-निन्दा से डरकर सामायिक करना 'भय' दोष है। अथवा किसी अपराध के कारण मिलने वाले राजदण्ड से एवं लेनदार आदि से बचने के लिए सामायिक करके बैठ जाना भी 'भय' दोष है।

(६) निदान—सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना 'निदान' दोष है। जरा और स्पष्ट रूप से कहें, तो यों कह सकते हैं कि सामायिक करने वाला यदि अमुक पदार्थ या संसारी सुख के लिए सामायिक का फल बेच डाले, तो वहाँ 'निदान' दोष होता है।

(७) संशय—मैं जो सामायिक करता हूँ, उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं? सामायिक करते-करते इतने दिन हो गये, फिर भी कुछ फल नहीं मिला, इत्यादि सामायिक के फल के सम्बन्ध में संशय रखना 'संशय' दोष है।

(८) रोष—सामायिक में क्रोध, मान, माया, लोभ करना, 'रोष' दोष है। मुख्यरूप में लड़-झगड़ कर या रूठ कर सामायिक करना 'रोष' दोष माना जाता है।

(९) अविनय—सामायिक के प्रति आदरभाव न रखना, अथवा सामायिक में देव, गुरु, धर्म का अविनय करना 'अविनय' दोष है।

(१०) अबहुमान—अंतरंग भक्तिभावजनित उत्साह के बिना

अनादर पूर्वक सामायिक करना, किसी के दबाव या किसी की प्रेरणा से बेगार समझते हुए सामायिक करना 'अवहुमान' दोष है।

वचन के दस दोष

*

कुवयण सहसाकारे, सच्छंद संखेय कलहं च।
विगहा विहासोऽसुद्धं, निरवेक्खो मुणमुणा दस दोसा ॥

(१) कुवचन—सामायिक में कुत्सित, गंदे वचन बोलना 'कुवचन' दोष है।

(२) सहसाकार—बिना विचारे सहसा हानिकर, असत्य वचन बोलना 'सहसाकार' दोष है।

(३) स्वच्छन्द—सामायिक में काम-वृद्धि करने वाले, गंदे गीत गाना 'स्वच्छन्द' दोष है। गंदी बातें करना भी इसमें सम्मिलित है।

(४) संक्षेप—सामायिक के पाठ को संक्षेप में बोल जाना, यथार्थ रूप में न पढ़ना 'संक्षेप' दोष है।

(५) कलह—सामायिक में कलह पैदा करने वाले वचन बोलना, 'कलह' दोष है।

(६) विकथा—बिना किसी अच्छे उद्देश्य के व्यर्थ ही मनोरंजन की दृष्टि से स्त्री-कथा, भक्त-कथा, राज-कथा, देश-कथा आदि करने लग जाना 'विकथा' दोष है।

(७) हास्य—सामायिक में हँसना, कौतूहल करना एवं व्यंग-पूर्ण शब्द बोलना 'हास्य' दोष है।

(८) अशुद्ध—सामायिक का पाठ जल्दी-जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे बिना बोलना या अशुद्ध बोलना 'अशुद्ध' दोष है।

(९) निरपेक्ष—सामायिक में सिद्धान्त की उपेक्षा करके वचन बोलना अथवा बिना सावधानी के वचन बोलना 'निरपेक्ष' दोष है।

(१०) मुन्मन—सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना, किन्तु गुनगुनाते हुए बोलना 'मुन्मन' दोष है।

काय के बारह दोष

*

कुआसणं चलासणं चला दिट्ठी,
सावज्जकिरियाऽऽलंबणा-कुंचण पसारणं ।
आलस-मोडन-मल-विमासणं,
निद्दा वेयावच्चत्ति बारस कायदोसा ।।

(१) **कुआसन**—सामायिक में पैर-पर-पैर चढ़ाकर अभिमान से बैठना अथवा गुरु महाराज आदि के समक्ष अविनय के आसन से बैठना, 'कुआसन' दोष है।

(२) **चलासन**—चल आसन से बैठकर सामायिक करना, अर्थात् स्थिर आसन से न बैठकर बार-बार आसन बदलते रहना 'चलासन' दोष है।

(३) **चल दृष्टि**—अपनी दृष्टि को स्थिर न रखना, बार-बार कभी इधर तो कभी उधर देखना 'चल दृष्टि' दोष है।

(४) **सावद्य क्रिया**—शरीर से स्वयं सावद्य-पाप-युक्त क्रिया करना, या दूसरों को करने के लिए संकेत करना, तथा घर की रखवाली वगैरह करना, 'सावद्य क्रिया' दोष है।

(५) **आलंबन**—बिना किसी रोग आदि कारण के दीवार आदि का सहारा लेकर बैठना, 'आलंबन' दोष है।

(६) **आकुञ्चन-प्रसारण**—बिना किसी विशेष प्रयोजन के हाथ-पैरों को सिकोड़ना और फैलाना 'आकुञ्चन-प्रसारण' दोष है।

(७) **आलस्य**—सामायिक में बैठे हुए आलस्य करना, अंगड़ाई लेना 'आलस्य' दोष है।

(८) **मोड़न**—सामायिक में बैठे हुए हाथ-पैर की ऊँगलियाँ चटकाना 'मोड़न' दोष है।

(९) **मल**—सामायिक करते समय शरीर पर से मैल उतारना 'मल' दोष है।

(१०) **विमासन**—गाल पर हाथ रखकर शोक-ग्रस्त की तरह बैठना अथवा बिना पूंजे शरीर खुजलाना या रात्रि में इधर-उधर-आना-जाना 'विमासन' दोष है।

(११) **निद्रा**—सामायिक में बैठे हुए ऊंघना एवं निद्रा लेना 'निद्रा' दोष है।

(१२) **वैयावृत्य**—सामायिक में बैठे हुए निष्कारण ही आराम-तलवी के लिए दूसरों से वैयावृत्य यानी सेवा कराना 'वैयावृत्य' दोष है। कुछ आचार्य वैयावृत्य के स्थान में 'कम्पन' दोष मानते हैं। स्वाध्याय करते हुए इधर-उधर घूमना या हिलना डुलना अथवा शीत आदि के कारण काँपना 'कम्पन' दोष है।

मनुष्य के पास मन, वचन और शरीर ये तीन शक्तियाँ हैं। इनको चंचल बनाने वाला साधक सामायिक की साधना को दूषित करता है और इनको स्थिर एवं सुदृढ़ रखनेवाला सामा-यिक-रूप उत्कृष्ट संवर धर्म की उपासना करता है। अतएव सामायिक की साधना करनेवाले को उक्त बत्तीस दोषों से पूर्णतया सावधान रहना चाहिए।

---

१ अठारह पाप

सामायिक के पाठ में जहाँ 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' अंश आता है, वहाँ 'सावज्ज' का अर्थ सावद्य है, अवद्य अर्थात् पाप—उससे सहित। भाव यह है कि सामायिक में उन सब कार्यों का त्याग करना होता है, जिनके करने से पाप-कर्म का बन्ध होता है, आत्मा में पाप का स्रोत आता है।

शास्त्रकारों ने पाप की व्याख्या करते हुए, अठारह प्रकार के सांसारिक कार्यों में पाप बताया है। उन अठारहों में से कोई भी कार्य करने पर पाप-कर्म का बन्ध होकर आत्मा भारी हो जाती है। और, जो आत्मा कर्मों के बोझ से भारी हो जाती है, वह कदापि समभाव को, आध्यात्मिक अभ्युदय को प्राप्त नहीं कर सकती। उसका पतन होना अनिवार्य है। संक्षेप में अठारह पापों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) **प्राणातिपात**—हिंसा करना। जीव यद्यपि नित्य है, अतः वह न कभी मरता है और न मरेगा, अतएव जीव-हिंसा का अर्थ यह है कि जीव ने अपने लिए जो मन, वचन, शरीर एवं इन्द्रिय आदि प्राणरूप सामग्री एकत्रित की है, उसको नष्ट करना, क्षति पहुँचाना, हिंसा है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' —तत्त्वार्थ-सूत्र, ७।८

—अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि किसी भी प्रमत्त-योग से, किसी भी प्राणी के प्राणों को, किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाना 'हिंसा' है।

(२) मृषावाद—झूठ बोलना। जो बात जिस रूप में हो, उसको उसी रूप में न कहकर विपरीत रूप से कहना, वास्तविकता को छिपाना 'मृषावाद' है। किसी भी अनपढ़ या नासमझ व्यक्ति को नीचा दिखाने की दृष्टि से, उसे अनपढ़ या बेवकूफ आदि कहना तथा क्रोध, अहंकार, भय, लोभ आदि के वश बोला गया सत्य वचन भी 'मृषावाद' है।

(३) अदत्तादान—चोरी करना। जो पदार्थ अपना नहीं, किन्तु दूसरे का है, उसको मालिक की आज्ञा के विना छिपाकर गुप्त रीति से ग्रहण करना 'अदत्तादान' है। केवल छिपाकर चुराना ही नहीं, प्रत्युत दूसरे के अधिकार की वस्तु पर जवरदस्ती अपना अधिकार जमा लेना भी 'अदत्तादान' है!

(४) मैथुन—व्यभिचार सेवन करना। मोह-दशा से विकल होकर स्त्री का पुरुष पर या पुरुष का स्त्री पर आसक्त होना, वेद-कर्मजन्य शृंगार-सम्वन्धी चेष्टा करना; मानसिक, वाचिक और कायिक किसी भी काम विकार में प्रवृत्त होना 'मैथुन' है। कामवासना मनुष्य की सवसे वड़ी दुर्वलता है। इसके कारण अच्छा-से-अच्छा मनुष्य भी, चाहे जैसा भी अकृत्य कार्य सहसा कर डालता है, आत्मभाव को भूल जाता है। एक प्रकार से मैथुन पापों का राजा है।

(५) परिग्रह—ममता-बुद्धि के कारण वस्तुओं का अनुचित संग्रह करना या आवश्यकता से अधिक संग्रह करना 'परिग्रह' है। वस्तु छोटी हो या वड़ी, जड़ हो या चेतन, चाहे जो भी हो, उसमें आसक्त हो जाना, उसको प्राप्त करने की लगन में विवेक को खो वैठना 'परिग्रह' है। परिग्रह की वास्तविक परिभाषा मूर्च्छा है। अतएव वस्तु हो या न हो, परन्तु यदि मन में तत्सम्वन्धी मूर्च्छा-आसक्ति हो, तो वह सब परिग्रह ही माना जाता है।

(६) क्रोध—किसी कारण से अथवा विना कारण ही अपने आप को तथा दूसरों को क्षुव्ध करना 'क्रोध' है। जव क्रोध होता है तव अज्ञान-वश कुछ भी हिताहित नहीं सूझता है। क्रोध, कलह का मूल है।

(७) मान—दूसरों को तुच्छ तथा स्वयं को महान् समझना 'मान' है। अभिमानी व्यक्ति आवेश में आकर कभी-कभी ऐसे असभ्य

शब्दों का प्रयोग कर डालता है, जिन्हें सुनकर दूसरे को बहुत दुःख होता है, और दूसरे के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो जाती है।

(८) **माया**—अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को ठगने या धोका देने की जो चेष्टा की जाती है, उसे '**माया**' कहते हैं। माया के कारण दूसरे प्राणी को कष्ट में पड़ना पड़ता है, अतः 'माया' भयंकर पाप है।

(९) **लोभ**—हृदय में किसी भी भौतिक पदार्थ की अत्यधिक चाह रखने का नाम '**लोभ**' है। लोभ ऐसा दुर्गुण है कि जिसके कारण सभी पापों का आचरण किया जा सकता है। दशवैकालिक-सूत्र ८।३८ में क्रोध, मान और माया से तो एक-एक सद्गुण का ही नाश बतलाया गया है, परन्तु लोभ को सभी सद्गुणों का नाश करने वाला बतलाया गया है—**लोभो सव्वविणासणो**।

(१०) राग—किसी भी पदार्थ के प्रति मोहरूप—आसक्तिरूप आकर्षण होने का नाम 'राग' है। अथवा पौद्गलिक-सुख की अभिलाषा को भी राग कहते हैं। वास्तव में कोई भी भौतिक वस्तु आत्मा की अपनी नहीं है, हम तो मात्र आत्मा हैं और ज्ञानादि गुण ही केवल अपने हैं। परन्तु, जब हम किसी बाह्य वस्तु को अपनी और मात्र अपनी ही मान लेते हैं; तब उस वस्तु के प्रति राग होता है। और जहाँ राग है, वहाँ सभी अनर्थ संभव हैं।

(११) **द्वेष**—अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कटु बात सुनकर या कोई कार्य देखकर जल उठना, '**द्वेष**' है। द्वेष होने पर मनुष्य अंधा हो जाता है। अतः वह जिस पदार्थ या प्राणी को अपने लिए बुरा समझता है, झटपट उसका नाश करने के लिए तैयार हो जाता है, अपने विचारों का उचित सन्तुलन खो बैठता है।

(१२)**कलह**—किसी भी अप्रशस्त संयोग के मिलने पर क्रुद्ध कर लोगों से वाग्युद्ध करने लगना '**कलह**' है। कलह से अपनी आत्मा को भी परिताप होता है, और दूसरों को भी। कलह करने वाला व्यक्ति, कहीं भी शांति नहीं पा सकता।

(१३) **अभ्याख्यान**—किसी भी मनुष्य पर कल्पित बहाना लेकर झूठा दोषारोपण करना, मिथ्या कलंक लगाना '**अभ्याख्यान**' है।

(१४) **पैशुन्य**—किसी भी मनुष्य के सम्बन्ध में चुगली खाना, इधर की बात उधर लगाना, नारदवृत्ति अपनाना '**पैशुन्य**' है।

(१५) **पर-परिवाद**—किसी की उन्नति न देख सकने के कारण उसकी झूठी-सच्ची निन्दा करना, उसे बदनाम करना '**पर-परिवाद**' है। पर-परिवाद के मूल में डाह का विष-अंकुर छुपा हुआ रहता है।

(१६) **रति-अरति**—अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भूल कर जब मनुष्य पर-भाव में फँसता है, विषय भोगों में आनन्द मानता है; तब वह अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से हर्ष तथा प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति से दुःख अनुभव करता है, इसका नाम '**रति-अरति**' है। रति-अरति के चंगुल में फँसा रहने वाला व्यक्ति वीतराग भावना से सर्वथा पराङ्मुख हो जाता है।

(१७) **माया-मृषा**—कपट-सहित झूठ बोलना। अर्थात् इस तरह चालाकी से बातें करना या ऐसा लाग-लपेट का व्यवहार करना कि जो प्रकट में तो सत्य दिखाई दे, परन्तु, वास्तव में झूठ हो। जिस सत्याभास-रूप असत्य को सुनकर दूसरा व्यक्ति उसे सत्य मान ले तथा नाराज न हो, वह '**माया-मृषा**' है। आजकल जिसे पॉलिसी कहते हैं, वही शास्त्रीय परिभाषा में 'माया-मृषा' है। यह पाप असत्य से भी भयंकर होता है। आज के युग में इस पाप ने इतने पाँव पसारे हैं कि कुछ कह नहीं सकते !

(१८) **मिथ्यादर्शन शल्य**—तत्त्व में अतत्त्व-बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि रखना, जैसे कि देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुरु को कुगुरु और कुगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म, जीव को जड़ और जड़ को जीव मानना '**मिथ्यादर्शन शल्य**' है। मिथ्यात्त्व समस्त पापों का मूल है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए मिथ्यात्त्व के विष-वृक्ष का उन्मूलन करना अतीव आवश्यक है।

ऊपर अठारह पापों का उल्लेख मात्र स्थूल दृष्टि से किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से तो पापों का वन इतना विकट एवं गहन है कि इसकी गणना ही नहीं हो सकती। मन की वह प्रत्येक तरंग, जो आत्माभिमुख न होकर विषयाभिमुख हो, ऊर्ध्वमुखी

न होकर अधोमुखी हो, जीवन को हल्का न बनाकर दुर्भावनाओं से भारी बनानेवाली हो; वह सब पाप है। पाप हमारी आत्मा को दूषित करता है, गंदा बनाता है, अशान्त करता है, अतः त्याज्य है।

पापों का सामायिक में त्याग करने का यह मतलब नहीं कि सामायिक में तो पाप करने नहीं, परन्तु सामायिक के बाद खुले हृदय से पाप करने लग जायँ! सामायिक के बाद भी पापों से बचने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। साधना का अर्थ क्षणिक नहीं है। वह तो जीवन के हर क्षेत्र में, हर काल में सतत चालू रहनी चाहिए। जीवन के प्रति जितना अधिक जागरण, उतनी ही जीवन की पवित्रता! किसी भी दशा में विवेक का पथ न भूलो!

---

१० ‖ सामायिक के अधिकारी

साधना तभी फलवती होती है, जबकि उसका अधिकारी योग्य हो। अनधिकारी के पास जाकर अच्छी-से-अच्छी साधना भी निस्तेज हो जाती है, वह अधिक तो क्या, एक इंच भी आध्यात्मिक जीवन का विकास नहीं कर पाती !

आजकल सामायिक की साधना क्यों नहीं सफल हो रही है ? वह पहले-सा तेज सामायिक में क्यों न रहा, जो क्षण भर में ही साधक को आध्यात्मिक-सुमेरु के उच्च शिखर पर पहुँच देता था ? बात यह है कि आज के अधिकारी योग्य नहीं रहे हैं। आजकल बहुत से लोग तो यह समझ बैठे हैं कि "हम संसार के व्यवहार में भले ही चाहे जो करें; हिंसा, झूठ, चोरी, दंभ, व्यभिचार आदि पाप-कार्य का कितना ही क्यों न आचरण करें; परन्तु सामायिक करते ही सब-के-सब पाप नष्ट होजाते हैं और हम झटपट मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। संसार का प्रत्येक व्यवहार पाप-पूर्ण है, अतः यहाँ पाप किए बिना काम ही नहीं चल सकता।"

उक्त धारणा वाले सज्जन केवल कृत पापों से छुटकारा पाने के लिए ही सामायिक करते हैं; किन्तु कभी भी पाप कार्य के त्याग को आवश्यक नहीं समझते। इस प्रकार के धर्मध्वजी भक्तों के लिए ज्ञानियों का कथन है कि "जो लोग पाप-कर्म का त्याग न करके सामायिक के द्वारा केवल पापकर्म के फल से बचना चाहते हैं, वे लोग वास्तव में सामायिक नहीं करते; किन्तु धर्म के नाम पर दंभ करते हैं।"

सर्वथा असत्य एवं भ्रांत कल्पनाओं के फेर में पड़ा हुआ

मनुष्य, धर्मक्रिया नहीं करता, परन्तु धर्मक्रिया का अपमान करता है; पाप-कर्म की ओर से सर्वथा निर्भय होकर वार-बार पाप-क्रिया का आचरण करता है। समझता है कि कोई हर्ज नहीं,—सामायिक करके सब पाप धो डालूंगा। वह अधिकाधिक ढीठ वनता जाता है।

सद्‌गुणों की साधना

*

अतएव साधक का कर्त्तव्य है कि वह मात्र सामायिक के समय में ही नहीं, किन्तु सांसारिक व्यवहार के समय में भी अपने आपको अच्छी तरह सावधान रक्खे, पापकर्मों की ओर अधिक आकर्षण न रक्खे। यद्यपि संसार में रहते हुए हिंसा, झूठ आदि का सर्वथा त्याग होना अशक्य है; फिर भी सामायिक करने वाले श्रावक का यही लक्ष्य होना चाहिए कि "मैं अन्य समय में भी हिंसा, झूठ आदि से जितना भीं बच सकूं, उतना ही अच्छा है। जो दुष्कर्म आत्मा में विषम भाव उत्पन्न करते हैं, दूसरों के लिए गंदा वातावरण पैदा करते हैं, यहाँ अपयश करते हैं और अन्त में परलोक भी बिगाड़ते हैं; उनको त्यागकर ही यदि सामायिक होगी, तो वह सफल होगी, अन्यथा नहीं। रोग दूर करने के लिए केवल औषधि खा लेना ही पर्याप्त नहीं है; बल्कि उसके अनुकूल पथ्य—उचित आहार विहार भी रखना होता है। सामायिक पापनाश की अवश्य ही अमोघ औषधि है, परन्तु इसके सेवन के साथ-साथ तदनुकूल न्याय नीति से पुरुषार्थ करना, वैर-विरोध आदि मन के विकारों को शान्त रखना, कर्मोदय से प्राप्त अपनी खराव स्थिति में भी प्रसन्न रहना—अधीर न होना, दूसरे की निन्दा या अपमान नहीं करना, सब जीवों को अपनी आत्मा के समान प्रिय समझना, क्रोध या दंभ से किसी को जरा भी पीड़ा न पहुँचाना, दीन दुखी को देख कर हृदय का पिघल जाना, यथाशक्य सहायता पहुँचाना, अपने साथी की उन्नति देखकर हर्ष से गद्‌गद हो उठना, इत्यादि सुन्दर-से-सुन्दर पथ्य का आचरण करना भी अत्यावश्यक है।" आचार्य हरिभद्र ने धर्म-सिद्धि की पहचान बताते हुए ठीक ही कहा है—

> औदार्यं दाक्षिण्यं, पापजुगुप्साऽथ निर्मलो वोधः।
> लिङ्गानि धर्मसिद्धेः प्रायेण जन-प्रियत्वं च॥
>
> —षोड़शक, ४।२

सामायिक से पहले अच्छा आचरण बनाना—यह अपनी मतिकल्पना नहीं है, इसके लिए आगम-प्रमाण भी उपलब्ध हैं। गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतों में आप देख सकते हैं, सामायिक का स्थान नौवाँ है। सामायिक के पहले के आठ व्रत साधक की सांसारिक वासनाओं के क्षेत्र को सीमित बनाने के लिए एवं सामायिक करने की योग्यता पैदा करने के लिए हैं। अतएव जो साधक सामायिक से पहले के अहिंसा आदि आठ व्रतों को भली-भाँति स्वीकार करते हैं, उनकी सांसारिक वासनाएँ सीमित हो जाती हैं और हृदय में आध्यात्मिक शान्ति के सुगन्धित पुष्प खिलने लगते हैं। यह ही नहीं, उसके अन्तर्जगत् में यथावसर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का सुमधुर विवेक भी जागृत हो जाता है। जो मनुष्य चूल्हे पर चढ़ी हुई कढ़ाई में के दूध को शान्त रखना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह कढ़ाई के नीचे से जलती हुई आग को अलग कर दे। आग को तो अलग न करना, केवल ऊपर से दूध में पानी के छींटे दे-देकर उसे शांत करना, किसी भी दशा में सफल नहीं होता। छल, कपट अभिमान, अत्याचार आदि दुर्गुणों की आग जब तक साधक के मन में जलती रहेगी, तब तक सामायिक के छींटे कभी भी उसके अन्तर्हृदय में स्थायी शान्ति नहीं ला सकेंगे !

उक्त विवेचन को लंबा करने का हमारा अभिप्राय सामायिक के अधिकारी का स्वरूप बताना था। संक्षेप में पाठक समझ गए होंगे कि सामायिक के अधिकारी का क्या कुछ कर्त्तव्य है? उसे संसार-व्यवहार में कितना प्रामाणिक होना चाहिए ?

---

११ ‖ सामायिक का महत्त्व

सामायिक मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख अंग है। देखिए, जब तक हृदय में समभाव का उदय न होगा; तब तक किसी भी दशा में मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। सामायिक में समभाव, समता मुख्य है। और, समता क्या है? 'आत्मस्थिरता!' और, आत्मस्थिरता अर्थात् आत्म-भाव में रहना ही चारित्र है। आत्मभाव में स्थिर होने वाले चारित्र से ही मोक्ष मिलती है, यह जैन-तत्त्वज्ञान का प्रत्येक अभ्यासी जानता है। इतना ही नहीं, समता यानी आत्मस्थिरता-रूप चारित्र तो सिद्धों में भी होता है। सिद्धों में स्थूल क्रियाकाण्ड रूप चारित्र नहीं होता; परन्तु आत्मस्थिरतारूप निश्चय चारित्र तो वहाँ पर भी आगम-सम्मत है। चारित्र आत्मविकास-रूप एक गुण है, अतः उसके अभाव में सिद्धत्त्व सिवा शून्य के और कुछ नहीं रहेगा—

'चारित्रं स्थिरतारूपं, अतः सिद्धेष्वपीष्यते।'

—यशोविजय, ज्ञानसार ३।८

हाँ तो पाठक समझ गए होंगे कि सामायिक का कितना अधिक महत्त्व है? सामायिक के बिना मोक्ष नहीं मिलती, और तो और, सिद्ध अवस्था में भी सामायिक का होना आवश्यक है। अतएव आचार्य हरिभद्र 'अष्टक प्रकरण' ग्रन्थ में कहते हैं—

सामायिकं च मोक्षांगं, परं सर्वज्ञ-भाषितम्।
वासी-चन्दन-कल्पानामुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥२९।१

—जिस प्रकार चन्दन अपने काटनेवाले कुल्हाड़े को भी सुगन्ध अर्पण करता है; उसी प्रकार विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध अर्पण करने रूप महापुरुषों की सामायिक है, वह मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट अंग है, ऐसा सर्वज्ञ प्रभु ने कहा है।

सामायिक एक पाप-रहित साधना है। इस साधना में जरा-सा भी पाप का अंश नहीं होता। पाप क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि सामायिक के काल में चित्तवृत्ति शांत रहती है, अतः नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। सामायिक करते समय किसी का भी अनिष्ट-चिन्तन नहीं किया जाता, प्रत्युत सब जीवों के श्रेय के लिए विश्वकल्याण की भावना भावित की जाती है; फलतः आत्म-स्वभाव में रमण करते-करते साधक अध्यात्म-विकास की उच्च श्रेणियों पर चढ़ता हुआ आत्म-निरीक्षण करने लग जाता है, तथा अशुद्ध व्यवहार, अशुद्ध उच्चार, अशुद्ध विचार के प्रति पश्चात्ताप करता है, उनका त्याग करता है, अट्ठारह पापों से अलग होकर आत्म-जागृति के क्षेत्र में पवित्र ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। उक्त वर्णन से सिद्ध हो जाता है कि सामायिक कितनी पाप-रहित पवित्र क्रिया है! अतएव आचार्य हरिभद्र ने अष्टक प्रकरण में कहा है—

निरवद्यमिदं ज्ञेय-मेकान्तेनैव तत्त्वतः।
कुशलाशयरूपत्वात्सर्वयोग-विशुद्धितः ॥२९।२

—सामायिक कुशल-शुद्ध आशयरूप है, इसमें मन, वचन और शरीर-रूप सब योगों की विशुद्धि हो जाती है; अतः परमार्थ दृष्टि से सामायिक एकान्त निरवद्य अर्थात् पाप-रहित है।

आचार्य हरिभद्र ने सामायिक के फल का निर्देश करते हुए अष्टक प्रकरण में पुनः कहा है कि सामायिक की निर्मल साधना से केवल ज्ञान प्राप्त होता है—

सामायिक-विशुद्धात्मा, सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ॥ ३०।१॥

—सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरण आदि

घातिकर्मों का सर्वथा अर्थात् पूर्णरूप से नाश कर लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो,
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स।

—एक आदमी प्रतिदिन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करता है और दूसरा आदमी मात्र दो घड़ी की सामायिक करता है; तो वह स्वर्ण मुद्राओं का दान करनेवाला व्यक्ति, सामायिक करनेवाले की समानता प्राप्त नहीं कर सकता।

तिव्वतवं तवमाणे, जं नवि निट्ठवइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविअचित्तो, खवेइ कम्मं खणद्धेण॥

—करोड़ों जन्म तक निरन्तर उग्र तपश्चरण करने वाला साधक जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता, उनको समभाव-पूर्वक सामायिक करने वाला साधक मात्र आधे ही क्षण में नष्ट कर डालता है।

जे केवि गया मोक्खं, जेवि य गच्छंति जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइय,-पभावेण मुणेयव्वं॥

—जो भी साधक अतीत काल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं, और भविष्य में जायँगे, यह सब सामायिक का ही प्रभाव है।

किं तिव्वेण तवेणं, किं च जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हुओ कहवि न हु होइ॥

—चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि-वेष धारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड-रूप चरित्र पा ले; परन्तु समताभाव-रूप सामायिक के बिना न कभी किसी को अतीत में मोक्ष हुई है और न भविष्य में कभी किसी को होगी।

सामायिक समता का क्षीर समुद्र है, जो इसमें स्नान कर लेता है, वह साधारण श्रावक भी साधु के समान हो जाता है। श्रावक साधु के समान हो जाता है, यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, कारण कि साधु में जो क्षमा, वैराग्य-वृत्ति, उदासीनता, स्त्री, पुत्र, धन आदि की ममता

का त्याग, ब्रह्मचर्य आदि महान् गुण होने चाहिएँ, उनकी छाया सामायिक करते समय श्रावक के अन्तस्तल में भी प्रतिभासित हो जाती है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी कहते हैं:—

> सामाइअम्मि उ कए,
> समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
> एएण कारणेणं,
> वहुसो सामाइयं कुज्जा ॥
>
> —आवश्यक-निर्युक्ति ८०२

—सामायिक व्रत भली-भाँति ग्रहण कर लेने पर श्रावक भी साधु जैसा हो जाता है, अतः आध्यात्मिक उच्च दशा को पाने के लिए अधिक से अधिक सामायिक करना चाहिए।

> सामाइय-वय-जुत्तो,
> जाव मणो होइ नियमसंजुत्तो।
> छिन्नइ असुहं कम्मं,
> सामाइय जत्तिया वारा ॥

—चंचल मन को नियंत्रण में रखते हुए जब तक सामायिक-व्रत की अखण्डधारा चालू रहती है, तब तक अशुभ कर्म बराबर क्षीण होते रहते हैं।

पाठक सामायिक का महत्त्व अच्छी तरह समझ गए होंगे। सामायिक की साधना में संलग्न होना बड़ा ही कठिन है; परन्तु जब वह संलग्न हो जाता है, तब फिर बेड़ा पार है! आचार्यों का कहना है कि देवता भी अपने हृदय में सामायिक-व्रत स्वीकार करने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं, और भावना भाते हैं कि 'यदि एक मुहूर्त-भर के लिए भी सामायिक व्रत प्राप्त हो सके, तो यह मेरा देव जन्म सफल हो जाए!'

खेद है कि देवता भावना भाते हुए भी सामायिक व्रत प्राप्त नहीं कर सकते। चारित्र-मोह के उदय के कारण संयम का पथ न कभी देवताओं ने अपनाया है, और न अपना सकेंगे। जैन शास्त्र की दृष्टि से देवताओं की अपेक्षा मानव अधिक आध्यात्मिक भावना का

प्रतिनिधि है ! अतएव सामायिक प्राप्त करने का श्रेय देवताओं को न मिलकर मनुष्यों को मिला है। अतः आप अपने अधिकार का उपयोग कीजिए, हजार काम छोड़कर सामायिक की आराधना कीजिए ! भौतिक दृष्टि से देवताओं की दुनिया कितनी ही अच्छी हो; परन्तु आध्यात्मिक दुनिया में तो आप ही देवताओं के शिरोमणि हैं। क्या आप अपने इस महान अधिकार को यों ही व्यर्थ खो देंगे ? क्या आप सामायिक की आराधना कर स्व-पर कल्याण का मार्ग प्रशस्त न करेंगे ? अवश्य करेंगे। * * *

सामायिकव्रतस्थस्य गृहिणोऽपि स्थिरात्मनः।
चन्द्रावतंसकस्येव क्षीयते कर्मसंचितम् ॥

—योगा० ३।८३

सामायिक की साधना में लीन, स्थिरमन-युक्त गृहस्थ साधक भी राजर्षि चन्द्रावतंसक की भाँति पूर्वसंचित कर्मों को नष्ट कर डालता है।

१२ ‖ सामायिक का मूल्य

सामायिक का क्या मूल्य है ? यह प्रश्न गंभीर है। इसका उत्तर भी उतना ही गंभीर एवं रहस्यपूर्ण है। सामायिक का एक-मात्र मूल्य मोक्ष है। मोक्ष के अतिरिक्त, और कुछ भी नहीं। कुछ लोग सामायिक के द्वारा भौतिक धन, जन, प्रतिष्ठा एवं स्वर्गादि का सुख चाहते हैं; परन्तु यह बड़ी भूल है। यदि आज का भद्र साधक सामायिक का फल सांसारिक सम्पदा के रूप में ही चाहता रहा, तो वह उस महान आध्यात्मिक लाभ से सर्वथा वंचित ही रहेगा, जिसके सामने संसार की समस्त सम्पदाएँ तुच्छ हैं, नगण्य हैं, हेय हैं। सामायिक के वास्तविक फल की तुलना में सांसारिक सम्पदा किस प्रकार तुच्छ है, यह बताने के लिए भगवान् महावीर के समय की एक घटना ही पर्याप्त है।

एक समय मगधसम्राट श्रेणिक ने श्रमण भगवान् महावीर से अपने भावी जीवन के सम्बन्ध में पूछा कि "मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ?"

भगवान् ने कहा—पहली नरक में।

श्रेणिक ने कहा—आपका भक्त और नरक में ? आश्चर्य है !

भगवान् ने कहा—राजन् ! किये हुए कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है, इसमें आश्चर्य क्या ? राजा श्रेणिक ने नरक से बचने का उपाय बड़े ही आग्रह से पूछा तो भगवान् ने चार उपाय बताए, जिनमें से किसी एक भी उपाय का अवलंबन करने से नरक से बचा जा सकता था। उनमें एक उपाय; उस समय के सुप्रसिद्ध साधक पूनिया श्रावक की सामायिक का खरीदना भी था।

महाराजा श्रेणिक पूनिया के पास पहुँचे और बोले कि "सेठ ! तुम मुझ से इच्छानुसार धन ले लो और उसके बदले में मुझे अपनी एक सामायिक दे दो; मैं नरक से बच जाऊँगा !" राजा के उक्त कथन के उत्तर में पूनिया श्रावक ने कहा कि "महाराज ! मैं नहीं जानता, सामायिक का क्या मूल्य है ? अतएव जिन्होंने आपको मेरी सामायिक लेना बताया है, आप उन्हीं से सामायिक का मूल्य भी जान लीजिए।"

राजा श्रेणिक फिर भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान् के चरणों में निवेदन किया कि "भगवन् ! पूनिया श्रावक के पास मैं गया था। वह सामायिक देने को तैयार है; परन्तु उसे पता नहीं कि सामायिक का क्या मूल्य है ? अतः भगवन् ! आप कृपा कर के सामायिक का मूल्य बता दीजिए।

भगवान् ने कहा—राजन् ! तुम्हारे पास क्या इतना सोना और जवाहरात है कि जिसकी थैलियों का ढेर सूर्य और चाँद को छू जाए ? कल्पना करो कि इतना धन तुम्हारे पास हो, तो भी वह सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं होगा। फिर सामायिक का मूल्य तो कहाँ से दोगे ?" भगवान का यह कथन सुनकर राजा श्रेणिक चुप हो गया !

उपर्युक्त घटना बता रही है कि सामायिक के वास्तविक फल के समाने संसार की समस्त भौतिक सम्पदाएँ तुच्छ हैं; फिर वे कितनी ही और कैसी भी क्यों न हों ! सामायिक के द्वारा सांसारिक फल को चाहना ऐसा ही है, जैसे चिन्तामणि देकर बदले में कोयला चाहना। वस्तुतः सामायिक तो अभय की साधना है, समत्त्व की साधना है, भौतिक धन सम्पति आदि के द्वारा उसका मूल्य कैसे आंका जा सकता है। * * *

१३ सामायिक में दुर्ध्यान विवर्जन

सामायिक में समभाव की उपासना की जाती है। समभाव का अर्थ राग-द्वेष का परित्याग है। सामायिक शब्द का विवेचन करते हुए कहा है कि—"**सामाइयं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं निरवज्जजोग-पडिसेवणं च।**"

—आवश्यक-अवचूरि

पीछे बता चुके हैं कि सामायिक का अर्थ है—''सावद्य अर्थात् पापजनक कर्मों का त्याग करना और निरवद्य अर्थात् पाप-रहित कार्यों का स्वीकार करना।" पाप-जनक दो ही ध्यान शास्त्रकारों ने बतलाए हैं—आर्त और रौद्र। अतएव सामायिक का लक्षण करते हुए कहा भी है—

"समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना।
आर्त-रौद्र-परित्यागस्तद्धि, सामायिकं व्रतम्॥"

अर्थात्—छोटे-बड़े सब जीवों पर समभाव रखना, पाँच इन्द्रियों को अपने वश में रखना, हृदय में शुद्ध और श्रेष्ठ भाव रखना, आर्त तथा रौद्र दुर्ध्यानों का परित्याग करना 'सामायिक व्रत' है।"

उक्त लक्षण में आर्त तथा रौद्र दुर्ध्यान का परित्याग, सामायिक का मुख्य लक्षण माना गया है। जब तक साधक के मन से आर्त और रौद्र ध्यान के दु:संकल्प नहीं मिटते हैं; तब तक सामायिक का शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आर्तध्यान के चार प्रकार

*

'आर्त' शब्द अर्ति शब्द से निष्पन्न हुआ है। अर्ति का अर्थ है—पीड़ा, बाधा, क्लेश एवं दुःख। अर्ति के कारण यानी दुःख के होने पर मन में जो नाना प्रकार के भोग-सम्बन्धी संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, उसे 'आर्त ध्यान' कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति के चार कारण हैं, अतः आर्त ध्यान के भी चार प्रकार हैं—

(१) **अनिष्ट-संयोगज**—अपनी प्रकृति के प्रतिकूल चलने वाला साथी, शत्रु, अग्नि आदि का उपद्रव इत्यादि अनिष्ट—अप्रिय वस्तुओं का संयोग होने पर मनुष्य के मन में अत्यधिक दुःख उत्पन्न होता है। दुर्बल-हृदय मनुष्य, दुःख से व्याकुल हो उठता है और मन में अनेक प्रकार के संकल्पों का ताना-बाना बुनता रहता है कि 'हाय ! मैं इस दुःख से कैसे छुटकारा पाऊँ ? कब यह दुःख दूर हो ? इसने तो मुझे तंग ही कर दिया, आदि आदि।

(२) **इष्ट-वियोगज**—धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, परिवार, मित्र आदि इष्ट-प्रिय वस्तुओं का वियोग होने पर भी मनुष्य के मन में पीड़ा, भ्रम, शोक, मोह आदि भाव उत्पन्न होते हैं। प्रिय वस्तु के वियोग से बहुत से मानव तो इतने अधिक शोकाकुल होते हैं कि एक प्रकार से विक्षिप्त ही हो जाते हैं। रात दिन इसी उधेड़-बुन में रहते हैं कि किस प्रकार वह गई हुई वस्तु मुझे मिले ? क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? किस प्रकार वह पहले-सा सुख वैभव प्राप्त करूँ; आदि आदि।

(३) **प्रतिकूल वेदना-जनित**—वात, पित्त, कफ आदि की विषमता से रोगादि की जो प्रतिकूल वेदना होती है, वह हृदय में बड़ी ही उथल-पुथल कर देती है। बहुत से अधीर मनुष्य तो रोग होने पर अतीव अशान्त एवं क्षुब्ध हो जाते हैं। वे उचित-अनुचित किसी भी प्रकार की पद्धति का विचार किए विना, यही चाहते हैं कि चाहे कुछ भी करना पड़े, बस मेरी यह रोग आदि की वेदना दूर होनी चाहिए। हर समय हर आदमी के आगे अपने-रोग आदि का ही रोना रोते रहते हैं।

(४) **निदान-जनित**—पामर संसारी जीव भोगों की उत्कट लालसा के कारण सर्वदा अशान्त रहते हैं। हजारों आदमी वर्त्तमान

जीवन के आदर्शों को भूल कर केवल भविष्य के ही सुनहले स्वप्न देखते रहते हैं। दिन पर दिन इन्हीं विचारों में वीत जाते हैं कि किस प्रकार लखपति बनूं? सुन्दर महल, बाग आदि कैसे बनाऊँ? समाज में पूजा, प्रतिष्ठा किस प्रकार प्राप्त करूँ? आदि उचित-अनुचित का कुछ भी विचार किए बिना विलासी जीव हर प्रकार से अपना स्वार्थ गांठना चाहते हैं।

रौद्र ध्यान के चार प्रकार

*

'रौद्र' शब्द 'रुद्र' से निष्पन्न हुआ है। रुद्र का अर्थ है-क्रूर, भयंकर। जो मनुष्य क्रूर होते हैं, जिनका हृदय कठोर होता है वे बड़े ही भयंकर एवं क्रूर विचार करते हैं। उनके हृदय में हमेशा द्वेष की ज्वालाएँ भड़कती रहती हैं। उक्त रौद्र ध्यान के शास्त्रकारों ने चार प्रकार वतलाए हैं—

(१) **हिंसानन्द**—अपने से दुर्बल जीवों को मारने में, पीड़ा देने में, हानि पहुँचाने में आनन्द अनुभव करना, हिंसानन्द दुर्ध्यान है। इस प्रकार के मनुष्य बड़े ही क्रूर होते हैं। ऐसे लोग व्यर्थ ही हिंसा-कार्यों का समर्थन करते रहते हैं।

(२) **मृषानन्द**—कुछ लोग असत्य भाषण में वड़ी ही अभिरुचि रखते हैं। इधर-उधर मटरगश्ती करना, झूठ वोलना, दूसरे भोले भाइयों को भुलावे में डाल कर अपनी चतुरता पर खुश होना, हर समय असत्य कल्पनाएँ घंड़ते रहना, सत्य धर्म की निन्दा और असत्य आचरण की प्रशंसा करना, मृषानन्द दुर्ध्यान में सम्मिलित हैं।

(३) **चौर्यानन्द**—बहुत से लोगों को हर समय चोरी-छुप्पी की आदत होती है। वे जव कभी सगे सम्बन्धी के या मित्रों के यहाँ आते-जाते हैं; तव वहाँ कोई भी सुन्दर चीज देखते ही उनके मुँह में पानी भर आता है। वे उसी समय उसको उड़ाने के विचार में लग जाते हैं। हजारों मनुष्य इस दुर्विचार के कारण अपने महान् जीवन को कलंकित कर डालते हैं। रात-दिन चोरी के संकल्प-विकल्पों में ही अपना अमूल्य समय बर्वाद करते रहते हैं।

(४) **परिग्रहानन्द**—प्राप्त परिग्रह के संरक्षण में और अप्राप्त परिग्रह के प्राप्त करने में मनुष्य के समक्ष बड़ी ही जटिल समस्याएँ आती

हैं। जो लोग सदाचारी होते हैं, वे तो विना किसी को कष्ट पहुँचाए अपनी बुद्धि से अपनी समस्याएँ सुलझा लेते हैं; किंतु दुर्जन लोग परिग्रह के लिए इतने क्रूर हो जाते हैं कि वे भले-बुरे का कुछ विचार नहीं करते, दिन-रात अपनी स्वार्थ-साधना में लीन रहते हैं। धन की लालसा में हमेशा रौद्र-रूप धारण किए रहना, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए क्रूर-मे-क्रूर उपाय सोचते रहना, परिग्रहानन्द रौद्र ध्यान है।

यह आर्त और रौद्र ध्यान का संक्षिप्त परिचय है। आर्त ध्यान के लक्षण—शंका, भय, शोक, प्रमाद, कलह, चित्त-भ्रम, मन की चंचलता, विषय-भोग की इच्छा, उद्भ्रान्ति आदि हैं। अत्यधिक आर्त ध्यान के कारण मनुष्य जड़, मूढ़ एवं मूर्च्छित भी हो जाता है। आर्तध्यान का फल पुनर्जन्म में अनन्त दुखों से आकुल-व्याकुल पशु-गति प्राप्त करना है। उधर रौद्र ध्यान भी कुछ कम भयंकर नहीं है। रौद्र ध्यान के कारण मनुष्य को क्रूरता, दुष्टता, वंचकता, निर्दयता आदि दुर्गुण चारों ओर से घेर लेते हैं और वह सदैव लाल आँखें किए, भौंह चढ़ाए, भयानक आकृति बनाए राक्षस-जैसा रूप धारण कर लेता है। अत्यधिक रौद्र ध्यान का फल नरक गति होता है।

सामायिक का प्राण समभाव है, समता है। अतः साधक का कर्तव्य है कि वह अपनी साधना को आर्त और रौद्र ध्यानों से बचाने का प्रयत्न करे। कोई भी विचारशील देख सकता है कि उपर्युक्त आर्त और रौद्र विचारों के रहते हुए सामायिक की विशुद्धि कहाँ तक रह सकती है? * * *

———

१४ ‖ शुभ भावना

मानव-जीवन में भावना का वड़ा भारी महत्व है। मनुष्य अपनी भावनाओं से ही बनता-बिगड़ता है। हजारों लोग दुर्भावनाओं के कारण मनुष्य के उत्तम शरीर को पाकर भी राक्षस बन जाते हैं, और हजारों मनुष्य पवित्र विचारों के कारण देवों से भी ऊंची भूमिका को प्राप्त कर लेते हैं, फलतः देवों के भी पूज्य बन जाते हैं। मनुष्य श्रद्धा का, विश्वास का, भावना का बना हुआ है; जो जैसा सोचता है, विचारता है, भावना करता है, वह वैसा ही बन जाता है—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो; यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

—गीता १७।३

सामायिक एक पवित्रव्रत है। दिन-रात का चक्र यों ही संकल्प-विकल्पों में, इधर-उधर की उधेड़बुन में निकल जाता है। मनुष्य को सामायिक करते समय दो घड़ी ही शान्ति के लिये मिलती हैं। यदि साधक इन दो घड़ियों में भी मन को शान्त न कर सका, पवित्र न बना सका, तो फिर वह पवित्रता की उपासना कब करेगा? अतएव प्रत्येक जैनाचार्य सामायिक में शुभभावना भाने के लिए विशेष निर्देश करते हैं। पवित्र संकल्पों का बल अन्तरात्मा को महान् आध्यात्मिक शक्ति एवं विशुद्धि प्रदान करता है। आत्मा से परमात्मा के, नर से नारायण के पद पर पहुँचने का, यह विशुद्ध विचार ही स्वर्ण सोपान है।

सामायिक में विचारना चाहिए कि "मेरा वास्तविक हित एवं कल्याण, आत्मिक सुख-शान्ति के पाने में एवं अन्तरात्मा को विशुद्ध

वनाने में ही है। इन्द्रियों के भोगों से मेरी मनस्तृप्ति कदापि नहीं हो सकती। ये काम-भोग तो समुद्र की भांति अन्त हीन हैं—समुद्र इव हि कामः–तैत्ति० ब्रा० २।२।५ जैसे समुद्र के जल का कोई किनारा नहीं है, उसी प्रकार काम-तृष्णा का भी कोई किनारा नहीं है।

सामायिक के पथ पर अग्रसर होने वाले साधक को सुख की सामग्री मिलने पर हर्षोन्मत्त नहीं होना चाहिए और दुःख की सामग्री मिलने पर व्याकुल नहीं होना चाहिए, घबराना नहीं चाहिए। सामायिक का सच्चा साधक सुख-दुख दोनों को समभाव से भोगता है, दोनों को धूप तथा छाया के समान क्षणभंगुर मानता है।

सामायिक की साधना हृदय को विशाल वनाने के लिए है। अतएव जव तक साधक का हृदय विश्व-प्रेम से परिप्लावित नहीं हो जाता; तव तक साधना का सुन्दर रंग निखर ही नहीं पाता। हमारे प्राचीन आचार्यों ने सामायिक में समभाव की परिपुष्टि के लिये चार भावनाओं का वर्णन किया हैं—मैत्री, प्रमोद, करुणा, और माध्यस्थ्य।

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥[1]

—आचार्य अमितगतिः परमात्मा द्वात्रिंशिका १

(१) **मैत्री भावना**—संसार के समस्त प्राणियों के प्रति निस्वार्थ प्रेम-भाव रखना; अपनी आत्मा के समान ही सब को सुख-दुःख की अनुभूति करनेवाले समझना, मैत्री भावना है। जिस प्रकार मनुष्य अपने किसी विशिष्ट मित्र की हमेशा भलाई चाहता है, जहाँ तक अपने से हो सकता है, समय पर भलाई करता है, दूसरों से उसके लिये भलाई करवाने की इच्छा रखता है; उसी प्रकार जिस साधक का हृदय मैत्री भावना से परिपूरित हो जाता है, वह भी प्राणीमात्र की भलाई करने के लिए वहुत उत्सुक रहता है, सव को अपनेपन की वुद्धि से देखता है। वह किसी को भी किसी भी तरह का

---

१. तुलना कीजिए—

मैत्री करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनात श्चित्तप्रसादनम्। —योगदर्शन १।३३

कष्ट नहीं देना चाहता । वह समस्त विश्व को मित्ररूप में देखता है—

"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि पश्यामहे ।"

—यजुर्वेद ३६।१८

अर्थात् मैं सब जीवों को मित्र की आँखों से देखता हूँ, मेरा किसी से भी वैर-विरोध नहीं है, प्रत्युत सब के प्रति प्रेम है । भारतीय साहित्य में मैत्री के ये ही स्वर आपको सर्वत्र गूँजते हुए सुनाई देंगे, देखिए—

मित्ती मे सव्व भूएसु (आव० अ० ४)
मैत्तं च मे सव्वलोकस्सिं । (धम्मपद)

मेरी विश्व के सब प्राणियों के साथ मैत्री है—

(२) **प्रमोद भावना**— गुणवानों को, सज्जनों को, धर्मात्माओं को देखकर प्रेम से गद्गद हो जाना, मन में प्रसन्न हो जाना, प्रमोद भावना है । कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य अपने से धन, सम्पत्ति सुख, वैभव, विद्या, बुद्धि अथवा धार्मिक भावना आदि में अधिक बढ़े हुए उन्नतिशील साथी को देखकर ईर्ष्या करने लगता है । यह मनोवृत्ति बड़ी ही दूषित है । जब तक यह मनोविृत्ति दूर न हो जाय; तब तक अहिंसा, सत्य आदि कोई भी सद्गुण अन्तरात्मा में टिक नहीं सकता । इसीलिए भगवान् महावीर ने ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद भावना का उपदेश दिया है ।

इस भावना का यह अर्थ नहीं कि आप दूसरों को उन्नत देखकर किसी प्रकार का आदर्श ही न ग्रहण करें, उन्नति के लिए प्रयत्न ही न करें, और सदा दीन-हीन ही बने रहें । दूसरों के अभ्युदय को देखकर यदि अपने को भी वैसा ही अभ्युदय इष्ट हो तो उसके लिए न्याय, नीति के साथ प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए, उनको आदर्श बनाकर दृढ़ता से कर्म-पंथ पर अग्रसर होना चाहिए । शास्त्रकार तो यहाँ दुर्बल मनुष्यों के हृदय में दूसरों के अभ्युदय को देखकर जो डाह होता है, केवल उसे दूर करने का आदेश देते हैं ।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव दूसरों के गुणों की ओर ही अपनी दृष्टि रक्खे, दोषों की ओर नहीं । गुणों की ओर दृष्टि रखने से गुण-ग्राहकता के भाव उत्पन्न होते हैं, और दोषों की ओर दृष्टि रखने से अन्तःकरण पर दोष-ही-दोष छा जाते हैं । मनुष्य जैसा

चिन्तन करता है, वैसा ही बन जाता है। अतः प्रमोद भावना के द्वारा प्राचीन काल के महापुरुषों के उज्ज्वल एवं पवित्र गुणों का चिन्तन हमेशा करते रहना चाहिए। गजसुकुमार मुनि की क्षमा, धर्मरुचि मुनि की दया, भगवान् महावीर का वैराग्य, शालिभद्र का दान किसी भी साधक को विशाल आत्मिक शक्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

(३) **करुणा भावना**—किसी दीन-दुःखी को पीड़ा पाते हुए देख कर दया से गद्गद् हो जाना, उसे सुख-शान्ति पहुँचाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना, अपने प्रिय-से-प्रिय स्वार्थ का बलिदान देकर भी उसका दुःख दूर करना, करुणा भावना है। अहिंसा की पुष्टि के लिए करुणा भावना अतीव आवश्यक है। बिना करुणा के अहिंसा का अस्तित्त्व कथमपि नहीं हो सकता। यदि कोई बिना करुणा के अहिंसक होने का दावा करता है, तो समझ लो वह अहिंसा का उपहास करता है। करुणा-हीन मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु होता है; दुःखी को देख कर जिसका हृदय नहीं पिघला, जिसकी आँखों से सहानुभूति एवं प्रेम की धारा नहीं बही, वह किस भरोसे पर अपने को धर्मात्मा समझ सकता है?

(४) **माध्यस्थ्य भावना**—जो अपने से असहमत हों, विरोधी हों, उन पर भी द्वेष न रखना, उदासीन अर्थात् तटस्थभाव रखना; माध्यस्थ्य भावना है। कभी-कभी ऐसा होता है कि साधक को बिल्कुल ही संस्कार-हीन एवं धर्म-शिक्षा ग्रहण करने के सर्वथा अयोग्य, क्षुद्र, क्रूर, निन्दक, विश्वासघाती, निर्दय, व्यभिचारी तथा वक्र स्वभाव वाले मनुष्य मिल जाते हैं, और पहले-पहल साधक बड़े उत्साह-भरे हृदय से उनको सुधारने का, धर्म-पथ पर लाने का प्रयत्न करता है; परन्तु जब उनके सुधारने के सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, तो वह सहसा उद्विग्न हो उठता है, क्रुद्ध हो जाता है, विपरीताचरण वालों को अपशब्द तक कहने लगता है। भगवान् महावीर मनुष्य की इसी दुर्बलता को ध्यान में रख कर माध्यस्थ्य भावना का उपदेश करते हैं कि संसार-भर को सुधारने का केवल अकेले तुम ने ही ठेका नहीं ले रक्खा है। प्रत्येक प्राणी अपने-अपने संस्कारों के चक्र में है। जब तक भव-स्थिति का परिपाक नहीं होता है, अशुभ संस्कार क्षीण होकर शुभ संस्कार जागृत नहीं होते हैं, तब तक कोई सुधर नहीं सकता। तुम्हारा काम तो बस सद्भावना के साथ प्रयत्न करना है।

सुधरना और न सुधरना, यह तो उसकी स्थिति पर है। अपना प्रयत्न चालू रक्खो, संभव है कभी तो अच्छा परिणाम आ ही जाए !

विरोधी और दुश्चरित्र व्यक्ति को देखकर घृणा भी नहीं करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में माध्यस्थ्य भावना के द्वारा समभाव रखना, तटस्थ हो जाना ही श्रेयस्कर है। प्रभु महावीर को संगम आदि देवों ने कितने भयंकर कष्ट दिए, कितनी मर्मान्तक पीड़ा पहुंचाई; किन्तु भगवान् की माध्यस्थ्य वृत्ति पूर्ण रूप से अचल रही। उनके हृदय में विरोधियों के प्रति ज़रा भी क्षोभ एवं क्रोध नहीं हुआ। वर्तमान युग के संघर्षमय वातावरण में माध्यस्थ्य भावना की बड़ी भारी आवश्यकता है। * * *

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम् ।

—योगशास्त्र ७।१

ध्यान के इच्छुक साधक को तीन बातें जान लेनी चाहिए—१. ध्याता—ध्यान करने वाले की योग्यता। २. ध्येय—जिस का ध्यान किया जाता है उसका स्वरूप और ३. फल—ध्यान का फल।

१५ ‖ आत्मा ही सामायिक है

सामायिक के स्वरूप का वर्णन बहुत-कुछ किया जा चुका है। फिर भी, प्रश्न है कि सामायिक क्या है? बाह्य वस्तुओं के स्वरूप का निर्णय करने के लिए वैज्ञानिकों को कितना ऊहापोह, विचार-विमर्श, चिन्तन-मनन करना पड़ता है; तब कहीं जाकर वे वस्तु के वास्तविक स्वरूप तक पहुंच पाते हैं। भला, जब बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में यह बात है, तो सामायिक तो एक बहुत ही गूढ़ अन्तर्लोक की धार्मिक क्रिया है। उसके स्वरूप-परिज्ञान के लिए तो हमें पुनः-पुनः चिन्तन, मनन करने की आवश्यकता है। अतः पुनरुक्ति से घबराइये नहीं; चिन्तन के क्षेत्र में जहाँ तक प्रगति कर सकें, करने का प्रयत्न करें।

सामायिक क्या है? यह प्रश्न भगवती-सूत्र में बड़े ही सुन्दर ढग से उठाया गया है और इसका उत्तर भी आध्यात्मिक भावना की उच्चतम श्रेणी को लक्ष्य में रख कर दिया गया है। भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के कालास्यवेसी अनगार, भगवान् महावीर के अनुयायी स्थविर मुनिराजों के पास पहुंचते हैं और प्रश्न करते है कि "हे आर्यो! सामायिक क्या है? और उसका अर्थ—प्रयोजन—फल क्या है?" स्थविर मुनिराज उत्तर देते हैं कि "हे आर्य! आत्मा ही सामायिक है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ-फल है—

"आया सामाइए, आया सामाइयस अट्ठे।"

—भगवती-सूत्र, श० १, उ० ९

भगवती-सूत्र का यह सूत्र वचन बहुत संक्षिप्त है; किन्तु उसमे चिन्तन-सामग्री भरी हुई है। आइए, जरा स्पष्टीकरण कर लें कि विशाल आत्मा ही सामायिक और सामायिक का अर्थ किस प्रकार है?

निश्चयदृष्टि से सामायिक का स्वरूप

*

बात यह है सामायिक में पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव अर्थात् शुद्ध मार्ग अपनाया जाता है। समभाव को ही सामायिक कहते हैं। समभाव का अर्थ है बाह्य विषय-भोग की चंचलता से हटकर स्वभाव में—आत्म-स्वरूप में स्थिर होना, लीन होना। अस्तु, आत्मा का काषायिक विकारों से अलग किया हुआ अपना शुद्ध स्वरूप ही सामायिक है। और उस शुद्ध आत्म-स्वरूप को पा लेना ही सामायिक का अर्थ–फल है! यह निश्चयदृष्टि का कथन है, इसके अनुसार जबतक साधक स्व-स्वरूप में ध्यान-मग्न रहता है, उपशम-जल से राग-द्वेष के मल को धोता है, पर-परिणति को हटाकर आत्म-परिणति में रमण करता है; तब तक ही सामायिक है। और ज्यों ही संकल्पों-विकल्पों के कारण चंचलता होती है, बाह्य क्रोध, मान, माया, लोभ की ओर परिणति होती है, त्यों ही साधक सामायिक से शून्य हो जाता है। आत्म-स्वरूप की परिणति हुए बिना सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि सब-की-सब बाह्य धर्म साधनाएँ मात्र पुण्यास्रव-रूप हैं, मोक्ष की साधक-संवर रूप नहीं।

इसी भाव को भगवती-सूत्र में भगवान् महावीर ने तुंगिया नगरी के श्रावकों के प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट किया है। वहां वर्णन है कि "आत्म-परिणति—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के बिना, तप, संयम आदि की साधना से मात्र पुण्य-प्रकृति का बंध होता है, फलस्वरूप देव-भव की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं!" अतःसाधकों का कर्तव्य है कि निश्चय सामायिक की प्राप्ति का प्रयत्न करें। केवल सामायिक के बाह्य स्वरूप से चिपटे रहना और उसे ही सब-कुछ समझ लेना उचित नहीं।

व्यावहारिक भूमिका : क्रमिक विकास

*

निश्चय दृष्टि के सम्बन्ध में एक बड़ा ही विकट प्रश्न है। वह यह कि इस प्रकार शुद्ध आत्म-परिणतिरूप सामायिक तो कभी होती नहीं। मन बड़ा चंचल है, वह अपनी उछल-कूद भला कभी छोड़ पाता है? कभी नहीं। अब रहे केवल वचन और शरीर, सो उनको

रोके रखने भर से सामायिक की पूर्णता होती नहीं। अतः आजकल की सामायिक-क्रिया तो एक प्रकार से व्यर्थं ही हुई ?

इसके उत्तर में कहना है कि निश्चय सामायिक के स्वरूप का वर्णन करके उस पर जोर देने का यह भाव नहीं कि अन्तरंग साधना अच्छी तरह नहीं होती है, तो बाह्य साधना भी छोड़ ही दी जाए ! बाह्य साधना, भी आन्तरिक साधना के लिए अतीव आवश्यक है। सर्वथा शुद्ध निश्चय सामायिक तो साध्य है, उसकी प्राप्ति शुद्ध व्यवहार साधना करते-करते आज नहीं, तो कालान्तर में कभी-न-कभी होगी ही ! मार्ग पर एक-एक कदम बढ़ने वाला दुर्बल यात्री भी एक दिन अपनी मंजिल पर पहुंच जाएगा। अभ्यास की शक्ति महान् है। आप चाहें कि मन भर का पत्थर हम आज ही उठा लें, अशक्य है। किन्तु, प्रतिदिन क्रमशः सेर दो-सेर, तीन सेर आदि का पत्थर उठाते-उठाते, कभी एक दिन वह भी आएगा कि जब आप मन-भर का पत्थर भी उठा लेंगे।

अब रही मन की चंचलता ! सो, इससे भी घबराने की आवश्यकता नहीं। मन स्थिर न भी हो, तब भी आप टोटे में नहीं रहेंगे। वचन और शरीर के नियंत्रण का लाभ तो आपका कहीं नहीं गया। सामायिक का सर्वथा नाश मन, वचन और शरीर तीनों शक्तियों को सावद्य-क्रिया में संलग्न कर देने से होता है। केवल मनसा भंग अतिचार होता है, अनाचार नहीं। अतिचार का अर्थ—'दोष' है। और इस दोष की शुद्धि पश्चात्ताप एव आलोचना आदि से हो जाती है।

हाँ, तो यह ठीक है कि मानसिक शांति के बिना सामायिक पूर्ण नहीं, अपूर्ण है। परन्तु, इसका यह अर्थ तो नहीं कि पूर्ण न मिले, तो अपूर्ण को भी ठोकर मार दी जाए ? व्यापार में हजार का लाभ न हो, तो सौ, दो सौ का लाभ कहीं छोड़ा जाता है क्या ? आखिर, है तो लाभ ही, हानि तो नहीं ! जब तक रहने के लिए सातमंजिल का महल न मिले, तब तक झोंपड़ी ही सही। सर्दी-गर्मी से तो रक्षा होगी, कभी परिश्रमानुकूल भाग्य ने साथ दिया, तो महल भी कौन बड़ी चीज है, वह भी मिल सकता है ! परन्तु, महल के अभाव में झोंपड़ी छोड़कर सड़क पर भिखारियों की तरह पड़े रहना तो ठीक नहीं ! अपने-आप में व्यवहार सामायिक

भी एक बहुत बड़ी साधना है। जो लोग सामायिक न करके व्यर्थ ही इधर-उधर निन्दा, चुगली, झूठ, हिंसा, लड़ाई आदि करते फिरते हैं; उनकी अपेक्षा निश्चय सामायिक का न सही, व्यवहार सामायिक का ही जीवन देखिए, कितना ऊँचा है, कितना महान् है ? स्थूल पापाचारों से तो जीवन बचा हुआ है ? * * *

समाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सयं चेव।
—विशेपा० १५२६

सामायिक में उपयोग युक्त आत्मा स्वयं ही सामायिक है।

*

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥
—मैत्रा० आरण्यक ६।३४-४

चित्त के प्रसन्न (निर्मल) एवं शांत हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और प्रसन्न एवं शांतचित्त मनुष्य ही जब आत्मा में लीन होता है तब वह अविनाशी आनन्द प्राप्त करता है।

१६ || साधु और श्रावक की सामायिक

जैन-धर्म के तत्वों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह बात सहज ही ध्यान में आ सकती है कि यहाँ साधु और श्रावकों के लिए सर्वथा विभिन्न परस्पर विरोधी दो मार्ग नहीं हैं। आध्यात्मिक विकास की तरतमता के कारण दोनों की धर्म साधना में अन्तर अवश्य रक्खा गया है; पर दोनों साधनाओं का लक्ष्य एक ही है, पृथक् नहीं।

अतएव सामायिक के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है कि यह साधु और श्रावक दोनों के लिए आवश्यक है—

"अगारसामाइए चेव अणगार सामाइए चेव"

—स्थानांग सूत्र, स्था० २, उ० ३

सामायिक, साधना-क्षेत्र की प्रथम आवश्यक भूमिका है, अतः इसके बिना दोनों ही साधकों की साधनाएं पूर्ण नहीं हो सकतीं। परन्तु, आत्मिकविकास की दृष्टि से दोनों की सामायिक में अन्तर है। गृहस्थ की सामायिक अल्पकालिक होती है, और साधु की यावज्जीवन—जीवन-पर्यन्त के लिए।

दोनों की सामायिकसाधना का स्वरूप समझने के लिए निम्न सूत्रों पर ध्यान देना आवश्यक है।

साधु और साध्वी की सामायिक

*

करेमि भंते ! सामाइयं =हे भगवन् ! मैं समतारूप सामायिक करता हूँ।

सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि=सव सावद्य—पापों के व्यापार त्यागता हूँ।

जावज्जीवाए पज्जुवासामि=यावज्जीवन—जीवन-भर के लिए सामायिक ग्रहण करता हूँ।

तिविहं तिविहेणं =तीन करण, तीन योग से।

मणेणं वायाए काएणं =मन से, वचन से, शरीर से (पाप कर्म)।

न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि=न करूंगा, न कराऊंगा, करने वाले

अन्नं न समणुज्जाणामि दूसरे का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

तस्स भंते पडिक्कमामि हे भगवन् ! उस पापरूप व्यापार से हटता हूँ।

निंदामि, गरिहामि =निन्दा, करता हूँ, गर्हा—करता हूँ।

अप्पाणं वोसिरामि =पापमय आत्मा को वोसराता हूँ।

श्रावक और श्राविका की सामायिक

*

श्रावक और श्राविकाओं के सामायिक का पाठ भी यही है। केवल 'सव्वं सावज्जं' के स्थान में 'सावज्जं' 'जावज्जीवाए' के स्थान में 'जावनियमं', तिविहं तिविहेणं' के स्थान में 'दुविहं तिविहेणं' बोला जाता है। और 'करंतं पि अन्नं न समणुज्जाणामि' यह पद बिल्कुल ही नहीं बोला जाता।

पाठक समझ गए होंगे कि साधु और श्रावकों के सामायिक व्रत में कितना अन्तर है? आदर्श एक ही है; किन्तु गृहस्थ देश संयमी है, परिग्रह आदि रखता है, अतः वह तीन करण, तीन योग से पापों का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। वह सामायिक-काल में मन-वचन और शरीर से पाप-कर्म न स्वयं करेगा, न दूसरों

से करवाएगा। परन्तु, घर या दुकान आदि पर होने वाले पापारम्भ के प्रति गृहस्थ का आन्तरिक ममतारूप अनुमोदन चालू रहता है; अतः अनुमोदन का त्याग नहीं किया जा सकता। साधु पूर्ण संयमी है, वह अपने जीवन में कोई भी पाप-व्यापार नहीं रखता, अतः वह अनुमोदन का भी त्याग करता है। गृहस्थ पापारम्भ से सदा के लिए अलग होकर गृह-जीवन की नौका नहीं खे सकता। वह सामायिक से पहले भी आरम्भ करता रहता है और सामायिक के बाद भी उसे करना है; अतः वह दो घड़ी के लिए ही सामायिक ग्रहण कर सकता है, यावज्जीवन के लिए नहीं। आवश्यक-निर्युक्ति की अपनी टीका में आचार्य हरिभद्र ने विशेष स्पष्टीकरण किया है; अतः विशेष जिज्ञासु उसे पढ़ने का कष्ट करें।

साधु की अपेक्षा गृहस्थ की सामायिक में काफी अन्तर है; फिर भी इतना नहीं है कि वह सर्वथा ही कोई अलग-थलग मार्ग हो। दो घड़ी के लिए सामायिक में गृहस्थ यदि पूर्ण साधु नहीं तो, साधु जैसा अवश्य ही हो जाता है। उच्च जीवन के अभ्यास के लिए, गृहस्थ प्रतिदिन सामायिक ग्रहण करता है और उतनी देर के लिए वह संसार के धरातल से ऊपर उठ कर उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच जाता है। अतः आवश्यक निर्युक्ति को उद्धृत करते हुए आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने ठीक ही कहा है—

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा॥

—विशेपावश्यक-भाष्य, २६६०

—सामायिक करने पर श्रावक साधु-जैसा हो जाता है, वासनाओं से जीवन को बहुत-कुछ अलग कर लेता है; अतएव श्रावक का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन सामायिक ग्रहण करे, समता-भाव का आचरण करे।

---

१७ ‖ सामायिक के छह आवश्यक

जैन-धर्म की धार्मिक क्रियाओं में छः आवश्यक मुख्य माने गए हैं। आवश्यक का अर्थ है—प्रतिदिन अवश्य करने योग्य आत्म-विशुद्धि करने वाले धार्मिक अनुष्ठान। वे छह आवश्यक इस प्रकार हैं—(१) सामायिक— समभाव, (२) चतुर्विंशतिस्तव—चौबीसों भगवान् की स्तुति, (३) वन्दन—गुरुदेव को नमस्कार, (४) प्रतिक्रमण—पापाचार से हटना, (५) कायोत्सर्ग=शरीर का ममत्व त्याग कर ध्यान करना, (६) प्रत्याख्यान—पाप-कार्यों का त्याग करना।

उक्त आवश्यकों का पूर्ण रूप से आचरण तो प्रतिक्रमण करते समय किया जाता है। किन्तु, सर्वप्रथम जो यह सामायिक आवश्यक है; इस में भी साधक को आगे के पाँच आवश्यकों की झाँकी मिल जाती है।

'करेमि सामाइयं', में सामायिक आवश्यक का, 'भंते' में चतुर्विंशति स्तव का, 'तस्स भंते' में गुरु-वन्दन का, 'पडिक्कमामि', में प्रतिक्रमण का, 'अप्पाणं वोसिरामि' में कायोत्सर्ग का, 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' में प्रत्याख्यान आवश्यक का समावेश हो जाता है। अतएव सामायिक करने वाले महानुभाव, जरा गहरे आत्म-निरीक्षण में उतरें, तो वे सामायिक के द्वारा भी छहों आवश्यकों का आचरण करते हुए अपना आत्म-कल्याण कर सकते हैं।

१८ ‖ सामायिक कब करनी चाहिए ?

आजकल सामायिक के काल के सम्बन्ध में बड़ी ही अव्य-वस्था चल रही है। कोई प्रातःकाल करता है, तो कोई सायंकाल। कोई दुपहर को करता है; तो कोई रात को। मतलब यह है कि मनमानी कल्पना से जो जब चाहता है, तभी कर लेता है, समय की पाबंदी का कोई खयाल नहीं रक्खा जाता।

अपने-आपको क्रान्तिकारी सुधारक कहने वाले तर्क करते हैं कि "इससे क्या ? यह तो धर्म-क्रिया है, जब जी चाहे, तभी कर लेनी चाहिए। काल के बन्धन में पड़ने से क्या लाभ?" मुझे इस कुतर्क पर बड़ा ही दुःख होता है। भगवान् महावीर ने स्थान-स्थान पर काल की नियमितता पर बल दिया है। प्रतिक्रमण-जैसी धार्मिक क्रियाओं के लिए भी असमय के कारण प्रायश्चित्त तक का विधान किया है। सूत्रों के स्वाध्याय के लिए क्यों समय का ख़याल रक्खा जाता है ? धार्मिक क्रियाएं तो मनुष्य को और अधिक नियंत्रित करती हैं, अतः इनके लिए तो समय का पाबंद होना अतीव आवश्यक है।

यह ठीक है कि परिपक्व दशा में पहुँचा हुआ उत्कृष्ट साधक काल से बद्ध नहीं होता, उसके लिए हर समय ही साधना का काल है। इसीलिए साधु को यावज्जीवन की सामायिक बतलाई है। साधु का हर क्षण सामायिक स्वरूप होता है। अतः यहाँ उत्कृष्ट साधक का प्रश्न नहीं, प्रश्न है—साधारण साधक का। उसके लिए निय-मितता आवश्यक है।

समय की नियमितता का मन पर बड़ा चमत्कारी प्रभाव होता है। उच्छृङ्खल मन को यों ही अव्यवस्थित छोड देने से वह और भी अधिक उच्छृंखल हो उठता है। रोगी को औषधि समय पर दी जाती है। अध्ययन के लिए विद्यामन्दिरों में समय निश्चित होता है। विशिष्ट व्यक्ति अपने भोजन, शयन आदि का समय भी ठीक निश्चित रखते हैं। अधिक क्या, साधारण व्यसनों तक की नियमितता का भी मन पर बड़ा प्रभाव होता है। तमाखू आदि दुर्व्यसन करने वाले मनुष्य, नियत समय पर ही दुर्व्यसनों का संकल्प करते हैं। अफीम खाने वाले व्यक्ति को ठीक नियत समय पर अफीम की याद आजाती है, और यदि उस समय न मिले, तो उसका चित्त चंचल हो जाता है। इसी प्रकार सदाचार के कर्तव्य भी अपने लिए समय के नियम की अपेक्षा रखते हैं। साधक को समय का इतना अभ्यस्त हो जाना चाहिए कि वह नियत समय पर अन्य कार्य छोड़ कर सर्वप्रथम आवश्यक धर्म-क्रिया करे। यह भी क्या धार्मिक जीवन है कि आज प्रातःकाल, तो कल दुपहर को, परले दिन सायंकाल, तो उससे अगले दिन किसी और ही समय। आजकल यह अनियमितता बहुत ही बढ़ रही है। इससे न धर्म के समय धर्म ही होता है और न कर्म के समय कर्म ही।

प्रश्न किया जा सकता है कि फिर कौन-से काल का निश्चय करना चाहिए? उत्तर में कहना है कि सामायिक के लिए प्रातः और सायंकाल का समय बहुत ही सुन्दर है। प्रकृति के लीला-क्षेत्र संसार में वस्तुतः इधर सूर्योदय का और उधर सूर्यास्त का समय, बड़ा ही सुरम्य एवं मनोहर होता है। संभव है नगर की गलियों में रहने वाले आप लोग दुर्भाग्य से प्रकृति के इस विलक्षण दृश्य के दर्शन से वंचित हों; परन्तु यदि कभी आप को नदियों के सुरम्य तटों पर, पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर, या बीहड़ वनों में रहने का प्रसंग हुआ हो और वहाँ दोनों सन्ध्याओं के सुन्दर दृश्य आँखों की नजर पड़े हों, तो मैं निश्चय से कहता हूँ कि आप उस समय आनन्द-विभोर हुए बिना न रहे होंगे। ऐसे प्रसंगों पर किसी भी दर्शक का भावुक अन्तःकरण उदात्त और गम्भीर विचारों से परिपूर्ण हुए विना नहीं रह सकता। लेखक

उत्कल (उड़ीसा) में उदयगिरि पर और मगध में वैभारगिरि एवं विपुलाचल पर ध्यानसाधना में रहा है, अतः वह तत्कालीन प्रभात और सायंकाल के सुन्दर एवं सुमनोहर दृश्य अब भी भूला नहीं। जब कभी स्मृति आती है, हृदय आनन्द से गुदगुदाने लगता है! उस समय ध्यान में मानसिक एकाग्रता वस्तुतः बहुत अद्भुत होती थी।

हाँ, तो प्रभात का समय तो ध्यान, चिन्तन आदि के लिए बहुत ही सुन्दर माना गया है। सुनहरा प्रभात, एकान्त, शान्ति और प्रसन्नता आदि की दृष्टि से वस्तुतः प्रकृति का श्रेष्ठ रूप है। इस समय हिंसा और क्रूरता नहीं होती, दूसरे मनुष्यों के साथ सम्पर्क न होने के कारण असत्य एवं कटु भाषण का भी अवसर नहीं आता, चोर चोरी से निवृत्त हो जाते हैं, कामी पुरुष कामवासना से निवृत्ति पा लेते हैं। अस्तु, हिंसा, असत्य, स्तेय और अब्रह्मचर्य आदि के कुरुचि-पूर्ण दृश्यों के न रहने से आस-पास का वायु-मण्डल अशुद्ध विचारों से स्वयं ही शुद्ध-अदूषित रहता है। इस प्रकार सामायिक की पवित्र क्रिया के लिए वह समय बड़ा ही पुनीत है। यदि प्रभात काल में न हो सके, तो सायंकाल का समय भी दूसरे समयों की अपेक्षा शान्त माना गया है। * * *

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौचानुचिंतयेत्।

—मनु० ४।६२

प्रातः काल ब्राह्ममुहूर्त में जागकर प्रथम धर्म का और तदनन्तर अर्थ का चिंतन करना चाहिये।

१९ || आसन कैसा ?

उपर्युक्त शीर्षक के नीचे मैं फर्श पर विछाये जाने वाले ग्रासनों की बात नहीं कह रहा हूँ। यहाँ ग्रासन से ग्रभिप्राय वैठने के ढंग से है। कुछ लोगों का बैठना बड़ा ही ग्रव्यवस्थित होता है। वे जरा-सी देर भी स्थिर होकर नहीं बैठ सकते। ग्रस्थिर ग्रासन मन की दुर्बलता ग्रौर चंचलता का द्योतक है। भला, जो साधक दो घड़ी के लिए भी ग्रपने शरीर पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह ग्रपने मन पर क्या खाक विजय प्राप्त करेगा ?

ग्रासन, योग के ग्राठ ग्रंगों में से तीसरा ग्रंग माना गया है[1]। इससे शरीर में रक्त की शुद्धि होती है, रक्तशुद्धि से स्वास्थ्य ठीक रहता है ग्रौर स्वास्थ्य ठीक होने से उच्च विचारों को वल मिलता है, मानसिक एकाग्रता बढ़ती है। सिर नीचा झुकाये, पीठ को दुहरी किये, पैरों को फैलाये बैठे रहने वाला मनुष्य कभी भी महान् नहीं बन सकता। दृढ़ ग्रासन का मन पर वडा गहरा प्रभाव पड़ता है। शरीर की कड़क मन में कड़क ग्रवश्य लाती है ग्रतएव सामायिक में सिद्धासन ग्रथवा पद्मासन ग्रादि, किसी एक ग्रपनी स्थिति के ग्रनुकूल सुखद ग्रासन से स्थिर हो कर बैठने का ग्रभ्यास रखना चाहिए। मस्तिष्क का सम्बन्ध पीठ पर की रीढ़ की हड्डियों से है, ग्रतः पीठ के मेरुदण्ड को भी तना हुग्रा रखना ग्रावश्यक है।

---

१. यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।

—पातंजलयोगदर्शन २।२९

आसनों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए प्राचीन योगशास्त्र आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना अधिक अच्छा होगा। यदि पाठक इतनी दूर न जाना चाहें, तो उन्हें लेखक की 'महामंत्र-नवकार' नामक पुस्तक से भी थोड़ा-सा आवश्यक परिचय मिल सकेगा। यहाँ तो केवल दो-तीन सुप्रसिद्ध आसनों का उल्लेख ही पर्याप्त रहेगा।

१. **सिद्धासन**—बाएँ पैर की एड़ी से जननेन्द्रिय और गुदा के बीच का स्थान को दबा कर दाहिने पैर की एड़ी से जननेन्द्रिय के ऊपर के प्रदेश को दबाना, ठुड्डी को हृदय में जमाना, और देह को सीधा तना हुआ रख कर दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि को केन्द्रित करना, सिद्धासन है।

२. **पद्मासन**—बायीं जांघ पर दाहिना पैर और दाहिनी जांघ पर बायाँ पैर रखना, फिर दोनों हाथों को लम्बा करके दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा आदि के रूप में चित रखना अथवा दोनों हाथों की हथेलियों को नाभि के नीचे ध्यान मुद्रा में रखना, पद्मासन है। हथेली पर हथेली रखते समय बाएं हाथ की हथेली के ऊपर दाहिने हाथ की हथेली रखने का ध्यान रहना चाहिए।

३. **पर्यंकासन**—दाहिना पैर बायीं जांघ के नीचे और बायां पैर दाहिनी जांघ के नीचे दबा कर बैठना, पर्यंकासन है। पर्यंकासन का दूसरा नाम सुखासन भी है। सर्वसाधारण इसे आलथी-पालथी भी कहते हैं। * * *

२० ‖ पूर्व और उत्तर दिशा ही क्यों ?

सामायिक करने वाले को अपना मुख पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर रखना श्रेष्ठ माना गया है। श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण लिखते हैं—

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व दिज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा।

—विशेषावश्यक-भाष्य ३४०६

शास्त्रस्वाध्याय, प्रतिक्रमण, और दीक्षा-दान आदि धर्म-क्रियाएं पूर्व और उत्तर दिशा की ओर करने का विधान है। स्थानांग-सूत्र में भगवान् महावीर ने भी इन्हीं दो दिशाओं का महत्व वर्णन किया है। अतः सामायिक करते समय सामने यदि गुरुदेव विद्यमान हों तो उनके सन्मुख बैठते हुए अन्य किसी दिशा में भी मुख किया जा सकता है परन्तु अन्य स्थान पर तो पूर्व और उत्तर की ओर मुख रखना ही उचित है।

जब कभी पूर्व और उत्तर दिशा का विचार चल पड़ता है, तो प्रश्न किया जाता है कि पूर्व और उत्तर दिशा में ही ऐसा क्या महत्त्व है, जो कि अन्य दिशाओं को छोड़ कर इनकी ओर ही मुख किया जाए? उत्तर में कहना है कि इस में शास्त्रपरम्परा ही सब से बड़ा प्रमाण है। अभी तक आचार्यों ने इस के वैज्ञानिक महत्व पर कोई विस्तृत प्रकाश नहीं डाला है। हां, अभी-अभी वैदिक विद्वान् सातवलेकर जी ने इस सम्बन्ध में कुछ लिखा है और वह काफी विचारणीय है।

पूर्वदिशा : प्रगति की प्रतीक

*

प्राची दिशा—आगे बढ़ना, उन्नति करना; अग्रभाग में हो जाना—यह प्राञ्च-'प्र' पूर्वक 'अञ्चु' धातु का मूल अर्थ है, जिससे पूर्वदिशावाचक प्राची शब्द बना है । 'प्र' का अर्थ प्रकर्ष, आधिक्य, आगे, सम्मुख है । 'अञ्चु' का अर्थ-गति और पूजन है । अर्थात् जाना, बढ़ना, प्रगति करना, चलना, सत्कार और पूजा करना है । इस प्रकार प्राची शब्द का अर्थ हुआ-आगे बढ़ना, उन्नति करना, प्रगति करना, अभ्युदय को प्राप्त करना, ऊपर चढ़ना आदि ।

पूर्व दिशा का यह गौरवमय वैभव प्रातःकाल अथवा रात्रि के समय अच्छी तरह ध्यान में आ सकता है । प्रातःकाल पूर्व दिशा की ओर मुख कीजिए, आप देखेंगे कि अनेकानेक चमकते हुए तारा-मण्डल पूर्व की ओर से उदय होकर अनन्त आकाश की ओर चढ़ रहे हैं; अपना सौम्य और शीतल प्रकाश फैला रहे हैं ! कितना अभुद्त दृश्य होता है वह ! सर्वप्रथम रात्रि के सघन अन्धकार को चीर कर अरुण प्रभा का उदय भी पूर्व दिशा से होता है । वह अरुणिमा कितनी मनोमोहक होती है ! सहस्ररश्मि सूर्य का अमित आलोक भी इसी पूर्व दिशा की देन है । तमोगुण-स्वरूप अन्धकार का नाश करके सत्त्वगुण-प्रधान प्रकाश जब चारों ओर अपनी उज्ज्वल किरणें फैला देता है, तो सरोवरों में कमल खिल उठते हैं, वृक्षों पर पक्षी चहचहाने लगते हैं, सुप्त संसार अँगड़ाई लेकर खड़ा हो जाता है, प्रकृति के अणु-अणु में नवजीवन का संचार हो जाता है ।

हाँ, तो पूर्व दिशा हमें उदय-मार्ग की सूचना देती है, अपनी तेजस्विता बढ़ाने का उपदेश करती है । एक समय का अस्त हुआ सूर्य पुनः अभ्युदय को प्राप्त होता है, और अपने दिव्य तेज से संसार को जगमगा देता है । एक समय का क्षीण हुआ चन्द्रमा पुनः पूर्णिमा के दिन पूर्ण मण्डल के साथ उदय होकर संसार को दुग्ध-धवल चाँदनी से नहला देता है । इसी प्रकार अनेकानेक तारक अस्तंगत होकर भी पुनः अपने सामर्थ्य से उदय हो जाते हैं, तो क्या मनुष्य अपने सुप्त अन्तस्तेज को नहीं

जगा सकता ? क्या कभी किसी कारण से सुप्त एवं अवनत हुए अपने जीवन को जागृत एवं उन्नत नहीं कर सकता ? अवश्य कर सकता है। मनुष्य महान् है, वह जीता-जागता चलता—फिरता ईश्वर है। उसकी अलौकिक शक्तियाँ सोई पडी हैं। जिस दिन वे जागृत होंगी, जीवन में सब ओर मंगल-ही - मंगल नजर आएगा। पूर्व दिशा हमें संकेत करती है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल पर, अपनी इच्छा के अनुसार, अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। वह सदा पतित और हीन दशा में रहने के लिए नहीं है, प्रत्युत पतन से उत्थान की ओर अग्रसर होना, उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है।

उत्तर दिशा : उच्चता व दृढता का आत्म-बोध

*

उत्तर दिशा—उत् अर्थात् उच्चता से तर—अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर दिशा से ध्वनित होता है, तो उत्तर का अर्थ हुआ—ऊँची गति, ऊँचा जीवन, ऊँचा आदर्श पाने का संकेत। शरीर शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य का हृदय भी बाँई बगल की ओर है, अतः वह उत्तर है। मानव-शरीर में हृदय का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। वह एक प्रकार से आत्मा का केन्द्र ही है। जिसका हृदय जैसा ऊँच-नीच अथवा शुद्ध-अशुद्ध होता है, वह वैसा ही बन जाता है। मनुष्य के पास जो भक्ति, श्रद्धा, विश्वास और पवित्र भावना का भाग है, वह लौकिक दृष्टि से भी उत्तर दिशा में—हृदय में ही है। इसी आशय से संभवतः यजुर्वेद के मंत्र द्रष्टा ने कहा है— इदमुत्तरात् स्वः। —यजुर्वेद १३।५७

उत्तर दिशा में स्वर्ग है अर्थात् हृदय की उत्तर अर्थात उत्तम विचार दृष्टि में ही स्वर्ग है। अस्तु, उत्तर दिशा हमें संकेत करती है कि हम हृदय को विशाल, उदार, उच्च एवं पवित्र बनाएँ।

उत्तर दिशा का दूसरा नाम ध्रुव दिशा भी है। प्रसिद्ध ध्रुव नक्षत्र, जो अपने केन्द्र पर ही रहता है, इधर-उधर नहीं होता,

उत्तर दिश में है। अतः पूर्व दिशा जहाँ प्रगति की, हल-चल की सन्देशवाहिका है; वहाँ उत्तर दिशा स्थिरता, दृढ़ता, निश्चयात्मकता एवं अचल आदर्श की प्रतीक है। जीवन-संग्राम में गति के साथ स्थिरता, हलचल के साथ शान्ति और स्वस्थता अत्यन्त अपेक्षित है। केवल गति और केवल स्थिरता जीवन को पूर्ण नहीं बनातीं; किन्तु दोनों का मेल ही जीवन को ऊँचा उठाता है। प्रगति और दृढ़ता के विना कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

उत्तर दिशा की चमत्कारिक शक्ति के सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। ध्रुव-यन्त्र यानी कुतुबनुमा में जो लोह-चुम्बक की सुई होती है, वह हमेशा उत्तर की ओर रहती है। लोह चुम्बक की सुई जड़ पदार्थ है, अतः उसे स्वयं तो उत्तर, दक्षिण का कोई परिज्ञान नहीं, जो उधर घूम जाए। अतएव मानना होगा कि उत्तर दिशा में ही ऐसी कोई विशेष शक्ति व आकर्षण है, जो, सदैव लोह-चुम्बक को अपनी ओर आकृष्ट किये रहती है। हमारे पूर्वाचार्यों के मन में कहीं यह तो नहीं था कि यह शक्ति मनुष्य पर भी अपना कुछ प्रभाव डालती है ?

भौतिक दृष्टि से भी दक्षिण दिशा की ओर शक्ति की क्षीणता तथा उत्तर दिशा की ओर शक्ति की अधिकता प्रतीत होती है। दक्षिण देश के लोग कुछ दुर्बल एवं कृष्ण वर्ण होते हैं। उत्तर दिशा के बलवान एवं गौरवर्ण होते हैं। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि अवश्य ही मनुष्यों के खान-पान, चाल-चलन, रहन-सहन एवं सबलता-निर्बलता आदि पर दक्षिण और उत्तर दिशा का कोई विशेष प्रभाव पड़ता है। आज भी पुराने विचारों के भारतीय दक्षिण और पश्चिम को पैर करके सोना पसंद नहीं करते।

जैन संस्कृति ही नहीं, वैदिक-संस्कृति में भी पूर्व और उत्तर दिशा का ही गौरव गान किया गया है। दक्षिण यम की दिशा मानी है और पश्चिम वरुण की। ये दोनों देव क्रूर प्रकृति के माने गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में पूर्व देवताओं की, और उत्तर मनुष्यों की दिशा कथन की गई है—

"प्राची हि देवानां दिक् योदीची दिक् सा मनुष्याणाम्';

—शतपथ, दिशा वर्णन

किं वहुना, विद्वानों को इस सम्बन्ध में और भी अधिक ऊहापोह करने की आवश्यकता है। मैंने तो यहाँ केवल दिशासूचन के लिए ही ये कुछ पंक्तियाँ लिख छोड़ी हैं। * * *

वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।

—मनुस्मृति ७।१०५

अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने हेतु साधक को बगुले की तरह एकाग्र होकर विचार करना चाहिए और सिंह की भांति साहस पूर्वक पराक्रम करना चाहिए।

२१ ‖ प्राकृत भाषा में ही क्यों ?

सामायिक के पाठ भारत की बहुत प्राचीन प्राकृत भाषा अर्द्ध मागधी में हैं । इस सम्बन्ध में आजकल तर्क किया जा रहा है कि हमें तो भावों से मतलब है, शब्दों के पीछे बँधे रहने से क्या लाभ ? मागधी के गूढ पाठों को तोते की तरह पढ़ते रहने से हमें कुछ भी भाव पल्ले नहीं पड़ते । अतः अपनी अपनी गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि लोकभाषाओं में पाठों को पढ़ना ही लाभ-प्रद है ।

महापुरुषों की वाणी

*

प्रश्न बहुत सुन्दर है, किन्तु अधिक गम्भीर विचारणा के समक्ष फीका पड़ जाता है । महापुरुषों की वाणी में और जन-साधारण की वाणी में बड़ा अन्तर होता है । महापुरुषों की वाणी के पीछे उनके प्रौढ़, सदाचारमय जीवन के गम्भीर अनुभव रहते हैं, जब कि जनसाधारण की वाणी जीवन के बहुत ऊपर के स्थूल स्तर से ही सम्बन्ध रखती है । यही कारण है कि महापुरुषों के सीधे-सादे साधारण शब्द भी हृदय में असर कर जाते हैं, जीवन की धारा बदल देते हैं, भयंकर-से भयंकर पापी को भी धर्मात्मा और सदाचारी बना देते हैं, जब कि साधारण मनुष्यों की अलंकारमयी लच्छेदार वाणी भी कुछ असर नहीं कर पाती । क्या कारण है, जो महान् आत्माओं की वाणी हजारों-लाखों वर्षों के पुराने युग से आज तक बराबर जीवित चली आरही है, और आजकल के लोगों

की वाणी उनके समक्ष ही मृत हो जाती है ? हाँ, तो इसमें सन्देह नहीं कि महापुरुषों के वचनों में कुछ विलक्षण प्रामाण्य, पवित्रता एवं प्रभाव रहता है, जिसके कारण हजारों वर्षों तक लोग उसे बड़ी श्रद्धा और भक्ति से मानते रहते हैं, प्रत्येक अक्षर को बड़े आदर और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। महा-पुरुषों के अन्दर जो दिव्य दृष्टि होती है, वह साधारण लोगों में नहीं होती। और यह दिव्य दृष्टि ही प्राचीन पाठों में गम्भीर अर्थ और विशाल पवित्रता की झाँकी दिखलाती है।

अनुवाद, केवल छाया-चित्र

*

महापुरुषों के वाक्य बहुत नपे-तुले होते हैं। वे ऊपर से देखने में अल्पकाय मालूम होते हैं, परन्तु उनके भावों की गम्भीरता अपरम्पार होती है। प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आन्तरिक भावों को प्रकट करने की जो शक्ति है, वह प्रान्तीय भाषाओं में नहीं आ सकती। प्राकृत में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, और वे सब-के-सब यथा-प्रसंग बड़े ही सुन्दर भावों का प्रकाश फैलाते हैं। हिन्दी आदि भाषाओं में यह खूबी नहीं है। मैं साधारण आदमियों की बात नहीं कहता, बड़े-बड़े विद्वानों का कहना है कि प्राचीन मूल ग्रन्थों का पूर्ण अनुवाद होना अशक्य है। मूल के भावों को आज की भाषाएँ अच्छी तरह छू भी नहीं सकतीं। जब हम मूल को अनुवाद में उतारना चाहते हैं, तो हमें ऐसा लगता है, मानों ठाठें मारते हुए महासागर को एक क्षुद्र गगरी में बन्द कर रहे हैं, जो सर्वथा असम्भव है। चन्द्र, सूर्य, और हिमालय के चित्र लिए जा रहे हैं; परन्तु वे चित्र मूल वस्तु का साक्षात् प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। चित्र का सूर्य कभी प्रकाश नहीं दे सकता। इसी प्रकार अनुवाद केवल मूल का छाया-चित्र है। उस पर से आप मूल के भावों की अस्पष्ट झाँकी अवश्य ले सकते हैं; परन्तु सत्य के पूर्ण दर्शन नहीं कर सकते। बल्कि अनुवाद में आकर मूल का भाव कभी-कभी असत्य से मिश्रित भी हो जाता है। व्यक्ति अपूर्ण है, अतः वह अनुवाद में अपनी भूल की पुट कहीं-न-कहीं दे ही देता है, अतएव आज के धुरंधर विद्वान् टीकाओं पर विश्वस्त नहीं होते, वे मूल

का अवलोकन करने के बाद ही अपना विचार स्थिर करते हैं। अतएव प्राकृत पाठों की जो बहुत पुरानी परंपरा चली आ रही है, वह पूर्णतः उचित है। उसे बदल कर हम कल्याण की ओर नहीं जाएँगे, प्रत्युत सत्य से भटक जाएँगे !

प्राकृत एकता की प्रतीक

*

व्यवहारदृष्टि से भी प्राकृत-पाठ ही औचित्य पूर्ण हैं। हमारी धर्म-क्रियाएँ मानव-समाज की एकता की प्रतीक हैं। साधक किसी भी जाति के हों, किसी भी प्रांत के हों, किसी भी राष्ट्र के हों, जब वे एक ही स्थान में, एक ही वेश-भूषा में; एक ही पद्धति में, एक ही भाषा में धार्मिक पाठ पढ़ते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, जैसे सब भाई-भाई हों, एक ही परिवार के सदस्य हों। क्या कभी आपने मुसलमान भाइयों को ईद की नमाज पढ़ते देखा है ? हजारों मस्तक एक साथ भूमि पर झुकते और उठते हुए कितने सुन्दर मालूम होते हैं ? कितनी गंभीर नियमितता ! हृदय को मोह लेती है। एक ही अरबी भाषा का उच्चारण किस प्रकार उन्हें एक ही संस्कृति के सूत्र में बांधे हुए है ? लेखक के पास एक बार देहली में श्री आनन्दराज जी सुराना एक जापानी व्यापारी को लाए, जो अपने आपको बौद्ध कहता था। मैंने पूछा कि "धार्मिक पाठ के रूप में आप क्या पाठ पढ़ा करते हो ?"—तो उसने सहसा पाली भाषा के कुछ पाठ अपनी अस्फुट-सी ध्वनि में उच्चारण किए। मैं आनन्द-विभोर हो गया—अहा ! पाली के मूल पाठों ने किस प्रकार भारत, चीन, जापान आदि सुदूर देशों को भी एक भ्रातृत्व के सूत्र में बाँध रक्खा है। अस्तु, सामायिक के मूल पाठों का भी मैं यही स्थान देखना चाहता हूं। गुजराती, बंगाली, हिन्दी और अंग्रेजी आदि की अलग-अलग खिचड़ी मुझे कतई पसन्द नहीं। यह विभिन्न भाषाओं का मार्ग हमारी प्राचीन सांस्कृतिक एकता के लिए कुठाराघात सिद्ध होगा।

अर्थज्ञान आवश्यक

*

अब रही भाव समझने की बात ! उसके सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि टीका-टिप्पणियों के आधार से थोड़ा-बहुत मूल

भाषा से परिचय प्राप्त करके अर्थों को समझने का प्रयत्न किया जाए। बिना भाव समझे हुए मूल का वास्तविक आनन्द आप नहीं उठा सकते। आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "बिना अर्थ समझे हुए शास्त्रपाठी की ठीक वही दशा होती है, जो दलदल में फंसी हुई गाय की होती है। वह न बाहर आने लायक रहती है और न अन्दर जल तक पहुँचने के योग्य ही। उभयतो-भ्रष्टदशा में ही अपना जीवन समाप्त कर देती है।"

आजकल अर्थ की ओर ध्यान न देने की हमारी अज्ञानता बड़ा ही भयंकर रूप पकड़ गयी है। न शुद्ध का पता न, अशुद्ध का। एक रेलगाड़ी की तरह पाठों के उच्चारण किये जाते हैं, जो तटस्थ विद्वान् श्रोता को हमारी मूर्खता का परिचय कराये बिना नहीं रहते। अर्थ को न समझने से बहुत कुछ भ्रान्तियां भी फैली रहती हैं। हँसी की बात है कि—"एक बाई 'करेमि भंते' का पाठ पढ़ते हुए 'जाव' के स्थान में 'आव' कहती थीं। पूछने पर उसने तर्क के साथ कहा कि सामायिक को तो बुलाना है, अतः उसे 'जाव' क्यों कहें? 'आव' कहना चाहिए!"

इस प्रकार के एक नहीं; अनेक उदाहरण आपको मिल सकते हैं। साधकों का कर्तव्य है कि दुनियादारी की झंझटों से अवकाश निकाल कर अवश्य ही अर्थ जानने का प्रयत्न करें। कुछ अधिक पाठ नहीं हैं। थोड़े से पाठों को समझ लेना आपके लिए आसान ही होगा, मुश्किल नहीं। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में इसीलिए यह प्रयत्न किया है, आशा है इससे कुछ लाभ उठाया जाएगा!

—oo—

२२ || दो घड़ी ही क्यों ?

सामायिक का कितना काल है ? यह प्रश्न आजकल काफी चर्चा का विषय बना हुआ है। आज का मनुष्य सांसारिक झंझटों के नीचे अपने-आपको इतना फँसाये जा रहा है कि वह अपनी आत्म-कल्याणकारिणी धार्मिक क्रियाओं को करने के लिए भी अवकाश नहीं निकालना चाहता। यदि चाहता भी है, तो इतना चाहता है कि जल्दी से जल्दी कर-कराके छुटकारा मिले और बस घर के काम-धन्धे में लगे। इसी मनोवृत्ति के प्रतिनिधि कितने ही सज्जन कहते हैं कि "सामायिक स्वीकार करने का पाठ 'करेमि भंते' है। उसमें केवल 'जाव नियम' पाठ है, अर्थात् जब तक नियम है; तब तक सामायिक है। यहां काल के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बताई गई है। अतः साधक की इच्छा पर है कि वह जितनी देर ठीक समझे, उतनी देर सामायिक करे। दो घड़ी का ही बन्धन क्यों ?"

कालमर्यादा व्यवस्था के लिए

*

इस चर्चा के उत्तर में निवेदन है कि हां, आगम-साहित्य में सामायिक के लिए निश्चित काल का उल्लेख नहीं है। सामायिक के पाठ में भी कालमर्यादा के लिए 'जाव नियम' ही पाठ है; 'मुहुत्त' आदि नहीं। परन्तु, सर्वसाधारण जनता को नियम-बद्ध करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने दो घड़ी को मर्यादा

बाँध दी है। यदि मर्यादा न बाँधी जाती, तो बहुत अव्यवस्था हो जाती। कोई दो घड़ी सामायिक करता, तो कोई घड़ी भर ही। कोई आध घड़ी में ही छूमंतर करके निपट लेता, तो कोई-कोई दश-पांच मिनटों में ही बेड़ा पार कर लेता। यदि प्राचीन काल से सामायिक की काल-मर्यादा निश्चित न होती तो आज के श्रद्धा-हीन युग में न मालूम सामायिक की क्या दुर्गति होती ? किस प्रकार उसे मजाक की चीज बना लिया जाता ?

मनोवैज्ञानिक दृष्टि

*

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी काल-मर्यादा आवश्यक है। धार्मिक क्या, किसी भी प्रकार की ड्यूटी, यदि निश्चित समय के साथ न बंधी हो, तो मनुष्य में शैथिल्य आ जाता है, कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा का भाव होने लगता है, फलतः धीरे-धीरे अल्प-से अल्प काल की ओर सरकता हुआ मनुष्य अन्त में केवल अभाव पर आ खड़ा होता है। अतः आचार्यों ने सामायिक का काल दो घड़ी ठीक ही निश्चित किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी सामायिक के लिए मुहूर्त-भर काल का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—

> त्यक्तार्त—रौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः।
> मुहूर्त समता या तां, विदुः सामायिकव्रतम् ।।
>
> —योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश श्लोक ८२

सामायिक प्रत्याख्यान है

*

मूल आगम-साहित्य में प्रत्येक धार्मिक क्रिया के लिए काल-मर्यादा का विधान है। मुनिचर्या के लिए यावज्जीवन, पौषध-व्रत के लिए दिन-रात और व्रत आदि के लिए चतुर्थभक्त आदि का उल्लेख है। सामायिक भी प्रत्याख्यान है, अतः प्रश्न होता है कि पापों का परित्याग कितनी देर के लिए किया है ? छोटे-से-छोटा और बड़े-से बड़ा प्रत्येक प्रत्याख्यान काल-मर्यादा से बँधा हुआ होता है। शास्त्रीयदृष्टि से श्रावक का पंचम गुण

स्थान है, अतः वहाँ अप्रत्याख्यान क्रिया नहीं हो सकती। अप्रत्याख्यानक्रिया चतुर्थ गुणस्थान तक ही है। अतः सामायिक में भी प्रत्याख्यान की दृष्टि से काल-मर्यादा का निश्चय रखना आवश्यक है।

दश प्रत्याख्यानों में नमस्कारसहित अर्थात् नवकारसी का प्रत्याख्यान किया जाता है। आगम में नवकारसी के काल का पौरुषी आदि के समान किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं है। केवल इतना कहा गया है कि "जब तक प्रत्याख्यान पारने के लिए नमस्कार—नवकार मन्त्र न पढ़ूँ, तब तक अन्न-जल का त्याग करता हूँ।" परन्तु आप देखते हैं कि नवकारसी के लिए पूर्व परम्परा से मुहूर्त-भर का काल माना जा रहा है। मुहूर्त से अल्पकाल के लिए नवकारसी का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता। इसी प्रकार सामायिक के लिए भी समझिए।

"इह सावद्ययोगप्रत्यास्यानरूपस्य सामायिकस्य मुहूर्तमानता सिद्धान्तेऽनुक्ताऽपि ज्ञातव्या, प्रत्याख्यानकालस्य जघन्यतोऽपि मुहूर्त-मात्रत्वान्नमस्कारसहितप्रत्याख्यानवदिति।"

—जिनलाभ सूरि, आत्म-प्रबोध, द्वितीय प्रकाश

ध्यान की दृष्टि

*

मुहूर्त-भर का काल ही क्यों निश्चित किया गया ? एक घड़ी या आध घड़ी अथवा तीन या चार घड़ी भी कर सकते थे ? यह प्रश्न सुन्दर है, विचारणीय है। इसके उत्तर के लिए हमें आगमों की शरण में जाना पड़ेगा। यह आगमिक नियम है कि साधारण साधक का एक विचार, एक संकल्प, एक भाव, एक ध्यान अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त-भर ही चालू रह सकता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद अवश्य ही विचारों में परिवर्तन आ जाता है। इस सम्बन्ध में भद्रबाहु स्वामी ने कहा है—

"अंतोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं"

—आवश्यकनिर्युक्ति १४५८

हाँ, तो शुभ संकल्पों को लेकर सामायिक का ग्रहण किया हुआ नियम अन्तर्मुहूर्त तक ही समान गति से चालू रह सकता है। पश्चात् कुछ-न-कुछ परिवर्तन, ऊँचा या नीचा आ ही जाता है। अतः विचारों की एकधारा की दृष्टि से सामायिक के लिए मुहूर्त कहते हैं और मुहूर्त में से एक समय एवं एक क्षण भी कम हो, तो अन्तर्मुहूर्त माना जाता है।

——oo——

२३ ‖ वैदिक सन्ध्या और सामायिक

प्रत्येक धर्म के आचार व्यवहार में प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पूजा-पाठ, जप-तप, प्रभु-नाम-स्मरण आदि धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं। मानव-जीवन सम्बन्धी प्रतिदिन की आध्यात्मिक भूख की शान्ति के लिए, एवं मन की प्रसन्नता के हेतु प्रत्येक पन्थ या मत ने कोई-न-कोई योजना, मनुष्य के सामने अवश्य रक्खी है।

जैन-धर्म के पुराने पड़ोसी वैदिक-धर्म में भी सन्ध्या नाम से एक धार्मिक अनुष्ठान का विधान है, जो प्रातः और सायंकाल दोनों समय किया जाता है। वैदिक टीकाकारों ने सन्ध्या का अर्थ इस प्रकार किया है—सं—उत्तम प्रकार से ध्यै—ध्यान करना। अर्थात् अपने इष्टदेव का पूर्ण भक्ति और श्रद्धा के साथ ध्यान करना, चिन्तन करना। सन्ध्या शब्द का दूसरा अर्थ है—मिलन, संयोग, सम्बन्ध। उक्त दूसरे अर्थ का तात्पर्य है—उपासना के समय परमेश्वर के साथ उपासक का संबन्ध यानी मिलना। सन्ध्या का एक तीसरा अर्थ भी है, वह यह कि प्रातःकाल और सायंकाल दोनों सन्ध्याकाल हैं। रात्रि और दिन की सन्धि प्रातः काल है, और दिन एवं रात्रि की सन्धि सायंकाल है। अतः सन्ध्या में किया जानेवाला कर्म भी 'सन्ध्या' शब्द से व्यवहृत होता है।

वैदिक धर्म की इस समय दो शाखाएँ सर्वतः प्रसिद्ध हैं—सनातन धर्म और आर्यसमाज। सनातनी पुरानी मान्यताओं के पक्षपाती हैं, जब कि आर्यसमाजी नवीन धारा के अनुयायी। वेदों

का प्रामाण्य दोनों को ही समानरूप से मान्य है, अतः दोनों ही वैदिक शाखाएँ हैं। सर्व-प्रथम सनातन धर्म की सन्ध्या का वर्णन किया जाता है।

संध्या : स्वरूप और विधि

*

सनातनधर्म की सन्ध्या केवल प्रार्थनाओं एवं स्तुतियों से भरी हुई है। विष्णु-मंत्र के द्वारा शरीर पर जल छिड़क कर शरीर को पवित्र बनाया जाता है, पृथ्वी माता की स्तुति के मंत्र से जल छिड़क कर आसन को पवित्र किया जाता है। इसके पश्चात् सृष्टि के उत्पत्ति-क्रम पर चिंतन होता है। फिर प्राणायाम का चक्र चलता है। अग्नि, वायु, आदित्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्व देवताओं की बड़ी महिमा गाई जाती है। सप्त व्याहृति इन्ही देवों के लिए होती है। जल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक ऋषि बड़ी ही भावुकता के साथ जल की स्तुति करता है—"हे जल ! आप जीवमात्र के मध्य में से विचरते हो। इस ब्रह्माण्डरूपी गुहा में सब ओर आपकी गति है। तुम्हीं यज्ञ, हो, वषट्कार हो, अप् हो, ज्योति हो, रस हो, और अमृत भी तुम्हीं हो—

ॐअन्तश्चरसि भूतेषु, गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार, आपो ज्योतीरसोऽमृतम् ॥

सूर्य को तीन बार जल का अर्घ्य दिया जाता है। जिसका आशय है कि प्रथम अर्घ्य से राक्षसों की सवारी का, दूसरी से राक्षसों के शस्त्रों का, और तीसरे से राक्षसों का नाश होता है। इस के बाद गायत्री मंत्र पढ़ा जाता है, जिसमें सविता—सूर्य देवता से अपनी बुद्धि की प्रस्फूर्ति के लिए प्रार्थना है। अधिक क्या, इसी प्रकार स्तुतियों, प्रार्थनाओं एवं जल छिड़कने आदि की एक लंबी परंपरा है, जो केवल जीवन के बाह्याचार से ही सम्बन्ध रखती है। अन्तर्जगत् की भावनाओं को स्पर्श करने का और पाप-मल से आत्मा को पवित्र बनाने का कोई संकल्प व उपक्रम नहीं देखा जाता।

हाँ, एक मंत्र अवश्य ऐसा है, जिसमें इस ओर कुछ थोड़ा बहुत लक्ष्य दिया गया है। वह यह है—

"ओम् सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् अह्ना यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु, यत् किञ्चिद् दुरितं मयि इदमहमापोऽमृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।"

—सूर्य नारायण, यक्षपति और देवताओं से मेरी प्रार्थना है कि यक्ष-विषयक तथा क्रोध से किये हुए पापों से मेरी रक्षा करें। दिन या रात्रि में मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और शिश्न से जो पाप हुए हों, उन पापों को मैं अमृतयोनि सूर्य में होम करता हूँ। इसलिए वह उन पापों को नष्ट करें।

प्रार्थना : पलायन नहीं, प्रक्षालन है

*

प्रार्थना करना बुरा नहीं है। अपने इष्टदेव के चरणों में अपने-आप को समर्पण करना और अपने अपराधों के प्रति क्षमा-याचना करना, मानव-हृदय की श्रद्धा और भावुकता से भरी हुई कल्पना है। परन्तु, सब-कुछ देवताओं पर ही छोड़ बैठना, अपने ऊपर कुछ भी उत्तरदायित्व न रखना, अपने जीवन के अभ्युदय एवं निश्रेयस् के लिए खुद कुछ न करके दिन-रात देवताओं के आगे नत-मस्तक होकर गिड़गिड़ाते ही रहना, उत्थान का मार्ग नहीं है। इस प्रकार मानव-हृदय दुर्बल, साहस-हीन एवं कर्त्तव्य के प्रति पराङ मुख हो जाता है। अपनी ओर से जो दोष, पाप अथवा दुराचार आदि हुए हों; उन के लिए केवल क्षमा-प्रार्थना कर लेना और दंड से बचे रहने के लिए गिड़गिड़ा लेना, मानव-जाति के लिए बड़ी ही घातक विचारधारा है। सिद्धान्त की बात तो यह है कि सर्वप्रथम मनुष्य कोई अपराध ही न करे। और, यदि कभी कुछ अपराध हो जाय, तो उसके परिणाम को भोगने के लिए सहर्ष प्रस्तुत रहे। यह क्या बात है कि बढ-बढ़ कर पाप करना और दंड भोगने के समय देवताओं से क्षमा की प्रार्थना करना, दंड से बच कर भाग जाना। यह भीरुता है, वीरता नहीं। और, भीरुता कभी भी धर्म नहीं हो सकती। प्रार्थना का उद्देश्य पाप से पलायन करना नहीं, किन्तु अतीत के पाप का प्रक्षालन करना और भविष्य में उसका परिवर्जन करना है। क्षमा-प्रार्थना के साथ-साथ यदि अपने

जीवन को अहिंसा, सत्य आदि की मधुर भावनाओं से भरें, हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार करें, तो वह प्रार्थना व उपासना वस्तुतः सही हो सकती है ! जैन-धर्म की सामायिक में किसी लम्बी-चौड़ी प्रार्थना के बिना ही, जीवन को स्वयं अपने हाथों पवित्र बनाने का सुन्दर विधान आपके समक्ष है, जरा तुलना कीजिए।

आर्यसमाजी प्रार्थना

*

अब रहा आर्यसमाज। उसकी सन्ध्या भी प्रायः सनातनधर्म के अनुसार ही है। वही जल की साक्षी, वही अघमर्षण में सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम, वही प्राणायाम, वह स्तुति, वही प्रार्थना। हाँ, इतना अन्तर अवश्य हो गया है कि यहां पुराने वैदिक देवताओं के स्थान में सर्वत्र ईश्वर—परमात्मा विराजमान हो गया है। एक विशेषता मार्जन-मन्त्रों की है। किन्तु मन्त्र पढ़कर शिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पैर आदि को पवित्र करने में क्या गुप्त रहस्य है; करने वाले ही बता सकते हैं। इन्द्रियों की शुद्धि तो सदाचार के ग्रहण और दुराचार के त्याग में है, जिसके लिए इस संध्या में भी कोई खास संकल्प एवं प्रवृत्ति दृष्टि गोचर नहीं होती।

मनसा परिक्रमा का प्रकरण सन्ध्या में क्यों रक्खा है ? यह बहुत कुछ विचार करने के बाद भी समझ में नहीं आता। मनसा परिक्रमा में एक मन्त्र है, जिसका आखिरी भाग है—

"योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः"[1]

इसका अर्थ है, जो हम से द्वेष करता है अथवा जिससे हम द्वेष करते हैं; उसको हे प्रभु ! हम तुम्हारे जबड़े में रखते हैं।

पाठक जानते हैं, जबड़े में रखने का क्या फल होता है ? नाश ! यह मन्त्र छह बार प्रातः और छह बार सायंकाल की सन्ध्या में पढ़ा जाता है। विचार करने की वात है कि यह सन्ध्या है या वही दुनियावी तूतू-मैंमैं ! सन्ध्या में बैठकर भी वही द्वेष वही घृणा, वही नफरत, वही नष्ट करने-कराने की भावना ! मैं पूछता हूं, फिर सांसारिक क्रियाओं और धार्मिक क्रियाओं में अन्तर ही क्या

---

१. अर्थवेद कां० ३ सू० २७ मं० १६
सातवलेकर द्वारा सम्पादित वि० सं० १९९९ में मुद्रित संस्करण।

रहा ? मारा-मारी के लिए तो संसार की झंझटें ही बहुत हैं ! सन्ध्या में तो हमें उदार, सहिष्णु, दयालु, स्नेही मनोवृत्ति का धनी बनना चाहिए। तभी हम परमात्मा से सन्धि एवं मेल साध सकते हैं। इस कूड़े-कर्कट को लेकर तो परमात्मा से सन्धि-मेल तो दूर, उस को मुख दिखलाने के लायक भी हम नहीं रह सकते। क्या ही अच्छा होता, यदि इस मन्त्र में अपराधी के अपराध को क्षमा करने की, वैर-विरोध के स्थान में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और स्नेह की प्रार्थना की होती !

उपर्युक्त आशय का ही एक मन्त्र यजुर्वेद का है, जो सन्ध्या में तो नहीं पढ़ा जाता; परन्तु अन्य प्रार्थनाओं के क्षेत्र में वह भी विशेष स्थान पाये हुए हैं। वह मन्त्र भी शत्रुओं से संत्रस्त किसी विक्षुब्ध, हृदय की वाणी है।

"योऽस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्विषते जनः।
निन्द्याद् योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं भस्मसा कुरु॥"[1]

—जो हमसे शत्रुता करते हैं, जो हमसे द्वेष रखते हैं, जो हमारी निन्दा करते हैं, जो हमें धोखा देते हैं; हे भगवन्! हे ईश्वर ! तुम उन सब दुष्टों को भस्म कर डालो।

यह सब उद्धरण लिखने का अभिप्राय किसी विपरीत भावना को लिए हुए नहीं है। और मैं यह भी नहीं मानता कि वेदों में इसी प्रकार की द्वेष मूलक भावनाएं भरी है। ऋग्वेद आदि का स्वाध्याय मैंने किया है। उनमें जीवन की उदात्त मधुर एवं निर्मल भावनाओं का प्रवाह है। अच्छा होता प्रार्थना में उन उदात्त भावनाओं को स्थान दिया जाता। यहाँ पर तो केवल प्रसंग-वश, सामायिक के साथ तुलना करने के लिए ही इस ओर लक्ष्य दिया है। मैं विद्वानों से विनम्र निवेदन करूँगा कि वह इस ओर ध्यान दें तथा उपर्युक्त मन्त्रों के स्थान में उदात्तता एवं प्रेम-भाव से भरे मंत्रों की योजना करें।

पाठक वैदिक-धर्म की दोनों ही शाखाओं की सन्ध्या का वर्णन पढ़ चुके हैं। स्वयं मूल ग्रन्थों को देखकर अपने-आपको और अधिक विश्वस्त कर सकते हैं। और इधर सामायिक आपके समक्ष है ही। अतः आप तुलना कर सकते हैं, किसमें क्या विशेषता है ?

---

१. यजुर्वेद ११।८०
सातवलेकर द्वारा संपादित वि० सं० १९९८ में मुद्रित संस्करण।

सामायिक में हृदय की पवित्रता

*

सामायिक के पाठों में प्रारम्भ से ही हृदय की कोमल एवं पवित्र भावनाओं को जागृत करने का प्रयत्न किया गया है। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े किसी भी प्राणी को यदि कभी ज्ञात या अज्ञात रूप से किसी तरह की पीड़ा पहुंची हो, तो उसके लिए ईर्यापथिक आलोचना-सूत्र में पश्चात्ताप-पूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाता है। तदनन्तर अहिंसा और दया के महान् प्रतिनिधि तीर्थंकर देवों की स्तुति की गई है, और उसमें आध्यात्मिक शान्ति, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् समाधि के लिए मङ्गल कामना की है। पश्चात् 'करेमि भंते' के पाठ में मन से, वचन से और शरीर से पाप-कर्म करने का त्याग किया जाता है। साम्य-भाव के आदर्श को प्रतिदिन जीवन में उतारने के लिए सामायिक एक महती अध्यात्मिक प्रयोग-शाला है। सामायिक में आर्त और रौद्र ध्यान से अर्थात् शोक और द्वेष के संकल्पों से अपने आपको सर्वथा अलग रखा जाता है और हृदय के अणु-अणु में मैत्री-करुणा आदि उदात्त भावनाओं के आध्यात्मिक अमृत रस का संचार किया जाता है। आप देखेंगे, सामायिक की साधना करनेवाले के चारों ओर विश्व-प्रेम का सागर किस प्रकार ठाठें मारता है! यहां द्वेष, घृणा आदि दुर्भावनाओं का एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जो जीवन को जरा भी कालिमा का दाग लगा सके। पक्षपात-रहित हृदय से विचार करने पर ही सामायिक की महत्ता का ध्यान आ सकेगा।

o———————o

२४ ‖ प्रतिज्ञा पाठ कितनी बार ?

सामायिक ग्रहण करने का प्रतिज्ञा पाठ 'करेमि भंते' है। यह बहुत ही पवित्र और उच्च आदर्शों से भरा हुआ है। सम्पूर्ण जैन साहित्य इसी पाठ की छाया में फल-फूल कर विस्तृत हुआ है। प्रस्तुत पाठ के उच्चारण करते ही साधक, एक ऐसे नवीन क्षेत्र में पहुंच जाता है, जहाँ राग-द्वेष नहीं, घृणा-नफरत नहीं, हिंसा-असत्य नहीं, चोरी-व्यभिचार नहीं, लड़ाई झगड़ा नहीं, स्वार्थ नहीं, दम्भ नहीं, प्रत्युत सब ओर दया, क्षमा, नम्रता, सन्तोष, तप, ज्ञान, भगवद्भक्ति, प्रेम-सरलता, शिष्टता आदि सद्गुणों की सुगन्ध ही महकती रहती है। सांसारिक वासनाओं का अन्धकार जब छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो जीवन का प्रत्येक पहलू ज्ञानालोक से जगमगा उठाता है !

तीन बार प्रत्यावर्तन

*

हाँ, तो सामायिक करते समय यह पाठ कितनी बार पढ़ना चाहिये, यह प्रश्न है, जो आज पाठकों के समक्ष विचाने के लिये रखा जा रहा है। आजकल सामायिक एक बार के पाठ द्वारा ही ग्रहण कर ली जाती है। परन्तु, यह अधिक औचित्य-पूर्ण नहीं है। दूसरे पाठों की अपेक्षा इस पाठ में विशेषता होनी चाहिए। प्रतिज्ञा करते समय हमें अधिक सावधान और जागरूक रहने के लिए प्रतिज्ञा पाठ को तीन बार दुहराना आवश्यक है। मनोविज्ञान का नियम है कि "जब तक प्रतिज्ञा- वाक्य को दूसरे वाक्यों से पृथक् महत्त्व नहीं दिया जाता; तब

तक वह मनपर दृढ़ संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता। भारतीय संस्कृति में तीन वचन ग्रहण करना, आज भी दृढ़ता के लिए अपेक्षित माना जाता है। राजनीति में भी शपथ ग्रहण करते समय तीन वार शपथ दुहराई जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी तीन बार पाठ पढ़ते समय मन, योगत्रय की दृष्टि से क्रमशः तीन बारप्रतिज्ञा के शुभ भावों से भर जाता है और प्रतिज्ञा के प्रति शिथिल संकल्प तेजस्विता-पूर्ण एवं सुदृढ हो जाता है।

गुरुदेव को वन्दनकरते समय तीन बार प्रदक्षिणा करने का विधान है। तीन वार ही 'तिक्खुत्तो' का पाठ आज भी उस परम्परा के नाते पढा जाता है। आप विचार सकते हैं कि "प्रदक्षिणा भक्ति-प्रदर्शन के लिए एक ही काफी है, तीन प्रदक्षिणा क्यों ? वन्दन-पाठ भी तीन वार बोलने का क्या उद्देश्य ?" आप कहेंगे कि यह गुरु-भक्ति के लिए, अत्यधिक श्रद्धा व्यक्त करने के लिए है। तो, मैं भी जोर देकर कहूँगा कि "सामायिक" का प्रतिज्ञा-पाठ तीन बार दुहराना भी, प्रतिज्ञा के प्रति अत्यधिक श्रद्धा और दृढ़ता के लिए अपेक्षित है।"

इस विषय में तर्क के अतिरिक्त क्या कोई आगम प्रमाण भी है ? हाँ, लीजिए। व्यवहारसूत्र-गत, चतुर्थ उद्देश के भाष्य में उल्लेख आता है—

"सामाइयं तिगुणमट्ठगहणं च"

—गा० ३०९

आचार्य मलयगिरि, जो आगम-साहित्य के समर्थ टीकाकार के रूप में विद्वत्संसार में परिचित हैं, वे उपर्युक्त भाष्य पर टीका करते हुए लिखते हैं—

"त्रिगुणं त्रीन् वरान् सामायिकमुच्चरयति।"

उक्त वाक्य का अर्थ है—सामायिक पाठ तीन बार उच्चारण करना चाहिए। व्यवहार भाष्य ही नहीं, निशीथ-चूर्णि भी इस सम्बन्ध में यही स्पष्ट विधान करती है—

"सेहो सामाइयं तिक्खुत्तो कड्ढइ।"

अस्तु, प्राचीन भाष्यकारों एवं टीकाकारों के मत से भी सामायिक प्रतिज्ञा पाठ का तीन बार उच्चारण करना उचित है। यह ठीक है

कि ये उल्लेख साधु के लिए आए हैं, श्रावक के लिए नहीं। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्म-विकास की दृष्टि से साधु की भूमिका ऊंची है या गृहस्थ की ? जब उच्च भूमिका वाले साधु के लिए तीन बार प्रतिज्ञा-पाठ उच्चारण करने का विधान है, तब फिर गृहस्थ के लिए तो कोई विवाद ही नहीं रह जाता ! मेरा आशय सिर्फ इतना ही है कि प्रतिज्ञा के उच्चारण के साथ हो हमारा संकल्प जागृत होना चाहिए, और उसके लिए हमें अपनी प्रतिज्ञा, जो दृढ़ संकल्प का रूप है, उसे तीन बार दुहराना चाहिए।

———o———

२५ सामायिक में ध्यान

आज के अधिकांश जिज्ञासुओं की ओर से यह प्रश्न बराबर सामने आता है कि "हम सामायिक तो करते हैं, किंतु मन एकाग्र नहीं होता। और जब मन एकाग्र नहीं होता तो फिर सामायिक करने का क्या लाभ है ?"

यह बात बहुत अंशों में ठीक भी है कि एकाग्रता के बिना सामायिक का वांछितफल और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु सामायिक कोई जादू तो नहीं है कि बस, 'करेमि भंते' का मंत्र बोला और मन वश में हो गया। मन को वश में करने के लिए, साधना करनी होती है, अतः सामायिक में वह प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि मन एकाग्र हो, समत्व में स्थिर हो।

समभाव और ध्यान

*

सामायिक का मूल अर्थ 'समता भाव' है, समत्त्वयोग की साधना है। और यह भूल नहीं जाना है कि समत्त्वयोग ही ध्यान साधना का मुख्य आधार है। जब मन समत्त्व में स्थिर होगा, तभी वह ध्यान योग का आनन्द प्राप्त कर सकेगा। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

> न साम्येन विना ध्यानं न ध्यानेन विना च तत्।
> निष्कम्प जायते तस्माद् द्वयमन्योन्यकारणम्॥
>
> —योगशास्त्र ४।११४

समभाव का अभ्यास किए बिना ध्यान नहीं होता और ध्यान के बिना निश्चल समत्व की प्राप्ति नहीं होती । इसलिए समभाव और ध्यान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं और घटक भी।

ध्यान की परिभाषा

*

प्राचीन ग्रन्थों में समभाव की साधना के निमित्त अनेक उपाय बताये गए हैं। उन सब में ध्यान साधना प्रमुख है । अतः प्रस्तुत अध्याय में सामायिक में ध्यान कैसे किया जाए ? मनोनिग्रह कैसे हो ? आदि प्रश्नों के समाधान करने का संक्षिप्त प्रयत्न है।

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि अपनी जागृत अवस्था में हमें विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का बोध होता रहता है। उनमें से कुछ वस्तुएँ चेतना केन्द्र के अधिक निकट होती हैं, कुछ उसके आस-पास घूमती हैं और कुछ उसके किनारे पर घूमती रहती हैं। जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश केन्द्रित हो जाता है, वह वस्तु ध्यान का विषय (ध्येय) बन जाती है। अतः किसी भी वस्तु या विषय पर चेतना के प्रकाश का केन्द्रित हो जाना ध्यान कहा जाता है। इस प्रकार ध्यान का अर्थ हुआ—वस्तु (ध्येय) पर चेतनाप्रकाश का केन्द्रित होना। जैनदृष्टि से इसे ही 'एक पुद्गलनिविष्टदृष्टि' कहा जाता है । सीधी भाषा में मन का एक विषय पर स्थिर हो जाना, एकाग्र हो जाना ध्यान है।

कुछ विद्वान् ध्यान का अर्थ करते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना, ध्यानयोग है। इसका अर्थ है—मन को गतिहीन कर देना, शून्य बना देना । योगदर्शन ने इसी अर्थ में योग की व्याख्या की है, आजकल भी कुछ साधक व विद्वान् ध्यान के लिए मन को गतिहीन करना, शून्य करना तथा मन को भीतर में ले जाना आदि शब्दावली का प्रयोग करते हैं, किंतु मेरा अनुभव है कि साधना की प्रथम अवस्था में इस प्रकार की शब्दावली मात्र एक उलझाव है। साधना की प्रथम सीढ़ी पर चरण रखने वाला साधक पहले ही क्षण में उसके शिखर को स्पर्श करने के लिए हाथ बढ़ाए, तो यह साधना की गति तथा प्रगति का सही मार्ग नहीं होगा।

अतः जैन साधना पद्धति सर्वप्रथम मन को गतिशून्य करने की

अपेक्षा मन की गति को बदलने पर बल देती है। जैनाचार्यों ने योग का अर्थ—"योगो दुश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[1] किया है, जो कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[2] का परिष्कृत रूप है।

मन जब तक मनरूप में है, गतिशील रहता है, सर्वथा शून्य नहीं हो सकता, इस तथ्य को आज मनोविज्ञान भी स्वीकार कर चुका है। अतः प्राथमिक अवस्था में ध्यान अथवा मनोनिग्रह का अर्थ मन की गति को परिवर्तित करना है, चिंतन की दिशा को ऊर्ध्वगामी बनाना है, मन को दुर्वृत्तियों से हटाकर सद्वृत्तियों की ओर उन्मुख करना है, सच्चिंतन में मन को जोड़ना है। संक्षेप में, शास्त्र की भाषा में कहें तो, मन को अशुभ से शुभ की ओर परिवर्तित करना है।

इस प्रकार चित्त-वृत्तियों का परिशोधन, उदात्तीकरण एवं चेतनाप्रकाश का केन्द्रीकरण—यह सब ध्यान साधना के अन्तर्गत आ सकता है। इस दृष्टि से जप साधना को भी ध्यान कहा जाता है।

जपसाधना

*

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" मैं यज्ञों में 'जपयज्ञ' हूँ। जप, मन को एकाग्र करने की एक सरल तथा श्रेष्ठ विधि है। जप की महिमा गाते हुए आचार्यों ने कहा है—"जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः" जप से अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती है। जप से मन में तन्मयता एवं मधुरता का एक ऐसा प्रवाह उमड़ता है कि साधक उसमें आत्मविभोर होकर डूब जाता है, अपने को विस्मृत कर देता है, और जप्य(ध्येय) में तदाकार होकर ऐक्यानुभूति करने लगता है। भक्तियोग में तो जप को श्रेष्ठतम साधना माना गया है। जप की साधना 'ध्यान योग' की भाँति दुरूह भी नहीं है, साधना की प्रथम भूमिका में भी साधक इसके आनन्द की अनुभूति कर सकता है।

---

१. उपाध्याय यशोविजयजी कृत योगदर्शन की टीका १।१

२. पातंजल योगदर्शन १।१

तीन प्रकार के जप

*

जप साधना का विश्लेषण करते हुए आचार्यों ने इसके तीन रूप बताए हैं—मानस जप, उपांशु जप और भाष्य जप।

भाष्यजप—यह साधना की प्राथमिक श्रेणी है। साधक वाणी के द्वारा ध्वनिप्रधान श्रव्य उच्चारण करता हुआ जब स्तोत्र, पाठ, माला आदि का जप करता है, तो वह भाष्य जप है। इस जप में उच्चरित वाणी दूसरे भी सुन सकते हैं। वाणी का प्रयत्न अधिक होने के कारण इस जप में मन की स्थिरता बहुत ही कम रहती है, अतः साधक को इससे आगे बढ़कर दूसरी श्रेणी में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपांशु जप—इस जप में साधक मंत्र, स्तोत्र पाठ आदि का बहुत ही धीमे स्वर से उच्चारण करता है। उसकी ध्वनि अन्य व्यक्तियों को सुनाई नहीं देती, किन्तु उसके अपने कानों तक अवश्य पहुँचती रहती है। शब्द का स्पर्श जीभ और होठ से होता रहता है, अतः वे कुछ-कुछ हिलते भी हैं। पूर्व के जप की अपेक्षा इसमें वाणी का प्रयत्न मंद होता है, अतः इसमें पूर्वापेक्षया मानसिक एकाग्रता अधिक प्राप्त की जा सकती है।

मानस जप—इस जप में मंत्र आदि के अर्थ का चिन्तन करते हुए केवल मन ही मन मंत्र के वर्णों, स्वर व पदों की आवृत्ति की जाती है। मानसिक एकाग्रता की दृष्टि से यह जप सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आचार्यों के मतानुसार भाष्यजप से सौ गुना श्रेष्ठ उपांशु जप है और उससे हजार गुना श्रेष्ठ मानस जप है।

चतुर्मुख जप

*

जप पद्धति में चतुर्मुख जप का भी विशेष महत्त्व है। अन्य प्रकार के शब्द-जप की अपेक्षा इसमें मानसिक एकाग्रता अधिक स्थायी एवं दृढ़ होती है। इस जप में पद्मासन आदि किसी एक आसन पर बैठ कर ध्यानमुद्रा बनाएँ, दोनों आँखों को हलके से मूँद लें और फिर किसी बीजमंत्र का जप करें, जैसे कि 'ॐ' या 'अर्हं' आदि का मन ही मन ध्यान करें। ध्यान का क्रम इस प्रकार है—अन्तर्मन के संकल्प से सर्व-

प्रथम दाँये कंधे पर मंत्र की स्थापना करें, अर्थात् मानस कल्पना से मंत्र की आकृति कंधे पर रख लिखें, फिर बाँये कंधे पर, फिर ललाट (दोनों भौंहों के बीच) पर, और फिर हृदय पर। इस प्रकार चार स्थान पर पुनः पुनः अपने इष्ट मंत्र की आकृति स्थापित करते रहें। इसमें चार स्थानों पर मंत्राकृति अंकित की जाती है, अतः यह 'चतुर्मुखजप' कहलाता है। यह जप की श्रेष्ठ विधि है। एक प्रकार से यह ध्यान व जप की मिश्रित अवस्था है, अतः इसके द्वारा मन एकाग्रता की दिशा में अच्छी तरह साधा जा सकता है।

जप किसका ?

*

जप करने वाला साधक अधिकतर यह जानना चाहता है कि जप साधना में किस मंत्र का जप किया जाए?

जप में यों तो किसी भी श्रेष्ठ मंत्र का जप किया जा सकता है, किन्तु उसके लिए यह ध्यान में रखना चाहिए कि जप-मंत्र के अक्षर जितने कम हों और उनका उच्चारण करते समय जितना अधिक दीर्घ स्वास लिया जाए, वही मंत्र चुनना चाहिए। उदाहरण के रूप में 'ॐ' यह एकाक्षर मंत्र है, इसके उच्चारण के साथ प्राणायाम की क्रिया भी स्वतः होती रहती है, चाहे जितना दीर्घस्वास लिया जा सकता है। 'ॐ' के स्थान पर 'अर्हं' का भी जप किया जा सकता है, अथवा 'ॐ अर्हं' इस मंत्र का भी।

मंत्र का चुनाव करते समय, ध्येय-स्वरूप का ध्यान रखा जाए तो और भी श्रेष्ठ है, जैसे 'ॐ' के उच्चारण के साथ ही 'ध्येय' रूप अरिहंत, सिद्ध आदि पाँच पदों के स्वरूप का चित्र मानस-चक्षु के सामने चित्रित हो जाना चाहिए। जैन परम्परा में 'ॐ' नवकार मंत्र का वीज मंत्र माना गया है। इसमें 'अ' से अरिहंत, 'अ' से सिद्ध-अशरीरी, 'आ' से आचार्य, 'उ' से उपाध्याय तथा 'म्' से मुनि (साधु) इनकी ध्वनि ग्रहण की गई है।[1]

---

१. अरिहंता असरीरा, आयरिय-उवज्झाय-मुणिणो।
पंचक्खर निप्फन्नो ॐ कारो पंच परमिट्ठी ॥

—वृहद् द्रव्य संग्रह, टीका पृ० १८२

ध्यान के भेद

*

जप और ध्यान की प्रक्रिया वहुत कुछ समान होते हुए भी वहुत भिन्न भी है। जप में जहाँ एक ही मंत्र व पद की आवृत्ति अर्थात् वार वार चिन्तन व उच्चारण किया जाता है, वहाँ ध्यान में किसी एक ही विषय पर चिन्तन-अनुचिन्तन की अखंड धारा प्रवाहित होती रहती है। जप साधना की अपेक्षा ध्यान साधना में मानसिक चिन्तन अधिक स्थिर एवं निर्मल होता है, इस दृष्टि से ध्यान साधना, जप-साधना से अधिक महत्त्वपूर्ण व श्रेष्ठ मानी गई है।

स्थानांग सूत्र आदि प्राचीन आगमों में ध्यान के अनेक भेद-प्रभेद वर्णन किये गये हैं। योग शास्त्र, ज्ञानार्णव तथा तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थों में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत आदि अनेक ध्यान-विधियाँ बताई गई हैं, जो प्राथमिक ध्यानसाधक के लिये अतीव उपयोगी हैं। यहाँ हम अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही कुछ वर्णन पाठकों की जिज्ञासापूर्ति के लिये कर रहे हैं।

पिण्डस्थ ध्यान

*

किसी शान्त एकान्त स्थान में सिद्धासन, पद्मासन आदि किसी श्रेष्ठ आसन से बैठकर पिण्डस्थ ध्यान किया जाता है। पिण्ड का अर्थ है—शरीर! अतः पिण्डस्थ ध्यान का मतलव हुआ पिण्ड अर्थात् देह के प्रमुख अंग—ललाट, ब्रह्मरंध्र, आज्ञाचक्र, कंठ, नासिकाग्रभाग तथा नाभिकमल आदि पर मन को केन्द्रित करना।

प्राचीन आचार्यों ने पिण्डस्थ ध्यान के क्रम में पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी एवं तत्त्ववती धारणा नामक पाँच धारणाओं के माध्यम से उत्तरोत्तर आत्मकेन्द्र पर ध्यानस्थ होने का वर्णन किया है। इन धारणाओं में साधक सर्वप्रथम अपने को पार्थिवी धारणा में कमल पर समासीन देखता है, फिर आग्नेयी धारणा में चारों ओर अग्नि ज्वालाएँ दहकने की कल्पना करता है,जिसमें शरीर भस्म होकर अन्तर् में से हस्त-पादादि अवयवों से रहित केवल घनपिण्डरूप देहाकार 'आत्मा' चमकने लगती है। अनन्तर वायवी धारणा में वायु के प्रवल झोकों से राख उड़ जाने की और फिर वारुणी धारणा में

सघन जल वर्षा से सब ओर से धुलकर आत्मा का शुद्ध प्रकाशमय रूप प्रगट हो जाने की कल्पना करनी चाहिए। इस प्रकार धारणाओं की कल्पना के माध्यम से साधक उत्तरोत्तर आत्मस्वरूप तक पहुँचने का प्रयत्न करता है।

उक्त पिण्डस्थ ध्यान को विकसित व अधिक स्थिर बनाने के लिये 'आज्ञाचक्र' को समझना आवश्यक है।

आज्ञाचक्र

*

ध्येय पर मन को केन्द्रित करने के लिये साधना विधि में 'आज्ञा-चक्र' का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इससे बाहर में विभिन्न विषयों पर भटकता हुआ मन केन्द्र पर स्थिर हो जाता है और उसी विषय में चिन्तन-मनन का प्रवाह आगे बढ़ने लगता है।

आज्ञाचक्र का अर्थ है—भ्रूमध्य में ध्यान को केन्द्रित करना। सिद्धासन आदि दृढ़ आसन से मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) को सीधा करके बैठ जाएँ, ध्यान मुद्रा लगाएँ और फिर मानसचक्षु अर्थात् मन की आँखों से दोनों भ्रू के मध्य में देखने का प्रयत्न करें। इस अवस्था में आखें खुली नहीं रहनी चाहिएँ, केवल कल्पना से ही भ्रू मध्य को देखा जाए और फिर उस केन्द्र में 'ॐ' या 'अर्हं' की स्थापना करके उसी के स्वरूप का चिंतन करें। भ्रू मध्य को योग की भाषा में 'आज्ञा चक्र' कहते हैं। आज्ञाचक्र की साधना प्रारम्भ में कुछ कठिन प्रतीत होती है, किन्तु निरन्तर के अभ्यास से यह साधना सरल बन जाती है और बहुत ही आनन्दप्रद प्रतीत होती है। हाँ, वृत्तियों व शरीर के साथ हठ नहीं करना चाहिए, शनैः शनैः इस ओर बढ़ना चाहिए। मेरा अपना अनुभव है कि कुछ दिन सतत अभ्यास के पश्चात् इस अवस्था में मन की निर्विकल्पता बढ़ने लगती है, मन सहज में ही स्थिर एवं वृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं तथा मानसिक उल्लास, प्रसन्नता एवं ताजगी का अनुभव होने लगता है।

पदस्थध्यान

*

पदस्थ ध्यान का अर्थ है—पदों पर ध्यान केन्द्रित करना। यों तो साधक अपनी रुचि व कल्पना के अनुसार किसी भी प्रकार के संकल्प

बना सकता है और उन पर मन को स्थिर करने का प्रयत्न कर सकता है। उदाहरण स्वरूप हम यहाँ एक विधि का उल्लेख करते हैं, जो जैन योग साधना में 'सिद्ध चक्र' के नाम से प्रसिद्ध है।

सर्व प्रथम ध्यानयोग्य आसन से स्थिर बैठकर हृदयकमल पर अष्टदलश्वेतकमल की कल्पना करनी चाहिए। जब अष्ट पंखुड़ियों की स्पष्ट कल्पना होने लगे, मन उस पर जम जाए, तब कमल की कर्णिका (कमल का मध्यभाग, बीजकोष) पर 'नमो अरिहंताणं' की कल्पना करें। फिर कमल की पूर्वादि चारों दिशाओं की पंखुडियों पर क्रमशः 'नमोसिद्धाणं' 'नमो आयरियाणं' 'नमो उवज्झायाणं' एवं 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान केन्द्रित करें। इसके पश्चात ईशान-कोण आदि विदिशाओं की चार पंखुड़ियों पर क्रमशः 'नमो णाणस्स' 'नमो दंसणस्स' 'नमो तवस्स' 'नमो चरित्तस्स' की कल्पना करनी चाहिए। योगशास्त्र (८, ३३-३४) में आचार्य हेमचन्द्र ने 'णाणस्स' आदि के स्थान पर 'एसो पंचणमुक्करो' आदि चूलिका पदों की स्थापना करने की सूचना की है। स्पष्टता के लिये निम्न चित्र देखिये।

सिद्धचक्र
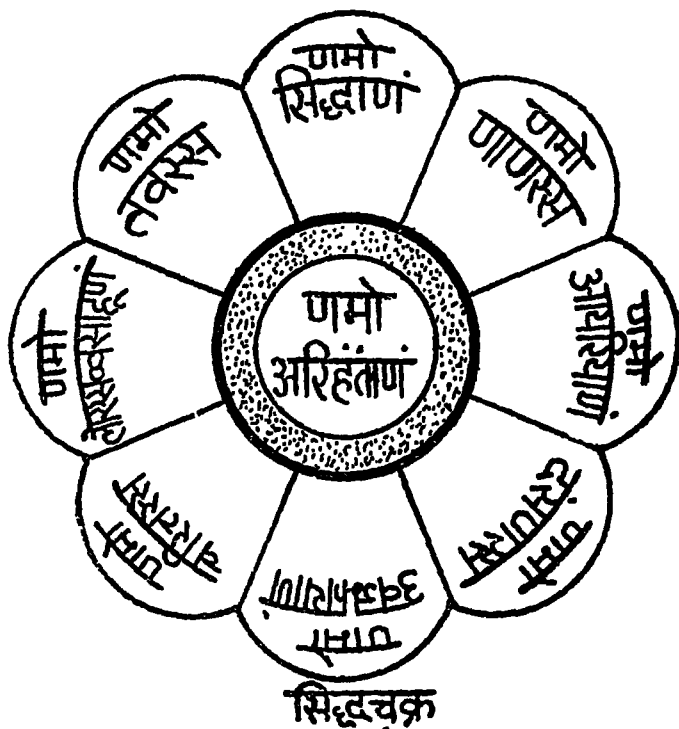
इस प्रक्रिया का मुख्य प्रयोजन यही है कि मन बार-बार इन्हीं केन्द्रों पर आवर्तन-प्रत्यावर्तन करता रहे। इसका यह परिणाम होता है कि अन्य विषयों से प्रवृत्तियों की पकड़ ढीली हो जाती है और मन स्वयं-चालित चक्र की भाँति केवल इन्हीं केन्द्रों पर चलता रहता है।

पदस्थ ध्यान में अक्षर ध्यान की प्रक्रिया भी काफी प्रचलित है। वैसे तो अक्षर का अर्थ है—अविनाशी तत्त्व! परमात्मा, सिद्ध, भगवान्! किन्तु यहाँ अक्षर से अभिप्राय वर्णमाला के अक्षरों से है। इसमें शरीर के तीन केन्द्रों पर—अर्थात् नाभिकमल, हृदयकमल एवं आज्ञाचक्र पर क्रमशः सोलह पंखुड़ीवाले, चौबीसपंखुड़ी तथा आठ पंखुड़ी वाले कमल की कल्पना की जाती है और उन पर वर्णमाला के अक्षरों की संरचना करके प्रत्येक अक्षर पर स्वतंत्र चिंतन किया
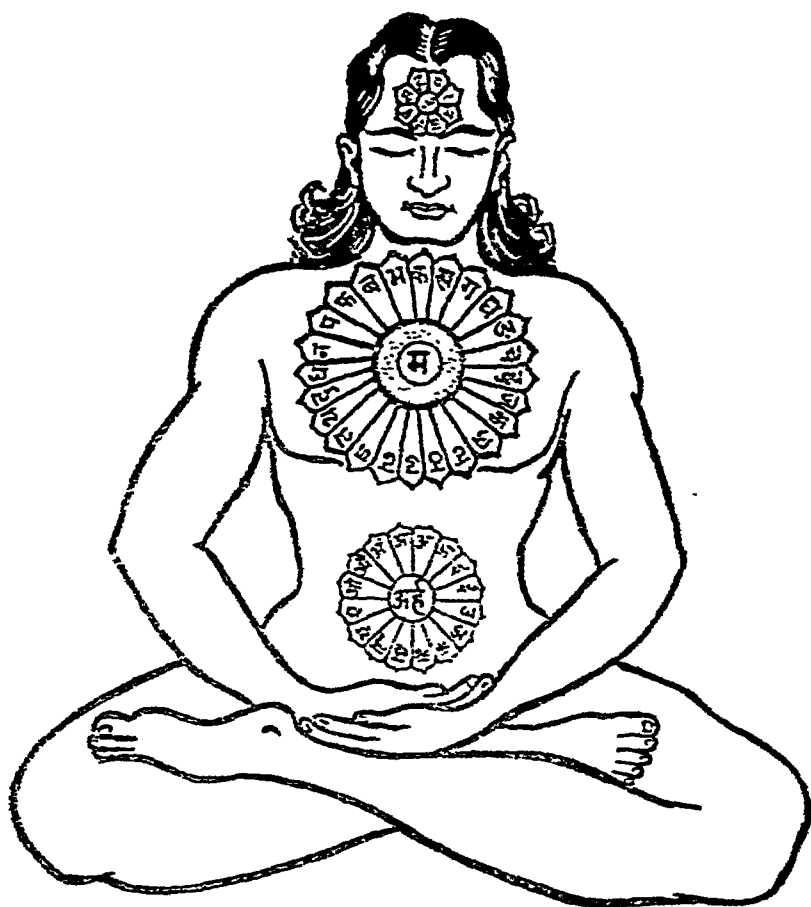
अक्षर ध्यान

जाता है। जैसे—अ—पर अरिहंत, अमर, अविनाशी, अभय आदि अक्षरों की कल्पना करके फिर प्रत्येक अक्षर के वाक्य स्वरूप की गहराई में उतरने का प्रयत्न किया जाता है। मानसिक स्थिरता जितनी गहरी होगी, अक्षर चिंतन उतना ही गम्भीर और विराट् होता जाएगा। संलग्न चित्र से यह प्रक्रिया अच्छी तरह समझ में आ जायेगी।

कुछ योगाभ्यासी मुमुक्षुओं का मत है कि ध्यान की ये प्रक्रियाएँ वस्तुतः ध्यान साधना की नहीं. प्रत्युत जपसाधना की ही विधियाँ हैं। हो सकता है, चिंतनप्रधान ध्यान को 'जप' ही मान लिया जाए। फिर भी साधक को ध्यान व जप की परिभाषा में नहीं उलझना है, उसे मन को एकाग्र करना है। जिस विधि से भी मन अशुभ से शुभ की ओर उन्मुख हो, दुर्विकल्पों से मुक्त होकर सत्संकल्प एवं क्रमशः निर्विकल्पता की ओर बढ़े, वही विधि श्रेष्ठ है।

रूपस्थ ध्यान

*

ध्यान की इस प्रक्रिया में साधक अपने मन को किसी दिव्य रूपवान विषय पर स्थिर करता है। कभी वह अपने देह को ही प्रभु के रूप में चित्रित करके उस पर विभिन्न कल्पनाएँ करता हुआ केन्द्रित हो जाता है, कभी रूपवान अरिहंत परमात्मा—अर्थात् तीर्थंकर देव, अथवा अन्य महान् आत्माओं के श्रुतानुश्रुत रूपों किंवा स्वरूप के अनुसार कल्पित रूपों को अपने मानस-चक्षु के समक्ष अंकित करता है। जैसे भगवान् के समवसरण की रचना, उसमें प्रभु को उपदेश देते हुए देखना और उस पर चिंतन करना अथवा उनकी ध्यानसाधना के चित्र मन से तैयार करना और उन पर मन को जमा देना आदि विविध रूपों की कल्पना की जा सकती है।

महापुरुषों के जीवन सम्बन्धी विविध रूपों पर ध्यान को केन्द्रित करने से मन का भटकना बन्द हो जाता है। फलतः वह एक शुभ व विशुद्ध केन्द्र पर स्थिर होता है, संकल्प बलवान बनते हैं और इस प्रकार हमेशा शुभ एवं पवित्र संकल्प आदि करने का अभ्यास हो जाता है।

श्वासानुसंधान

*

रूपस्थ ध्यान के समान श्वासानुसन्धान भी ध्यान की एक सुन्दर प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में साधक ध्यान को अपने श्वासोच्छ्वास पर केन्द्रित करता है। स्थिर आसन से बैठा हुआ साधक अपनी वृत्तियों और कल्पनाओं को श्वास पर केन्द्रित करके उसकी गणना करता रहता है। इसमें प्राणायाम की भाँति खूब लम्बा सांस लिया जाता है और फिर कुछ काल तक उसे रोककर धीरे-धीरे बाहर छोड़ा जाता है। श्वास को खींचते समय तथा छोड़ते समय उसकी गति पर ध्यान रखा जाता है और मन ही मन गिनती भी की जाती है कि कितने साँस खींचे और कितने छोड़े। मेरा अनुभव है कि इस क्रिया से मन काफी समय तक एक ही विषय पर रह सकता है। स्थिर होने से उसका संकल्प-बल भी प्रबल होता है और एकाग्रता की साधना भी सरल हो जाती है।

श्वासानुसन्धान की एक और भी सरल प्रक्रिया है। वह यह कि आसन का कोई खास प्रतिबन्ध नहीं है। किसी भी तरह, किसी भी मुद्रा में बैठकर या लेटकर श्वास पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। शरीर को ढीला छोड़ दीजिए, तनाव से मुक्त कर दीजिए और सहज भाव से आते जाते श्वास पर लक्ष्य रखिए। श्वास को रोकने और उसकी गणना करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। रोकने और गणना करने में भी कुछ तनाव की स्थिति रहती है, अतः उक्त सहज प्रक्रिया में सहज भाव से आने-जाने वाले श्वासों पर केवल ध्यान रखा जाता है और कुछ नहीं!

रूपातीत ध्यान

*

रूपातीत ध्यान का अर्थ है—रूप रंग से अतीत, निरंजन, निराकार आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसी में लय हो जाना।

आत्मा न इन्द्रिय है, न देह है और न मन है। ये सब भौतिक हैं, आत्मा अभौतिक। उसका कोई रूप नहीं है। वह तो द्रष्टा मात्र है, जो जगत् के समस्त दृश्यों को देख रहा है। आत्मा के इस द्रष्टा अर्थात् ज्ञानमय स्वरूप का चिन्तन करना रूपातीत ध्यान है। आत्मा की

यह अवस्था ही परमात्म-दशा अर्थात् सिद्ध अवस्था है। इसलिए आचार्यों ने सिद्ध स्वरूप का चिन्तन भी रूपातीत ध्यान में [illegible]ना है।

रूपातीत ध्यान की विशेषता यह है कि इसमें किसी प्रकार का बाह्य संसारी विकल्प नहीं होता। मन बाहर से लौटकर भीतर में चला जाता है, अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन-सा हो जाता है। यह स्वरूपलीनता एक प्रकार की विचारातीत अवस्था-सी है, परन्तु इसे सर्वथा विचार-शून्य अवस्था भी नहीं कह सकते। वह तो ध्यान की अन्तिम अवस्था है, जिसमें मन का समूल विलय हो जाता है। लय और विलय में बहुत अन्तर है। लय अवस्था में मन अपना अस्तित्व रखते हुए किसी एक चिन्तन में एकाकार होता है और विलय अवस्था में उसका सर्वथा अवरोध हो जाता है; वह गतिशून्य हो जाता है। अस्तु यह चर्चा बहुत सूक्ष्म है। जिज्ञासुओं के लिए अभी इतना ही काफी है कि उन्हें मन को लय अर्थात् एकाग्र करने की साधना करनी है और उसका श्रेष्ठ साधन रूपातीत ध्यान है।

भावातीत ध्यान

*

वर्तमान में कुछ योगसाधकों व चिन्तकों ने ध्यान के निर्विकल्प रूप पर अधिक वल दिया है। वे मन को चिन्तन-शून्य स्थिति में ले जाना चाहते हैं। उनके विचार में "मन को इधर-उधर से रोककर किसी विषय पर स्थिर करने का मतलब है, मन की पकड़ को मजबूत बनाए रखना, उसे शिथिल न होने देना। इससे कभी-कभी मन के साथ संघर्ष भी होता है। मन को रोकना एक हठ है और हठ में संघर्ष एवं तनाव की सम्भावना रहती है, अतः मन को विल्कुल उन्मुक्त कर देना चाहिए। वह जैसा भी अच्छा-बुरा विकल्प करे, करने देना चाहिए, जहाँ भी वह दोड़े-दौड़ने देना चाहिए। आखिर वह कब तक दौड़ेगा? अपने आप थक कर धीरे-धीरे शान्त हो जाएगा और फिर अन्ततः वह क्षण आएगा, जबकि वह विचार से निर्विचार की ओर स्वतः ही बढ़ जायेगा।" यह है एक प्रक्रिया, जिसे वर्तमान के ध्यानसाधकों ने विशेष महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि "मन पर भार या दबाव मत डालो। मन को तप, जप, त्याग, संयम, यम-नियम आदि में लगाए रखने की कोई अपेक्षा नहीं। उसे अपने अनन्त स्वरूप में जाने दो, लय होने दो। वह स्वतः ही

निर्विषय, विचारातीत एवं भावातीत होकर शून्य में लीन हो जायेगा और तब एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति स्फुरित होगी, जो अब तक अनुभव नहीं की गई है।"

जैन योग के 'रूपातीत' ध्यान का कुछ स्वरूप भावातीत ध्यान के साथ मेल खाता है, किन्तु मन को विचार शून्य करने की प्रक्रिया का जहाँ सवाल है, वहाँ अब तक के साधकों की भाषा में कोई बुद्धिगम्य प्रक्रिया प्रस्तुत नहीं की गई है, जिसे सर्व साधारण की बुद्धि में उतारा जा सके। इसलिए वे ध्यान का प्रयोजन और फलश्रुति बताने में जितने सफल हुए हैं, उतने प्रक्रिया समझाने में नहीं, और यही कारण है कि स्पष्टता के लिए अधिक चर्चा करने पर कभी-कभी वे इस प्रक्रिया को अनिर्वचनीय भी कह देते हैं।

मेरा अनुभव है कि भावातीत ध्यान की निर्विकल्प प्रक्रिया अवश्य है, और उसमें अपूर्व आनन्दानुभूति भी जग सकती है, किंतु प्राथमिक साधक के लिए इससे अधिक लाभ की संभावना नहीं है। उक्त अभावात्मक शब्दों से कभी-कभी साधक उलझन में पड़ जाता है। ठीक तरह कुछ समझ नहीं पाता है। अतः प्रारम्भिक भूमिका में साधक को क्रमशः ही आगे बढ़ना चाहिए। पहले सदाचार, संयम आदि की सरल एवं सहज साधना द्वारा मन को विशुद्ध करना चाहिए, फिर ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा एकाग्र। झरने का बहता विशुद्ध जल तलैया के स्थिर, किन्तु गंदे जल से अधिक उपादेय है, इस बात को भूल नहीं जाना है। जैन साधना-पद्धति इसीलिए ध्यान को समत्व-योग अर्थात् सामायिक के साथ जोड़कर चलती है। इस प्रक्रिया में पहले मन का शोधन किया जाता है और पश्चात् स्थिरीकरण। वस्तुतः शुद्ध मन की एकाग्रता ही ध्यान कहलाती है। आचार्य बुद्धघोष के शब्दों में—'कुसलचित्तेकग्गता समाधि'[1] पवित्र (कुशल) चित्त का एकाग्र होना ही समाधि है। इसी दृष्टि से हमने सामायिक साधना में ध्यान प्रक्रिया के कुछ रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किये हैं। ❋❋

——००——

१. विसुद्धिमग्गो ३।३

२६ || लोगस्स का ध्यान

सामायिक लेने से पहले जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह आत्म-विशुद्धि के लिए होता है। प्रश्न है कि कायोत्सर्ग में क्या पढ़ना चाहिए? किस पाठ का चिन्तन करना चाहिए? इस सम्बन्ध में आजकल दो परंपराएँ चल रही हैं, एक परंपरा कायोत्सर्ग में 'ईर्या-पथिक' सूत्र का ध्यान करने की पक्षपातिनी है, तो दूसरी परंपरा 'लोगस्स' के ध्यान की। ईर्या-पथिक के ध्यान के सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि जब एक बार ध्यान करने से पहले ही ईर्या-पथिक सूत्र पढ़ लिया गया, तब फिर उसे दुबारा ध्यान में पढ़ने की क्या आवश्यकता है?

यदि कहा जाय कि यह आलोचना-सूत्र है, अतः गमनागमन की क्रिया का ध्यान में चिन्तन आवश्यक है, तो इसके लिए निवेदन है कि तब तो पहले ध्यान में ईर्या-पथिक का पाठ पढ़ना चाहिए और फिर बाद में खुले स्वर से। अतिचारों के चिन्तन में हम देखते हैं कि पहले ध्यान में चिन्तन होता है और फिर बाद में खुले रूप से 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाता है। ध्यान में 'मिच्छामि दुक्कडं देने की न तो परंपरा ही है और न औचित्य ही। जब पहले ही खुले रूप में 'ईरियावही' पढ़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' दे दिया है तो बाद में पुनः उसे ध्यान में पढ़ने से क्या लाभ? और यदि पढ़ भी लो, तो फिर उसका 'मिच्छामि दुक्कडं' कहाँ देते हो? ध्यान तो चिंतन के लिए ही है, 'मिच्छामि दुक्कडं' के लिए नहीं। अतः लोगस्स के चिंतनका पक्ष ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

ध्यान की प्राचीन परंपरा

*

लोगस्स के ध्यान के लिए भी एक बात विचारणीय है, वह यह कि आजकल ध्यान में सम्पूर्ण 'लोगस्स' पढ़ा जाता है, जब कि हमारी प्राचीन परंपरा इसकी साक्षी नहीं देती। प्राचीन परंपरा यह है है कि ध्यान में 'लोगस्स' का पाठ 'चंदेसु निम्मलयरा' तक ही पढ़ना चाहिए। हाँ, बाद में खुले रूप से पढ़ते समय सम्पूर्ण पढ़ना जरूर आवश्यक है।

प्रतिक्रमण-सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक लिखते हैं—

"कायोत्सर्गे च चन्देसु निम्मलयरेत्यन्तश्चतुर्विंशतिस्तवश्चिन्त्यः। पारिते च समस्तो भणितव्यः।"

—प्रतिक्रमणसूत्र-वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र जैन-समाज के एक प्रसिद्ध साहित्यकार एवं महान् ज्योतिर्धर आचार्य हुए हैं। आपने योग-विषय पर सुप्रसिद्ध योग-शास्त्र नामक ग्रन्थ लिखा है। उसकी स्वोपज्ञवृत्ति में लोगस्स के ध्यान के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—

"पञ्चविंशत्युच्छ्वासाश्च चतुर्विंशतिस्तवेन चन्देसु निम्मलयरा इत्यन्तेन चिन्तितेन पूर्यन्ते। ...सम्पूर्णकायोत्सर्गश्च 'नमो अरिहंताणं' इति नमस्कार-पूर्वकं पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवं सम्पूर्णं पठति"

—योग० ३।१२४ स्वोपज्ञवृत्ति

यह तो हुई प्राचीन प्रमाणों की चर्चा। अब जरा युक्तिवाद पर भी विचार कर लें। कायोत्सर्ग अन्तर्जगत् की वस्तु है। बाह्य इन्द्रियों का व्यापार हटाकर केवल मानस-लोक में ही प्रवृत्ति करना इसका उद्देश्य है। अतः कायोत्सर्ग एक प्रकार की आध्यात्मिक निद्रा है। निद्रा-जगत् का प्रतिनिधि चन्द्र है, सूर्य नहीं। सूर्य बाह्य प्रवृत्ति का, हलचल का प्रतीक है। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग में 'चंदेसु निम्मलयरा' तक का पाठ ही अधिक उपयुक्त है। यह अध्यात्मिक लीनता एवं स्वच्छता का सूचक है।

'लोगस्स' के ध्यान के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है। आजकल लोगस्स पढ़ा तो जाता है, परन्तु वह सरसता

नहीं रही, जो पहले थी। इसका कारण बिना लक्ष्य के यों ही अस्त-व्यस्त दशा में 'लोगस्स' का पाठ कर लेना है। आचार्य हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्यों ने कायोत्सर्ग में 'लोगस्स' का ध्यान करते हुए श्वासोच्छ्वास की ओर लक्ष्य रखने का विधान किया है। उनका कहना है कि "लोगस्स का एकेक पद एकेक श्वास में पढ़ना चाहिए। एक ही श्वास में कई पद पढ़ लेना, कथमपि उचित नहीं है। यह ध्यान नहीं, बेगार काटना है। यह दीर्घ श्वास प्राणायाम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। और, प्राणायाम योगसाधना का, मन को निग्रह करने का बहुत अच्छा साधन है।" हाँ, तो इस प्रकार नियम-बद्ध दीर्घ श्वास से ध्यान किया जायगा, तो प्राणायाम का अभ्यास होगा, शब्द के साथ अर्थ की त्वरित विचारणा का भी लाभ होगा। जीवन की पवित्रता केवल शब्द मात्र की आवृत्ति से नहीं होती है, वह तो शब्द के साथ अर्थ-भावना की गम्भीरता में उतरने से ही प्राप्त हो सकती है। पाठक जल्दबाजी और आलस्य को छोड़कर श्वास-गणना के नियमानुसार, यदि अर्थ का मनन करते हुए, प्रभु के चरणों में भक्ति का प्रवाह बहाते हुए, एकाग्रचित्त से 'लोगस्स' का ध्यान करेंगे, तो वे अवश्य ही भगवत्स्तुति में आनन्द-विभोर होकर अपने जीवन को पवित्र बनाएँगे। यदि इतना लक्ष्य न हो सके, तो जैसा अब पढ़ा जा रहा है, वह परम्परा ही ठीक है। परन्तु, शीघ्रता न करके धीरे-धीरे अर्थ की विचारणा अवश्य अपेक्षित है। * *

——oo——

२७ ‖ उपसंहार

सामायिक के मूल पाठों पर विवेचन करने के बाद मेरे हृदय में एक विचार उठा कि "आज की जनता में सामायिक के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है, अतः प्रस्तावना के रूप में एक साधारण सा पुरोवचन लिखना अच्छा होगा।" अस्तु, पुरोवचन लिखने बैठ गया और मूल आगमों, टीकाओं, स्वतन्त्र ग्रन्थों एवं इधर-उधर की पुस्तकों से जो सामग्री मिलती गई, लिखता चला गया। फलस्वरूप पुरोवचन आशा से कुछ अधिक लम्बा हो गया; फिर भी सामायिक के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश नहीं डाल सका। जैन-साहित्य में सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी का मूल माना गया है, और इस पर पूर्वाचार्यों ने इतना अधिक लिखा है कि जिसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। फिर भी, **'यावद् बुद्धिबलोदयम्'** जो कुछ संग्रह कर पाया हूँ, सन्तोषी पाठक उसी पर से सामायिक की महत्ता की झाँकी देखने की कृपा करें।

साधना से आनन्द

*

अब पुरोवचन (सामायिक-प्रवचन) का उपसंहार चल रहा है, अतः प्रेमी पाठकों को लम्बी बातों में न ले जाते हुए, संक्षेप में, एक-दो बातों की ओर ही लक्ष्य कराना है। हमारा काम आप के समक्ष आदर्श रख देने भर का है, उस पर चलना या न चलना आप के अपने संकल्पों के ऊपर है—"**प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः।**"[१]

---

१. किरातार्जुनीय १।२५

किसी भी वस्तु की महत्ता का पूरा परिचय, उसे आचरण में लाने से ही हो सकता है। पुस्तकें तो केवल आपको साधारण-सी झांकी ही दिखा सकती हैं। अस्तु, सामायिक की महत्ता आपको सामायिक करने पर ही मालूम हो सकती है। मिश्री की डली हाथ में रखने-भर से मधुरता नहीं दे सकती, हां, मुँह में डालिये, आप आनन्द-विभोर हो जायेंगे। यह आचरण का शास्त्र है। आचार-हीन को कोई भी शास्त्र आध्यात्मिक तेज अर्पण नहीं कर सकता। अतः आपका कर्त्तव्य है कि प्रतिदिन सामायिक करने का अभ्यास करें। अभ्यास करते समय पुस्तक में बताए गये नियमों की ओर लक्ष्य देते रहें। प्रारम्भ में भले ही आप कुछ आनन्द न प्राप्त कर सकें; परन्तु ज्यों ही दृढ़ता के साथ प्रतिदिन का अभ्यास चालू रखेंगे, तो अवश्य आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति कर सकेंगे। सामायिक कोई साधारण धार्मिक क्रियाकाण्ड नहीं है; यह एक उच्चकोटि की धर्म-साधना है। अतः सुन्दर पद्धति से किया गया हमारा सामायिक धर्म, हमें सारा दिन काम आ सके, इतना मानसिक बल और शान्ति देने वाला, एक महान् शक्तिशाली अखण्ड झरना है।

सामायिक सौदेबाजी नहीं है

*

आजकल एक नास्तिकता फैल रही है कि सामायिक क्यों करें ? सामायिक से क्या लाभ ? प्रतिदिन दो घड़ी का समय खर्च करने के बदले में हमें क्या मिलता है ? आप इन कल्पनाओं से अलग रहिये। अध्यात्मिक क्षेत्र के लिए यह वणिक् वृत्ति बड़ी ही घातक है। एक रुपये के बदले में एक रुपये की चीज लेने के लिये झगड़ना, बाजार में तो ठीक हो सकता है, धर्म में नहीं। यह मजदूरी नहीं है। यह तो मानव जीवन के उत्थान की सर्वश्रेष्ठ साधना है। यहाँ सौदेबाजी नहीं, प्रत्युत जीवन को साधना के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण करना है। प्रस्तुत साधना का यही मुख्य उद्देश्य है। भले ही कुछ देर के लिए आपको स्थूल एवं दृष्ट लाभ न प्राप्त हो सके; परन्तु सूक्ष्म एव अदृष्ट लाभ तो इतना बड़ा होता है कि जिसकी कोई उपमा नहीं।

यदि कोई हठाग्रही यह कहे कि "निद्रा में जो छह-सात घंटे चले जाते हैं; उसमें कोई स्थूल द्रव्य की प्राप्ति तो नहीं होती, अतः मैं निद्रा ही न लूंगा"—तो, उस मूर्ख का क्या हाल होगा ? सर्व नाश !

पांच-सात दिन में ही शरीर की हड्डी-हड्डी दुखने लगेगी, दर्द से सिर फटने लगेगा, स्फूर्ति लुप्त हो जायेगी, मृत्यु खड़ी सामने नाचने लगेगी। तब पता चलेगा कि जीवन में निद्रा की कितनी आवश्यकता है ? निद्रा से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, कठिन-से-कठिन कार्य करने के लिये साहस एवं स्फूर्ति प्राप्त होती है, शरीर और मन में उदग्र नव-जीवन का संचार हो जाता है। निद्रा में ऐसी क्या शक्ति है ? इसके उत्तर में निवेदन है कि मन का व्यापार बंद होने से ही निद्रा आती है। जब तक मन चंचल रहता है, जब तक कोई चिन्ता या शोक मन में चक्कर काटता रहता है; तब तक मनुष्य निद्रा का आनन्द नहीं ले सकता। चित्त वृत्तियों की स्तब्धता ही—इधर उधर के विकल्पों की लहरों का अभाव ही—श्रेष्ठ निद्रा है, सुषुप्ति है।

सामायिक : योगनिद्रा

*

आप कहेंगे, सामायिक के प्रसंग में निद्रा की क्या चर्चा ? मैं कहूंगा—सामायिक भी एक प्रकार की योग-निद्रा है, आध्यात्मिक सुषुप्ति है, चित्त-वृत्तियों के निरोध की साधना है। सामान्य निद्रा और योग-निद्रा में इतना ही अन्तर है कि निद्रा अज्ञान एवं प्रमाद-मूलक होती है; जबकि सामायिक-रूप योगनिद्रा ज्ञान एवं जागृति-मूलक है। सामायिक में चंचल मन की ज्ञान-मूलक स्थिरता होती है, अतः इससे आध्यात्मिक जीवन के लिए बहुत कुछ उत्साह, बल, दीप्ति एवं प्रस्फूर्ति की प्राप्ति होती है। सामायिक से क्या लाभ है ? इस प्रश्न को उठाने वाले सज्जन इस दिशा में विशेष चिन्तन का प्रयत्न करें।

धैर्यपूर्वक चलते रहिए

*

प्रश्न हो सकता है—चित्त-वृत्तिका निरोध हो जाने पर अर्थात् एक लक्ष्य पर मन को स्थिर कर लेने पर तो यह आनन्द मिल सकता है। परन्तु जब तक मन स्थिर न हो, चित्त-वृत्ति शांत न हो; तब तक तो इससे कोई लाभ नहीं ? उत्तर है—बिना साधन के साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। बिना श्रम के, बिना प्रयत्न के कभी कुछ

मिला है आज तक किसी साधक को ? प्रसिद्ध ब्राह्मणकार महीदास ने अपने ऐतरेय ब्राह्मण (३२।३) में कहा है--

'चरैवेति चरैवेति'—चले चलो, चले चलो !

साधना के मार्ग में पहले दृढता से चलना होता है, फिर साध्य की प्राप्ति का आनन्द उठाया जाता है। आजकल यह वृत्ति बड़ी भयंकर चल रही है कि "हल्दी लगे न फिटकरी, रंग चोखा ही चोखा।" करना कराना कुछ न पड़े, और कार्य-सिद्धि हमारे चरणों में सादर उपस्थित हो जाय !

कल्पना कीजिये, आप के सामने एक सुन्दर आम का वृक्ष है। उस पर पके हुए रसदार फल लगे हुए हैं। आपकी इच्छा है, आम खाने की। परन्तु, आप अपने स्थान से न उठें, आम तक न पहुंचें, न ऊपर चढ़ें, न फल तोड़ें, न चूसें और चाहें यह कि आम का मधुर रस चख लें। क्या ऐसा हो सकता है कभी ? कदापि नहीं। आम खाने तक जितने व्यापार हैं, यह ठीक है कि उनमें आनन्द नहीं है। परन्तु इसी पर कोई कहे कि वृक्ष तक पहुंचने तक में आम का स्वाद नहीं मिलता, अतः मैं नहीं जाऊँगा, नहीं चढूंगा, नहीं फल तोडूँगा; तो बताइए उसे क्या कहा जाय ? यही बात सामायिक से पहले तर्क उठाने वालों की भी है। उनका समाधान नहीं हो सकता। सामायिक एक साधना है, पहले-पहल सम्भव है, आनन्द न आए ! परन्तु, ज्यों ही आगे बढ़ेंगे, आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करेंगे, आपको उत्तरोत्तर अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होता जायेगा। तट पर न बैठे रहिए ! समुद्र में गहरीं डुबकी लगाइए ! अपार रत्नराशि आपको मालामाल कर देगी !

सामायिक का महत्व समझिए

एक बात और भी है, जिस पर लक्ष्य देना आवश्यक है। सामायिक एक पवित्र धार्मिक अनुष्ठान है; अतः सामायिक-सम्बन्धी दो घड़ी का अनमोल काल व्यर्थ ही आलस्य, प्रमाद, अशुभ एवं निन्द्य प्रवृत्तियों में नहीं बिताना चाहिए। आजकल सामायिक तो की जाती है; किन्तु उसकी महनीय मर्यादा का पालन नहीं किया जाता। बहुत बार देखा गया है कि लोग सामायिक में दुनियादारी की अंटसंट बातें करने लग जाते हैं, आपस में गमागरम बहस करते हुए झगड़ने लगते हैं,

गन्दी एवं कुत्सित विकारोत्तेजक पुस्तकें पढ़ते हैं, हँसी-मजाक करते हैं, सोने लगते हैं, आदि आदि। उनकी दृष्टि में जैसे-तैसे दो घड़ी का समय गुजार देना ही सामायिक है। यही हमारी अज्ञानता है, जो आज सामायिक के महान् आदर्श को पाकर भी हम उन्नत नहीं हो पाते, आध्यात्मिक उच्च भूमिका पर पहुंच नहीं पाते।

हां तो सामायिक में हमें बड़ी सावधानी के साथ अन्तर्जगत् में प्रवेश करना चाहिए। बाह्य जीवन की ओर अभिमुख रहने से सामायिक की विधि का पूर्णरूपेण पालन नहीं हो सकता। अस्तु, सामायिक में भगवान-तीर्थंकर देव की स्तुति भक्तामर आदि स्तोत्रों के द्वारा करनी चाहिए, ताकि आत्मा में श्रद्धा का अपूर्व तेज प्रकट हो सके। महापुरुषों के जीवन की झाँकियों का विचार करना चाहिए, ताकि मन की आंखों के समक्ष आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सके। पवित्र धर्म-पुस्तकों का अध्ययन-चिन्तन, मनन एवं नवकार-मंत्र का जप करना चाहिए, ताकि हमारी अज्ञानता और अश्रद्धा का अन्धकार दूर हो। यदि इस प्रकार सामायिक का पवित्र समय विताया जाये, तो अवश्य ही आत्मा निश्रेयस् प्राप्त कर सकेगी, परमात्मा भाव के पवित्र पद पर पहुंच सकेगी।

००

सामायिक सूत्र

१ ‖ नमस्कार—सूत्र

नमो अरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्वसाहूणं।

एसो पंच-नमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

शब्दार्थ

नमो=नमस्कार हो
अरिहंताणं— अरिहन्तों को
नमो =नमस्कार हो
सिद्धाणं =सिद्धों को
नमो=नमस्कार हो
आयरियाणं=आचार्यों को
नमो=नमस्कार हो
उवज्झायाणं=उपाध्यायों को
नमो=नमस्कार हो
लोए=लोक में
सव्व=सर्व
साहूणं=साधुओं को
एसो=यह
पंच=पांचों को किया हुआ
नमोक्कारो=नमस्कार
सव्वपाव=सब पापों को
प्पणासणो=विनष्ट करनेवाला है
च=और
सव्वेसिं=सब
मंगलाणं=मंगलों में

पढमं=मुख्य　　　हवइ=है
मंगलं=मंगल

भावार्थ

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक में—समग्र मानवक्षेत्र में वर्तमान समस्त साधु-साध्वियों को—अर्थात् धर्म-साधकों को मेरा नमस्कार हो।

उक्त पांच परमेष्ठी महान् आत्माओं को किया हुआ यह नमस्कार, सब प्रकार के पापों को पूर्णतया नाश करनेवाला है और विश्व के सब मंगलों में प्रथम—प्रधान मंगल है।

विवेचन

मानव-जीवन में नमस्कार को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। मनुष्य के हृदय की कोमलता, सरसता, गुण-ग्राहकता एवं भावुकता का पता तभी लगता है, जबकि वह अपने से श्रेष्ठ एवं पवित्र महान् आत्माओं को भक्ति-भाव से गद्गद् होकर नमस्कार करता है, गुणों के समक्ष अपनी अहंता का त्याग कर गुणी के चरणों में अपने-आपको सर्वतो-भावेन अर्पण कर देता है।

नमस्कार का अर्थ

*

नमस्कार, नम्रता एवं गुण-ग्राहकता का विशुद्ध प्रतीक है। नमस्कार की व्याख्या करते हुए वैयाकरण कहा करते हैं—

'मत्तस्त्वमुत्कृष्टस्त्वत्तोऽहमपकृष्टः, एतद्द्वय बोधनानुकूल व्यापारो हि नमः शब्दार्थः।''

उक्त वाक्य का भावार्थ यह है कि नमस्कार शब्द से यह अर्थ ध्वनित होता है—मेरे से आप उत्कृष्ट हैं, गुणों में बड़े हैं और मैं आपसे अपकृष्ट हूँ, गुणों में हीन हूँ।

एक बात ध्यान में रहे, यहाँ हीनता और महत्ता स्वामी सेवक-जैसी नहीं है। जैन-धर्म में इस प्रकार की दास मनोवृत्ति वाले निम्न श्रेणी के सम्बन्धों का स्वप्न में भी कहीं स्थान नहीं है। यहाँ हीनता और महत्ताका

सम्बन्ध वैसा ही पवित्र एवं गुणात्मक है जैसा कि पिता और पुत्र का होता है, गुरु और शिष्य का होता है। उपासक और उपास्य दोनों के बीच में भक्ति और प्रेम का साम्राज्य है। आदर्श रूप में पवित्र संस्कार ग्रहण करने की भावना से ही उपासक अपने अभीष्ट उपास्य के अभिमुख होता है। इसमें विवशता या लाचारी—जैसा भाव आस-पास कहीं भी नहीं है।

प्रमोद भावना

*

शास्त्रीय परिभाषा में नमस्कार एक प्रमोद-भावना है। अपने से अधिक सद्‌गुणी, तेजस्वी, एवं विकसित आत्माओं को देख कर अथवा सुन कर प्रेम से गद्‌गद होजाना, उनके प्रति बहुमान एवं सम्मान प्रदर्शित करना, प्रमोद-भावना हैं।

प्रमोद-भावना का अभ्यास करने से सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है। ईर्ष्या, डाह और मत्सर आदि दुर्गुणों का समूल नाश हो जाता है, फलतः साधक का हृदय विशाल, उदार, एवं उदात्त हो जाता है। हजारों-लाखों सज्जन, पूर्व काल में इसी प्रमोद-भावना के वल से ही अपने जीवन का कल्याण कर गए हैं।

नमस्कार से लाभ

*

आज तर्क का युग है। प्रश्न किया जाता है कि महान् आत्माओं को केवल नमस्कार करने और उनका नाम लेने से क्या लाभ है? अरिहन्त आदि क्या कर सकते हैं?

प्रश्न सुन्दर है, समाधान चाहता है, अतः उत्तर पर विचार करना चाहिए। हम कव कहते हैं कि अरिहन्त, सिद्ध आदि वीतराग हमारे लिए कुछ करते हैं? उनका हमारे उत्थान या पतन से कोई सीधा सम्वन्ध नही है। जो कुछ भी करना है हमें ही करना है। परन्तु, आलम्बन की तो आवश्यकता होती है। पांच पद हमारे लिये आलम्बन हैं, आदर्श हैं, लक्ष्य हैं। उन तक पहुंचना, उन जैसी अपनी आत्मा को भी विकसित करना, हमारा अपना आध्यात्मिक ध्येय है। कर्तृत्व का अर्थ स्थूल दृष्टि से केवल हाथ-पैर मारना ही नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में निमित्तमात्र से ही कर्तृत्व आ जाता है। और, इस अंश में जैन-धर्म का दूसरे कर्तृत्व-वादियों से समझौता होजाता है। परन्तु, जहाँ कर्तृत्व

का अर्थ स्थूल सहायता, उद्धार एवं अलौकिक चमत्कार-लीला आदि लिया जाता है, वहाँ जैन-धर्म को अपना पृथक् स्वतंत्र मार्ग चुनना होता है।

अरिहन्त आदि महापुरुषों का नाम लेने से पाप-मल उसी प्रकार दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर चोर भागने लगते हैं। सूर्य ने चोरों को लाठी मार कर नहीं भगाया, किन्तु उसके निमित्तमात्र से ही चोरों का पलायन हो गया। सूर्य कमल को विकसित करने के लिए कमल के पास नहीं आता; किन्तु उसके गगन मंडल में उदय होते ही कमल स्वयं खिल उठते हैं। कमलों के विकास में सूर्य निमित्त कारण है; साक्षात्कर्ता नहीं। इसी प्रकार अरिहन्त आदि महान् आत्माओं का नाम भी संसारी आत्माओं के उत्थान में निमित्त कारण बनता है। सत्पुरुषों का नाम लेने से विचार पवित्र होते हैं। विचार पवित्र होने से असत्संकल्प नहीं हो पाते हैं। आत्मा में बल, साहस, शक्ति का संचार होता है, स्वस्वरूप का भान होता है। और तव कर्मबन्धन उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जिस तरह लंका में ब्रह्मपाश में बंधे हुए हनुमान के दृढ़ बन्धन छिन्न-भिन्न हो गए थे। कव? जबकि उसे यह भान हुआ कि मैं हनुमान हूँ, मैं इन्हें तोड़ सकता हूँ।

गुण-पूजा

जैन-धर्म की जितनी भी शाखाएं हैं, उनमें चाहे कितना ही विस्तृत भेद क्यों न हो, परन्तु प्रस्तुत नमस्कार-मंत्र के सम्वन्ध में सब-के-सब एकमत हैं। यह वह केन्द्र है, जहां हम सब दूर-दूर के यात्री एकत्र हो जाते हैं। इसमें मानव-जीवन की महान् और उच्च भूमिकाओं को वन्दन करके गुण-पूजा का महत्व प्रकट किया गया है। आप देखेंगे कि हमारे पड़ौसी संप्रदायों के मंत्रों में व्यक्तिवाद का प्रावल्य है। वहाँ पर कहीं इन्द्र की स्तुति है तो कहीं विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य आदि की स्तुतियाँ हैं। परन्तु, नमस्कार-मंत्र आपके समक्ष है, आपको इसमें किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं मिलेगा। यहाँ तो गुणों के विकास से जो श्रेष्ठ हो गये हैं, उनको नमस्कार है; भले ही वे किसी भी जाति, वर्ण, देश, वेष या संप्रदाय से सम्बन्ध रखते हों। वाह्य जीवन की विशेपताओं का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है आत्मा की आध्यात्मिक विशेषताओं का। अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक गुणों का विकास ही गुण-पूजा का कारण है।

पांच पद का अर्थ

*

महामंत्र नमस्कार का सर्वप्रथम विश्वहितंकर पद अरिहंत का है। अरिहंत का बहुप्रचलित एक अर्थ है—अन्तःकरण के काम, क्रोध, अहंकार, लोभ आदि विकारों एवं कर्म शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले महान आत्मा![1]

अरिहंत शब्द का एक दूसरा अर्थ है—परम पूजनीय अर्थात् वंदनीय आत्मा। पूजा के योग्य, अथवा मुक्ति गमन की क्षमता—योग्यता से पूर्ण आत्मा।[2]

एक व्युत्पत्ति के द्वारा यह भी बताया गया है कि जिस आत्मा के ज्ञानालोक में विश्व के समस्त चर अचर पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, जिससे कुछ भी प्रच्छन्न—छिपा हुआ (रह × रहस्य) नहीं है,[3] वह महान् आत्मा अरिहंत भगवान के पद पर प्रतिष्ठित होती है।

दूसरा पद सिद्ध का है। सिद्ध अर्थात्—पूर्ण। जो महान् आत्मा कर्म-मल से सर्वथा मुक्त हो कर, जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छूटकारा पाकर, अजर अमर, सिद्ध बुद्ध, मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध पद से सम्बोधित होते हैं। सिद्ध हांने के लिये पहले अरिहन्त की भूमिका तय करनी होती है। अरिहंत हुए बिना सिद्ध नहीं बना जा सकता। लोक-भाषा में कहा जाए तो जीवन्मुक्त अरिहंत होते हैं, और विदेह-मुक्त सिद्ध।[4]

---

१. अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति॥
—आव० निर्युक्ति ९१४

२. (क) अरिहंति वंदण नमंसणाइं, अरिहंति पूअ सक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरहंता तेण वुच्चंति॥
—आव० निर्युक्ति ९१५

(ख) पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः—अनुयोग द्वार वृत्ति,
दशाश्रुत स्कंधवृत्ति १

३. नास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वात् तेऽरहन्तः।
—स्थानांग वृत्ति ३।४

४. दीहकाल रयं जं तु, कम्मंसे सिअमट्ठहा।
सिअं धंतं ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायइ॥
—आव० निर्युक्ति ९१७

आचार्य का तीसरा पद है। जैन-धर्म में आचरण का बहुत बड़ा महत्त्व है। पद-पद पर सदाचार के मार्ग पर सतर्कता से गतिशील रहना ही जैन-साधक की श्रेष्ठता का प्रमाण है। अस्तु, जो आचार का, संयम का स्वयं पालन करते हैं, और संघ का नेतृत्व करते हुए दूसरों से पालन कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। जैन-आचार-परंपरा के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच मुख्य अंग हैं। आचार्य को इन पाँचों महाव्रतों का प्राण-प्रण से स्वयं पालन करना होता है, और दूसरे भव्य प्राणियों को भी, भूल होने पर, उचित प्रायश्चित्त आदि देकर, सत्पथ पर अग्रसर करना होता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-यह चतुर्विध संघ है, इसकी आध्यात्मिक-साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर होता है।[1]

चतुर्थ पद उपाध्याय का है। जीवन में विवेक-विज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के द्वारा जड़ और चैतन्य के पृथक्करण का भान होने पर ही साधक अपना उच्च एवं आदर्श जीवन बना सकता है। अतः आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का कर्तृत्व उपाध्याय पर है। उपाध्याय मानव-जीवन की अन्तः-ग्रन्थियों को बड़ी सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते हैं, और अनादिकाल से अज्ञान अन्धकार में भटकते हुये भव्य प्राणियों को विवेक का प्रकाश देते हैं। 'उप-समीपेऽधीयते यस्मात् इति उपाध्यायः।'

पंचम पद साधु का है। साधु का अर्थ है—आत्मार्थ की साधना करने वाला साधक। प्रत्येक व्यक्ति सिद्धि की शोध में है; परन्तु आत्मार्थ की सिद्धि की ओर किसी विरले ही महानुभाव का लक्ष्य जाता है। सांसारिक वासनाओं को त्याग कर जो पांच इन्द्रियों को अपने वश में रखते हैं; ब्रह्मचर्य की नव वाडों की रक्षा करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ पर यथाशक्य विजय प्राप्त करते हैं, अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रत पालते हैं, पांच समिति और तीन गुप्तियों की सम्यक्तया आराधना करते हैं; ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार,

---

१. पंचविहं आयारं, आयरमाणस्स तहा पभासंता।
आयार दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति। —आव० निर्युक्ति ९९८
मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः—आचारांग चूर्णि

तप आचार, वीर्याचार-इन पांच आचारों के पालन में दिन-रात संलग्न रहते हैं, जैन परिभाषा के अनुसार वे ही पुरुष या स्त्री, साधु कहलाते हैं । "साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः ।"

व्यापक दृष्टि

*

यह साधु-पद मूल है । आचार्य, उपाध्याय और अरिहन्त—तीनों पद इसी साधु-पद के विकसित रूप है। साधुत्व के अभाव में उक्त तीनों पदों की भूमिका पर कथमपि नहीं पहुँचा जा सकता ।

पंचम-पद में 'लोए' और 'सव्व' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जैन-धर्म का समभाव यहां पूर्णरूपेण परिस्फुट हो गया है । द्रव्य-साधुता के लिए भले ही साम्प्रदायिक दृष्टि से नियत किसी वेष आदि का वन्धन हो; परन्तु भाव-साधुता के लिए, अन्तरंग की उज्ज्वलता के लिए तो किसी भी बाह्य रूप का प्रतिबन्ध नहीं है। भाव-साधुता अखिल संसार में जहाँ भी, जिस किसी भी व्यक्ति में अभिव्यक्त हो, वह जैन धर्म में अभिवन्दनीय है। नमस्कार हो लोक में—संसार में, जिस किसी भी रूप में जो भी भाव साधु हों, उन सबको ! कितना दीप्तिमान् महान् व्यापक आदर्श है !

देव और गुरु

*

पांचों पदों में प्रारंभ के दो पद देव-कोटि में आते हैं, और अन्तिम तीन पद आचार्य, उपाध्याय, साधु गुरु-कोटि में।

आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों अभी साधक ही हैं, आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में ही हैं। अतः अपने से निम्नश्रेणी के श्रावक आदि साधकों के पूज्य और उच्च श्रेणी के अरिहन्त आदि देवत्व भाव के पूजक होने से गुरु-तत्त्व की कोटि में हैं । परन्तु अरिहंत और सिद्ध तो अन्तिम विकास पद पर पहुँच गए हैं, अतः वे सिद्ध हैं, देव हैं। उनके जीवन में जरा भी राग द्वेष आदिकी स्खलना का, प्रमाद का लेश नहीं रहा, अतः उनका पतन नहीं हो सकता। अरिहन्त भी एक दृष्टि से सिद्ध—पूर्ण ही हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में उन्हें सिद्ध कहा भी हैं। अन्त-रात्मा की पवित्रता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल पूर्वबद्ध अघाति रूप प्रारब्ध कर्मों के भोग का है। अरिहन्तों को सुख दुःख आदि प्रारब्ध कर्म का भोग शेष रहता है, जब कि सिद्धों को शरीर-रहित मुक्ति मिल जाने के कारण प्रारब्ध कर्म नहीं रहते ।

चूलिका

*

चूलिका में पाँचों पदों के नमस्कार की महिमा कथन की गई है। मूल नमस्कार-मंत्र तो पाँच पद तक ही है, किन्तु यह चूलिका भी कुछ कम महत्व की नहीं है।

चूलिका में बताया गया है कि पाँच परमेष्ठी को नमस्कार करने से सब प्रकार के पापों का नाश हो जाता है। नाश ही नहीं, प्रणाश हो जाता है। प्रणाश का अर्थ है, पूर्ण रूप से नाश, सदा के लिए नाश! कितना उत्कृष्ट प्रयोजन है!

चूलिका में पहले पापों का नाश बतलाया है, और बाद में मंगल का उल्लेख किया है। पहले दो पदों में हेतु का उल्लेख है, तो अन्तिम दो पदों में कार्य का, फल का वर्णन है। जब आत्मा पाप-कालिमा से पूर्णतया साफ हो जाती है, तो फिर सर्वत्र सर्वदा आत्मा का मंगल-ही-मंगल है, कल्याण-ही-कल्याण है। नमस्कार-मंत्र हमें पाप-नाशरूप अभावात्मक स्थिति पर ही नहीं पहुँचाता, प्रत्युत अपूर्व-मंगल का विधान करके हमें पूर्ण भावात्मक स्थिति पर भी पहुँचाता है।

द्वैत-अद्वैत नमस्कार

*

आचार्य जयसेन नमस्कार पर विवेचन करते हुए, नमस्कार के दो भेद बतलाते हैं—एक द्वैत नमस्कार और दूसरा अद्वैत। जहाँ उपास्य और उपासक में भेद की प्रतीति रहती है, मैं उपासना करने वाला हूँ और यह अरिहन्त आदि मेरे उपास्य हैं—यह द्वैत रहता है, वह द्वैत नमस्कार है। और जब कि राग-द्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चिद्भाव की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि आत्मा अपने-आपको ही अपना उपास्य अरिहन्त आदि रूप समझता है और उसे केवल स्व-स्वरूप का ही ध्यान रहता है, वह अद्वैत नमस्कार कहलाता है। दोनों में अद्वैत नमस्कार ही श्रेष्ठ है। द्वैत नमस्कार, अद्वैत का साधन-मात्र है। पहले पहल साधक भेद-प्रधान साधना करता है, और बाद में ज्यों-ज्यों आगे प्रगति करता है, त्यों-त्यों अभेद-प्रधान साधक होता जाता है। पूर्ण अभेदसाधना अरिहन्त दशा में प्राप्त होती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य जयसेन से कहा है :

"अहमाराधकः एते च अर्हदादय आराध्या, इत्याराध्याराधक-विकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते। रागाद्युपाधि-विकल्प-रहितपरमसमाधि-बलेनात्मन्येव आराध्याराधकभावः पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते।"

—प्रवचनसार १५ तात्पर्य-वृत्ति

नमस्कार अपने आपको

❋

अद्वैत नमस्कार की साधना के लिए साधक को निश्चय दृष्टि-प्रधान होना चाहिए। जैन-धर्म का परम लक्ष्य निश्चय दृष्टि ही है। हमारी विजय-यात्रा बीच में ही कहीं टिक रहने के लिए नहीं है। हम तो धर्म-विजय के रूप में एक-मात्र अपने आत्म-स्वरूप रूप चरम लक्ष्य पर पहुंचना चाहते हैं। अतः नवकार मन्त्र पढ़ते हुए साधक को नवकार के पांच महान् पदों के साथ अपने-आपको सर्वथा अभिन्न अनुभव करना चाहिए। उसे विचार करना चाहिए—मैं मात्र आत्मा हूँ, कर्म-मल से अलिप्त हूँ। यह जो कुछ भी कर्म-बन्धन है, मेरी अज्ञानता के कारण ही है! यदि मैं अपने इस अज्ञान के परदे को, मोह के आवरण को दूर करता हुआ आगे बढ़ूँ और अन्त में इसे पूर्ण रूप से दूर कर दूँ, तो मैं भी क्रमशः साधू हूँ, उपाध्याय हूँ, आचार्य हूँ, अरिहन्त हूँ और सिद्ध हूँ। मुझ में और इनमें भेद ही क्या रहेगा? उस समय तो मेरा नमस्कार मुझे ही होगा न? और अब भी जो मैं यह नमस्कार कर रहा हूँ, वह गुलामी के रूप में किसी के आगे नहीं झुक रहा हूँ, प्रत्युत आत्मगुणों का ही आदर कर रहा हूँ; अतः एक प्रकार से मैं अपने-आपको ही नमन कर रहा हूँ। जैन शास्त्रकार जिस प्रकार भगवती-सूत्र आदि में निश्चय-दृष्टि की प्रमुखता से आत्मा को ही सामायिक कहते हैं; उसी प्रकार आत्मा को ही पंच परमेष्ठी भी कहते हैं। अतः निश्चय नय से यह नमस्कार पांच पदों को न होकर अपने-आप को ही होता है। इस प्रकार निश्चय दृष्टि की उच्च भूमिका पर पहुँच कर जैन-धर्म का तत्त्व-चिन्तन, अपनी चरम-सीमा पर अवस्थित हो जाता है। अपनी आत्मा को नमस्कार करने की भावना के द्वारा अपने आत्मा की पूज्यता, उच्चता, पवित्रता और अन्ततोगत्वा परमात्मरूपता ध्वनित होती है। जैन-धर्म का गंभीर घोष है कि 'अपनी आत्मा ही अपने भविष्य का निर्माता है, अखण्ड भाव-शान्ति का भण्डार है, और शुद्ध परमात्म-रूप है—"अप्पा सो परमप्पा"।

यह बाह्य नमस्कार आदि की भूमिका तो मात्र प्रारम्भ का मार्ग है। इसकी पूर्णता निश्चय भाव पर पहुँचने में ही है, अन्यत्र नहीं। यह जो-कुछ भी मैं कह रहा हूँ, केवल मेरी मति-कल्पना नहीं है। इस प्रकार के अद्वैत नमस्कार की भावना का अनुशीलन कुछ पूर्वाचार्यों ने भी किया है। एक आचार्य कहते हैं—

नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं नमोनमः!
नमो मह्यं नमो मह्यं, नमो मह्यं नमोनमः!!

जैन संसार के सुप्रसिद्ध मर्मी संत श्री आनन्दघन जी भी एक जगह भगवत्स्तुति करते हुए बड़ी ही सुन्दर एवं सरस भाव-तरंग में कह रहे हैं—

अहो अहो हूँ मुझने नमू, नमो मुझ नमो मुझ रे!
अमित फलदान दातारनी, जेहने भेंट थई तुझ रे!!

नमस्कारपूजा: द्रव्य और भाव

*

नवकार-मंत्र के पाँचों पदों में सर्वत्र आदि में बोला जाने वाला 'नमो' पद पूजार्थक है। इसका भाव यह है कि महापुरुषों को नमस्कार करना ही उनकी पूजा है। नमस्कार के द्वारा हम नमस्करणीय पवित्र आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धा, भक्ति और पूज्य भावना प्रकट करते हैं। यह नमस्कार-पूजा दो प्रकार से होती है—द्रव्य नमस्कार और भाव नमस्कार। द्रव्य नमस्कार का अभिप्राय है, हाथ-पैर और मस्तक आदि अंगों को एक बार हरकत में लाकर महापुरुष की ओर झुका देना, स्थिर कर देना। और भाव नमस्कार का अभिप्राय है—अपने चंचल मन को इधर-उधर के विकल्पों से हटाकर महापुरुष की ओर प्रणिधान-एकाग्र करना। नमस्कार करने वालों का कर्तव्य है कि वे दोनों ही प्रकार का नमस्कार करें। नमः शब्द पूजार्थक है, इसके लिए धर्म-संग्रह का दूसरा अधिकार देखिए—

"नमः इति नैपातिकं पदं पूजार्थम्। पूजा च द्रव्यभावसंकोचः। तत्र करशिरःपादादिद्रव्यसंन्यासो द्रव्यसंकोचः। भावसंकोचस्तु विशुद्धस्य मनसो योगः।"

क्रम की सार्थकता

*

यद्यपि आध्यात्मिक पवित्रतारूप निष्कलंकता की सर्वोत्कृष्ट दशा में पहुँचे हुए पूर्ण विशुद्ध आत्मा केवल सिद्ध भगवान् ही हैं,

अतः सर्वप्रथम उन्हीं को नमस्कार की जानी चाहिए । परन्तु, सिद्ध भगवान् के स्वरूप को बतलाने वाले, और अज्ञान के सघन अंधकार में भटकने वाले मानव-संसार को सत्य की अखंड ज्योति के दर्शन कराने वाले परमोपकारी श्री अरिहन्त भगवान् ही हैं, अतः उनको ही सर्व-प्रथम नमस्कार किया गया है। यह व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है।

प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार तो सर्वप्रथम साधु को ही नमस्कार करना चाहिए। क्योंकि आजकल हमारे लिए तो वही सत्य के उपदेष्टा हैं। उत्तर में निवेदन है कि सर्वप्रथम सत्य का साक्षात्कार करने वाले और केवल ज्ञान के प्रकाश में सत्यासत्य का पूर्ण विवेक परखने वाले तो श्री अरिहन्त भगवान् ही हैं। उन्होंने साक्षात् स्वानुभूत सत्य-का जो-कुछ प्रकाश किया, उसीको मुनि-महाराज जनता को बताते हैं। स्वयं मुनि तो सत्य के सीधे साक्षात्कार करने वाले नहीं हैं। वे तो परम्परा से आने वाला सत्य ही जनता के समक्ष रख रहे हैं। अतः सत्य के पूर्ण अनुभवी मूल उपदेष्टा होने की दृष्टि से, गुरु से भी पहले अरिहन्तों को नमस्कार है।

सर्वश्रेष्ठ मंत्र

*

जैन-धर्म में नवकार मंत्र से बढ़कर कोई भी दूसरा मंत्र नहीं है। जैन-धर्म अध्यात्म-विचारधारा-प्रधान धर्म है, अतः उसका मन्त्र भी अध्यात्म-भावना प्रधान ही होना चाहिए था। और इस रूप में नवकार मंत्र है। नवकार मंत्र के सम्बन्ध में जैन-परम्परा की मान्यता है कि यह सम्पूर्ण जैन वाङ्‌मय का अर्थात् चौदह पूर्व का सार है, निचोड़ है। चौदह पूर्व का सार इसलिए है कि इसमें समभाव की महत्ता का तटस्थ भाव से दिग्दर्शन कराया गया है। बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के, बिना किसी देश या जाति-गत विशेषता के गुण-पूजा का महत्त्व बताया गया है। जैन-धर्म की संस्कृति का प्रवाह समभाव को लक्ष्य में रखकर प्रवाहित हुआ है, फलतः सम्पूर्ण जैन-साहित्य इसी भावना से ओत-प्रोत है। जैनसाहित्य का सर्वप्रथम मंत्र नवकार मंत्र भी उसी दिव्य समभाव का प्रमुख प्रतीक है। अतः यह समग्र जैन-दर्शन का सार है, परम निष्यन्द है। नवकार को मंत्र क्यों कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो मनन करने से, चिंतन करने से दुःखों से त्राण-रक्षा करता है, वह मंत्र होता है—

"मंत्रः परमो ज्ञेयो मनन त्राणे ह्यतो नियमात्"

मंत्र शब्द की यह व्युत्पत्ति नवकार मंत्र पर ठीक बैठती है। वीतराग महापुरुषों के प्रति अखण्ड श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करने से अपने-आपको हीन समझने रूप संशय का नाश होता है, संशय का नाश होने पर आत्मिक-शक्ति का विकास होता है, और आत्मिक-शक्ति का विकास होने पर समस्त दुःखों का नाश स्वयं सिद्ध है।

प्राचीन धर्म ग्रन्थों में नवकार का दूसरा नाम परमेष्ठी मंत्र भी है, जो महान् आत्माएँ परम अर्थात् उच्च स्वरूप में—समभाव में स्थिर रहती हैं, वे परमेष्ठी कहलाती है। आध्यात्मिक विकास के ऊँचे पद पर पहुँचे हुए जीव ही परमेष्ठी माने गए हैं। और जिसमें उन परमेष्ठी आत्माओं को नमस्कार किया हो, वह मंत्र परमेष्ठी मंत्र कहलाता है।

महामंगल

*

जैन-परम्परा नवकार मंत्र को महान् मंगल रूप में बहुत बड़ा आदर का स्थान देती है। अनेक आचार्यों ने इस सम्बन्ध में नवकार की महिमा का वर्णन किया है और नवकार की चूलिका में भी कहा गया है कि नवकार ही सब मंगलों में प्रथम अर्थात् अनन्त आत्म-गुणों को अभिव्यक्त करने वाला सर्व-प्रधान मंगल है—

"मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।"

हाँ, तो अब जरा मंगल के ऊपर भी विचार कर लें कि वह प्रधान मंगल किस प्रकार है? मंगल के दो प्रकार हैं—एक द्रव्य मंगल और दूसरा भाव मंगल। द्रव्य मंगल को लौकिक मंगल और भाव मंगल को लोकोत्तर मंगल कहते हैं। दही और अक्षत आदि द्रव्य मंगल माने जाते हैं। साधारण जनता इन्हीं मंगलों के व्यामोह में फँसी पड़ी है। अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वास द्रव्य मंगलों के कारण ही फैले हुए हैं। परन्तु, जैन धर्म द्रव्य मंगल की महत्ता में विश्वास नहीं रखता। क्योंकि ये मंगल, अमंगल भी हो जाते हैं और सदा के लिए दुःखरूप अमंगल का अन्त भी नहीं करते। अतः द्रव्यमंगल ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल नहीं हैं। दही और अक्षत (चावल) मंगल माने जाते हैं। दही यदि ज्वर की दशा में खाया जाय, तो क्या होगा? अक्षत यदि मस्तक पर न लग कर आंख में पड़ जाय, तो क्या होगा? अमंगल ही होगा न? अस्तु, द्रव्य मंगल का मोह

छोड़कर सच्चे साधक को भाव मंगल ही अपनाना चाहिए। नवकार मंत्र भाव मंगल है। यह अन्तर्जगत् से—भाव लोक से सम्बन्ध रखता है, अतः भाव मंगल है। यह भाव मंगल सर्वथा और सर्वदा मंगल ही रहता है, साधक को सब प्रकार के दुःखों से बचाता है, कभी भी अमंगल एवं अहितकर नहीं होता। भाव मंगल जप, तप, ज्ञान, दर्शन, स्तुति, चारित्र, नमस्कार, नियम आदि के रूप में अनेक प्रकार का होता है। ये सब-के-सब भाव मंगल, मोक्ष-रूप सिद्धि के साधक होने से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मंगल हैं। आचार्य जिनदास ने इसी दृष्टि से मंगल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—(**मंगं-नारकादिषु पवडंतं सो लाति मंगलं। लति गेण्ह इति वुत्तं भवति-दश० चूर्णि १।१**) मंग-अर्थात् नारक आदि दुर्गति, उस से जो रक्षा करे वह मंगल है। नवकार मंत्र जप तथा नमस्कार-रूप भाव मंगल है। प्रत्येक शुभ कार्य करने से पहले नवकार मंत्र पढ़कर भाव मंगल कर लेना चाहिए। यह सब मंगलों का राजा है, अतः संसार के अन्य सब मंगल इसी के दासानुदास हैं। सच्चे जैन की नजरों में दूसरे मंगलों का क्या महत्त्व हो सकता है?

नव पद

*

नवकार मंत्र के नमस्कार मंत्र, परमेष्ठी मंत्र आदि कितने ही नाम हैं। परन्तु सबसे प्रसिद्ध नाम नवकार ही है। नवकार मंत्र में नव अर्थात् नौ पद हैं, अतः इसे नवकार मंत्र कहते हैं, पाँच पद तो मूल पदों के हैं और चार पद चूलिका के; इस प्रकार कुल नौ पद होते हैं। एक परम्परा, नौ पद दूसरे प्रकार से भी मानती है। वह इस प्रकार कि पाँच पद तो मूल के हैं और चार पद—**नमो नाणस्स**=ज्ञान को नमस्कार हो, **नमो दंसणस्स**=दर्शन को नमस्कार हो—**नमो चरित्तस्स**=चारित्र को नमस्कार हो, **नमो तवस्स**=तप को नमस्कार हो—ऊपर की चूलिका के हैं। इस परम्परा में अरिहन्त आदि पाँच पद साधक तथा सिद्ध की भूमिका के हैं और अन्तिम चार पद साधना के सूचक हैं। ज्ञान आदि की साधना के द्वारा ही साधु आदि साधक, अध्यात्म-क्षेत्र में प्रगति करते हुए प्रथम अरिहन्त बनते हैं और पश्चात् अजर, अमर सिद्ध हो जाते हैं। इस परम्परा में ज्ञान आदि चार गुणों को नमस्कार

करके जैन-धर्म ने वस्तुतः गुण-पूजा का महत्त्व प्रकट किया है। अतएव साधु आदि पदों का महत्त्व व्यक्ति की दृष्टि से नहीं, गुणों की दृष्टि से है। साधक की महत्ता ज्ञान आदि की साधना के द्वारा ही है, अन्यथा नहीं। और, जब ज्ञानादि की साधना पूर्ण हो जाती है, तब साधक अरिहन्त सिद्ध के रूप में देव-कोटि में आ जाता है। हाँ, तो दोनों ही परम्पराओं के द्वारा नौ पद होते हैं और इसी कारण प्रस्तुत मंत्र का नाम नवकार मंत्र है। नवकार मंत्र के नौ पद ही क्यों हैं? नव पद का क्या महत्त्व है? इन प्रश्नों पर भी यदि कुछ थोड़ा-सा विचार कर लें, तो एक गम्भीर रहस्य स्पष्ट हो जाएगा।

नव का अंक सिद्धि का सूचक

*

भारतीय साहित्य में नौ का अंक अक्षय सिद्धि का सूचक माना गया है। दूसरे अंक अखंड नहीं रहते, अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। परन्तु, नौ का अंक हमेशा अखंड, अक्षय बना रहता है। उदाहरण के लिए दूर न जाकर मात्र नौ के पहाड़े को ही ले लें। पाठक सावधानी के साथ नौ का पहाड़ा गिनते जाएँ, सर्वत्र नौ का ही अंक शेष रूप में उपलब्ध होगा—

९+९
१८=१+८=९
२७+२+७=९
३६=३+६=९
४५=४+५=९
५४=५+४=९
६३=६+३=९
७२=७+२=९
८१=८+१=९
९०=९+०=९

आपको समझ में ठीक तौर से आ गया होगा कि आठ और एक नौ, सात और दो नौ, छः और तीन नौ, पाँच और चार नौ—इस प्रकार सब अंकों में गुणाकार के द्वारा नौ का अंक पूर्ण-तया अखण्ड

ही बच रहता है। गणित की यह साधारण-सी प्रक्रिया, नौ अंक की अक्षय-स्वरूपता का सुन्दर परिचय दे देती है। नौ के अंक की अक्षयता के और भी बहुत से उदाहरण हैं। विशेष जिज्ञासु, लेखक का 'महामंत्र नवकार' अवलोकन करें। नवकार के नौ पदों से ध्वनित होने वाली अक्षय अंक की ध्वनि सूचित करती है कि जिस प्रकार नौ का अंक अक्षय है, अखंडित है, उसी प्रकार नव-पदात्मक नवकार की साधना करने वाला साधक भी अक्षय, अजर अमर पद प्राप्त कर लेता है। नवकार मंत्र का साधक कभी क्षीण, हीन और दीन नहीं हो सकता। वह बराबर अभ्युदय और निश्रेयस् का प्रगतिशील यात्री रहता है!

नव: आध्यात्मिक विकास का प्रतीक

*

नव-पदात्मक नवकार मंत्र से आध्यात्मिक विकास-क्रम की भी सूचना होती है। नौ के पहाड़े की गणना में ९ का अंक मूल है। तदनन्तर क्रमशः १८, २७, ३६, ४५,५४, ६३, ७२, ८१ और ९० के अंक हैं। इस पर से यह भाव ध्वनित होता है कि आत्मा के पूर्ण विशुद्ध— सिद्धत्व-रूप का प्रतीक ९ का अङ्क है, जो कभी खण्डित नहीं होता। आगे के अङ्कों में दो-दो अङ्क हैं। उनमें पहला अङ्क, शुद्धि का प्रतीक है, और दूसरा अशुद्धि का। समस्त संसार के अबोध प्राणी १८ अङ्क की दशा में हैं उनमें विशुद्धि का एक के रूप में छोटा-सा अंश है, और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की अशुद्धि का अंश आठ के रूप में अधिक है। यहाँ से साधना का जीवन शुरू होता है। सम्यक्त्व आदि की थोड़ी-सी साधना के पश्चात् आत्मा को २७ के अंक का स्वरूप मिल जाता है। भाव यह है कि इधर शुद्धि के क्षेत्र में एक अंश और बढ़ जाता है, और उधर अशुद्धि के क्षेत्र में एक अंश कम होकर मात्र ७ अंश ही रह जाते हैं। आगे चल कर ज्यों-ज्यों साधना लम्बी होती जाती है त्यों-त्यों शुद्धि के अंश बढ़ते जाते हैं, और अशुद्धि के अंश कम होते जाते हैं। अन्त में जब कि साधना पूर्ण रूप में पहुंचती है, तो शुद्धि का क्षेत्र पूर्ण हो जाता है और उधर अशुद्धि के लिए मात्र शून्य रह जाता है। संक्षेप में, ९० का अंक हमारे सामने यह आदर्श रखता है कि साधना के पूर्ण हो जाने पर साधक की आत्मा पूर्ण विशुद्ध हो जाती है, उसमें अशुद्धि का एक भी अंश नहीं रहता। अशुद्धि के सर्वथा अभाव का

प्रतीक ६० के अंक में ६ के आगे का ० शून्य है। हाँ तो, नमस्कार महामन्त्र की शुद्ध हृदय से साधना करने वाला साधक भी ६ के पहाड़े के समान विकसित होता हुआ अन्त में ६० के रूप में अर्थात् सिद्ध रूप में पहुँच जाता है, जहाँ आत्मा में मात्र अपना निजी शुद्ध रूप ही शेष रह जाता है। कर्मों का अशुद्ध अंश सदा काल के लिए पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

* *

२ ‖ सम्यक्त्व-सूत्र

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

शब्दार्थ

जावज्जीवं=जीवन पर्यन्त
मह=मेरे
अरिहंतो=अरिहन्त भगवान्
देवो=देव हैं
सुसाहुणो=श्रेष्ठ साधु
गुरुणो=गुरु हैं
जिण-पण्णत्तं=वीतराग देव का प्ररूपित तत्त्व ही
तत्तं=तत्त्व है, धर्म है
इअ=यह
सम्मत्तं=सम्यक्त्व
मे=मैंने
गहियं=ग्रहण किया

भावार्थ

राग-द्वेष के जीतनेवाले जिन अर्थात श्री अरिहन्त भगवान् मेरे देव हैं, जीवनपर्यन्त संयम की साधना करने वाले सच्चे साधु मेरे गुरु हैं, श्री जिन भगवान का बताया हुआ अहिंसा, सत्य आदि धर्म ही मेरा धर्म है—यह देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा-स्वरूप सम्यक्त्व-व्रत मैंने यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया ।

विवेचन

यह सूत्र 'सम्यक्त्व-सूत्र' कहा जाता है। सम्यक्त्व, जैनत्व की वह प्रथम भूमिका है, जहाँ से भव्य प्राणी का जीवन अज्ञान अन्धकार में से निकलकर सम्यक् आत्मबोध रूप ज्ञान के प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। आगे चलकर श्रावक आदि की भूमिकाओं में जो कुछ भी त्याग-वैराग्य, जप-तप, नियम-व्रत आदि साधनाएँ की जाती हैं, उन सबकी बुनियाद सम्यक्त्व ही मानी गई है। यदि मूल में सम्यक्त्व नहीं है, तो अन्य सब तप आदि प्रमुख क्रियाएँ, केवल अज्ञान कष्ट ही मानी जाती हैं, धर्म नहीं। अतः वे संसार-चक्र का घेरा बढ़ाती ही हैं, घटाती नहीं।

सम्यग्दृष्टि की मुख्यता

*

सच्चा श्रावकत्व और साधुत्व पाने के लिए सब से पहली शर्त सम्यक्त्व-प्राप्ति की है। सम्यक्त्व के विना होने वाला व्यावहारिक चारित्र, चाहे वह थोड़ा है या बहुत, वस्तुतः कुछ है ही नहीं। विना अंक के लाखों, करोड़ों बिन्दियाँ केवल शून्य कहलाती हैं, गणित में सम्मिलित नहीं हो सकतीं। और अंक का आश्रय पाकर शून्य का मूल्य दश गुणा हो जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद चारित्र भी निश्चय में परिणत होकर पूर्णतया उद्दीप्त हो उठता है।

चारित्र का पद तो बहुत दूर है, सम्यक्त्व के अभाव में तो मनुष्य ज्ञानी होने का पद भी प्राप्त नहीं कर सकता। भले ही मनुष्य न्याय या दर्शन आदि शास्त्र के गंभीर रहस्य जान ले, विज्ञान के क्षेत्र में हजारों नवीन आविष्कारों की सृष्टि कर डाले, धर्म-शास्त्रों के गहन-से-गहन विषयों पर भाव-भरी टिप्पणियाँ भी लिख छोड़े; परन्तु सम्यक्त्व के विना वह मात्र विद्वान् हो सकता है, ज्ञानी नहीं। विद्वान् और ज्ञानी दोनों के दृष्टि-कोण में बड़ा भारी अन्तर है। विद्वान् का दृष्टि-कोण संसाराभिमुख होता है; जबकि ज्ञानी का दृष्टि-कोण आत्माभिमुख। फलतः मिथ्यादृष्टि विद्वान् अपने ज्ञान का उपयोग कदाग्रह के पोषण में करता है; और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सदाग्रह के पोषण में। यह सदाग्रह का—सत्य की पूजा का निर्मल

दृष्टि-कोण बिना सम्यक्त्व के कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव भगवान् महावीर ने अपने पावापुरी के अन्तिम धर्म-प्रवचन में स्पष्ट रूप से कहा है—'सम्यक्त्व-हीन को ज्ञान नहीं होता, ज्ञान-हीन को चारित्र नहीं होता, चारित्र-हीन को मोक्ष नहीं होता, और मोक्ष-हीन को निर्वाण-पद नहीं मिल सकता—

> **नादंसणिस्स नाणं,**
> **नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।**
> **अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,**
> **नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥**

—उत्तराध्ययन-सूत्र, २८/३०

आत्मा की तीन दशा

*

सम्यक्त्व की महत्ता का वर्णन काफी लम्बा हो चुका है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह सम्यक्त्व है क्या चीज ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहना है कि संसार में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब तीन अवस्थाओं में विभक्त हैं— **१—बहिरात्मा, २—अन्तरात्मा, और ३—परमात्मा।**

'बहिरात्मा' नामक पहली अवस्था में आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के आवरण से सर्वथा ढका रहता है। अतः आत्मा निरंतर मिथ्या संकल्पों में फँस कर, पौद्गलिक भोग-विलासों को ही अपना आदर्श मान लेता है, उनकी प्राप्ति के लिए ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय करता है। वह सत्य संकल्पों की ओर कभी झांक कर भी नहीं देखता। जिस प्रकार ज्वर के रोगी को अच्छे-से-अच्छा पथ्य भोजन अच्छा नहीं लगता; इसके विपरीत, कुपथ्य भोजन ही उसे अच्छा लगता है; ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव का सत्य-धर्म के प्रति द्वेष तथा असत्य धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। यह बहिरात्मा का स्वरूप है।

'अंतरात्मा' नामक दूसरी अवस्था में, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का आवरण क्षीण हो जाने के कारण, आत्मा क्षयोपशम आदि के रूप में सम्यक्त्व के आलोक से आलोकित हो उठता है। यहाँ आकर आत्मा सत्य धर्म का साक्षात्कार कर लेता है, पौद्गलिक भोग-विलासों की ओर से उदासीन-सा होता हुआ

शुद्ध आत्म-स्वरूप की ओर झुकने लगता है, आत्मा और परमात्मा में एकता साधने का भाव जागृत करता है। इसके अनन्तर, ज्यों-ज्यों चारित्र मोहनीय कर्म का आवरण, क्रमशः शिथिल, शिथिलतर एवं शिथिलतम होता जाता है, त्यों त्यों आत्मा बाह्य भावों से हट कर अन्तरंग भाव में केन्द्रित होता जाता है और विकासानुसार विकारों का जय करता है, त्याग प्रत्याख्यान करता है और श्रावकत्व एवं साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है।

'परमात्मा'—नामक तीसरी अवस्था सर्वोच्च अवस्था है। आत्मा जब अपने आध्यात्मिक गुणों का विकाश करते-करते अन्त में अपने विशुद्ध आत्म स्वरूप को पा लेता है, अनादि-प्रवाह से निरन्तर चले आने वाले ज्ञानावरण आदि सघन कर्म-आवरणों का जाल सर्वथा नष्ट कर देता है, और अन्त में केवलज्ञान तथा केवल दर्शन की ज्योति के पूर्ण प्रकाश से जगमगा उठता है! तब वह परमात्मा हो जाता है। जैन-दर्शन में यही परमात्मा का स्वरूप है।

आत्मविकास के सूचक गुणस्थान

*

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म-अवस्था का द्योतक है। चौथे से बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्था के परिचायक हैं, और तेरहवाँ चौदहवाँ गुणस्थान अरिहन्त रूप परमात्म अवस्था का सूचक है। प्रत्येक साधक बहिरात्म-भाव की अवस्था से निकल कर अन्तरात्मा की 'आदि भूमिका' सम्यक्त्व पर आता है एवं सर्वप्रथम यहीं पर सत्य की वास्तविक ज्योति के दर्शन करता है। यह सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान की भूमिका है। यहाँ से आगे बढ़कर पाँचवें गुणस्थान में श्रावकत्व के तथा छठवें गुण-स्थान में साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है। सातवें से लेकर बारहवें तक के मध्य गुणस्थान साधुता के विकास की भूमिका रूप हैं। बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट होता है। और, ज्यों ही मोहनीय कर्म का नाश होता है, त्यों ही तत्क्षण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय-कर्म का नाश हो जाता है और साधक तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। तेरहवें गुणस्थान का अधिकारी पूर्ण वीतराग दशा पर पहुँचा हुआ जीवन्-मुक्त 'जिन' हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में आयुष्कर्म, वेदनीय आदि भोगावलीकर्मों को भोगता हुआ अन्तिम समय में चौदहवें गुणस्थान की

भूमिका को भी पार कर गुण स्थानातीत होता है और सदा के लिए अजर, अमर, देह-मुक्त 'सिद्ध' रूप परमात्मा बन जाता है ! सिद्ध-परमात्मा आत्मा के विकास का अन्तिम स्थान है। यहाँ आकर वह पूर्णता प्राप्त होती है, जिसमें फिर न कभी कोई विकास होता है और न ह्रास !

निश्चय और व्यवहार

*

सम्यक्त्व का क्या स्वरूप है और वह किस भूमिका पर प्राप्त होता है—यह ऊपर के विवेचन से पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है। संक्षेप में, सम्यक्त्व का सीधा-सादा अर्थ किया जाए, तो 'विवेक-दृष्टि' होता है। जड़-चेतन का, सत्य-असत्य का विवेक ही जीवन को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है। धर्म-शास्त्रों में सम्यक्त्व के अनेक भेद प्रतिपादन किए हैं। उनमें मुख्यतया दो भेद अधिक प्रसिद्ध हैं—**निश्चय और व्यवहार**। आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न आत्मा की एक विशेष परिणति, जो **ज्ञेय**=जानने योग्य-जीवाजीवादि तत्त्व को तात्त्विक रूप में जानने की, और **हेय**=छोड़ने-योग्य हिंसा, असत्य आदि पापों को त्यागने की, और **उपादेय**=ग्रहण करने-योग्य व्रत, नियम आदि को ग्रहण करने की अभिरुचि-रूप है, वह शुद्ध आत्म-प्रतीति रूप निश्चय सम्यक्त्व है ।व्यहार सम्यक्त्व श्रद्धा-प्रधान होता है। अतः कुदेव, कुगुरु, और कुधर्म को त्याग कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखना व्यवहार सम्यक्त्व है। व्यवहार सम्यक्त्व, एक प्रकार से निश्चय सम्यक्त्व का ही बहिर्मुखी रूप है। किसी व्यक्ति-विशेष में साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा विशेष गुणों का, किंवा आत्म-शक्ति का विकास देखकर उसके सम्बन्ध में जो एक सहज आनन्द की वेगवती धारा अन्तमें उत्पन्न हो जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा में महापुरुषों के महत्व की आनन्द-पूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ उनके प्रति पूज्य-बुद्धि का भाव भी है। अस्तु, संक्षेप में निचोड़ यह है कि "आत्म दृष्टिरूप निश्चय सम्यक्त्व अन्तरंग की चीज है, अतः वह मात्र अनुभवगम्य है। परन्तु, व्यवहार सम्यक्त्व की भूमिका देव, गुरु आदि की श्रद्धा पर है, अतः वह बाह्यदृष्टि से भी प्रत्यक्षतः सिद्ध है।"

प्रस्तुत सम्यक्त्व-सूत्र में व्यवहार सम्यक्त्व का वर्णन किया गया

है। यहाँ बतलाया गया है कि किस को देव मानना, किस को गुरु मानना और किस को धर्म मानना ? साधक प्रतिज्ञा करता है—अरिहन्त मेरे देव हैं, सच्चे साधु मेरे गुरु हैं, जिन-प्ररूपित तत्त्व रूप सच्चा धर्म मेरा धर्म है।

देव : अरिहन्त

*

जैन-धर्म में स्वर्ग लोक के भोग-विलासी देवों का स्थान अलौकिक एवं आदरणीय रूप में नहीं माना है। उनकी पूजा, भक्ति या सेवा करना, मनुष्य की अपनी मानसिक दुर्बलता के सिवा और कुछ नहीं है। जिन शासन आध्यात्मिक भावना-प्रधान धर्म है, अतः यहाँ श्रद्धा और भक्ति के द्वारा उपास्य देव वही हो सकता है, जो दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के पूर्ण विकास पर पहुँच गया हो, संसार की समस्त मोहमाया से मुक्त हो चुका हो, केवलज्ञान तथा केवल-दर्शन के द्वारा भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीन काल और तीन लोक को प्रत्यक्ष-रूप में हस्तामलकवत् जानता-देखता हो। जैन-धर्म का कहना है कि सच्चा अरिहन्त देव वही महापुरुष होता है, जो अठारह दोषों से सर्वथा रहित होता है।

अठारह दोष इस प्रकार हैं—

१ दानान्तराय	२ लाभान्तराय
३ भोगान्तराय	४ उपभोगान्तराय
५ वीर्यान्तराय	६ हास्य=हँसी
७ रति=प्रीति	८ अरति=अप्रीति
९ जुगुप्सा=घृणा	१० भय=डर
११ काम=वासना	१२ अज्ञान=मूढ़ता
१३ निद्रा=प्रमाद	१४ अविरति=त्याग का अभाव
१५ राग	१६ द्वेष
१७ शोक=चिन्ता	१८ मिथ्यात्व=असत्य निष्ठा

अन्तराय का अर्थ विघ्न होता है। जब अन्तराय कर्म का उदय होता है; तब दान देने में और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति आदि में विघ्न होता है। अपनी इच्छानुसार किसी भी कार्य का सम्पादन नहीं कर

सकता। अरिहन्त भगवान् का अन्तराय कर्म क्षय हो जाता है, फलत. उनको दान, लाभ आदि में किसी भी प्रकार का विघ्न नहीं होता।

गुरु : निर्ग्रन्थ

*

जैन-धर्म में गुरु का महत्त्व त्याग की कसौटी पर ही परखा जाता है। जो आत्मा अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का पालन करता हो, छोटे बड़े सब जीवों पर समभाव रखता हो, भिक्षा-वृत्ति के द्वारा भोजन-यात्रा पूर्ण करता हो, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता हो—रात्रि भोजन न करता हो, किसी भी प्रकार का परिग्रह—धन न रखता हो, पैदल ही विहार करता हो, वही, सच्चे गुरु-पद का अधिकारी है।

धर्म : जीवदया आदि

*

सच्चा धर्म वही है, जिसके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो, वासनाओं का क्षय हो, आत्म-गुणों का विकास हो, आत्मा पर से कर्मों का आवरण नष्ट हो। अन्त में आत्मा अजर, अमर, पद पाकर सदाकाल के लिए दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर ले। ऐसा धर्म अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह—सन्तोष तथा दान, तप और भावना आदि है।

सम्यक्त्व के लक्षण

*

सम्यक्त्व अन्तरंग की चीज है, अतः उसका ठीक-ठीक पता लगाना साधारण लोगों के लिए जरा मुश्किल है। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से केवलज्ञानी ही कुछ कह सकते हैं। तथापि, आगम में सम्यक्त्व-धारी व्यक्ति की विशेषता बतलाते हुए पाँच चिह्न ऐसे बतलाए हैं, जिनसे व्यवहार-क्षेत्र में भी सम्यग्दर्शन की पहचान हो सकती है।

१—**प्रशम**—असत्य के पक्षपात से होने वाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशमन होना 'प्रशम' है। सम्यग्-दृष्टि आत्मा कभी भी दुराग्रही नहीं होता! वह असत्य को त्यागने और सत्य को स्वीकार करने के लिए हमेशा तैयार रहता है। एक प्रकार से उसका समस्त जीवन सत्यमय और सत्य के लिए ही होता है।

२—**संवेग**—काम, क्रोध, मान, माया आदि सांसारिक बन्धनों का भय ही संवेग है। सम्यग्दृष्टि प्रायः भय से मुक्त रहता है। वह हमेशा निर्भय एवं निर्द्वन्द्व रहता है और उत्कृष्ट दशा में पहुँच कर तो जीवन-मरण; हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा आदि के भय से भी मुक्त हो जाता है। परन्तु, यदि उसे कोई भय अर्थात् अरुचि है, तो वह सांसारिक बन्धनों से है। वस्तुतः यह है भी ठीक। आत्मा के पतन के लिए सांसारिक बन्धनों से बढ़कर और कोई चीज नहीं है। जो इनसे डरता रहेगा, वही अपने को बन्धनों से स्वतंत्र कर सकेगा।

३—**निर्वेद**—विषय भोगों में आसक्ति का कम हो जाना 'निर्वेद' है। जो मनुष्य भोग-वासना का गुलाम है, विषय भोग की पूर्ति के लिए भयंकर-से-भयंकर अत्याचार करने पर भी उतारू हो जाता है, वह सम्यग्दृष्टि किस तरह बन सकता है? आसक्ति और सम्यग्-दर्शन का तो दिन रात का सा वैर है। जिस साधक के हृदय में संसार के प्रति गाढ आसक्ति नहीं है, जो विषय-भोगों से कुछ उदासीनता रखता है, वही सम्यग्-दर्शन की ज्योति से प्रकाशमान होता है।

४—**अनुकम्पा**—दुःखित प्राणियों के दुःखों को दूर करने की बल-वती इच्छा 'अनुकम्पा' है। सम्यग्दृष्टि साधक, संकट में पड़े हुए जीवों को देखकर कंपित हो उठता है, उन्हें बचाने के लिए अपने समस्त सामर्थ्य को लेकर उठ खड़ा होता है। वह अपने दुःख से इतना दुःखित नहीं होता, जितना कि दूसरों के दुःख से दुःखित होता है। जो लोग यह कहते हैं कि दुनियाँ मरे या जिए, हमें क्या लेना देना है? मरते को बचाने में पाप है, धर्म नहीं! उन्हें सम्यक्त्व के उक्त अनुकम्पा-लक्षण पर ही लक्ष्य देना चाहिए। अनुकम्पा ही तो भव्यत्व का परिपाक है! कहा जाता है—अभव्य बाह्यतः जीव-रक्षा कर सकता है, परन्तु अन्तर् में अनुकम्पा कभी नहीं कर सकता।

५—**आस्तिक्य**—आत्मा आदि परोक्ष किन्तु आगमप्रमाण सिद्ध पदार्थों का स्वीकार ही आस्तिक्य है। साधक आखिरकार साधक ही है, सिद्ध नहीं। अतः वह कितना ही प्रखर-बुद्धि क्यों न हो; परन्तु आत्मा आदि अरूपी पदार्थों को वह कभी भी प्रत्यक्षतः इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं कर सकता। भगवद्वाणी पर विश्वास रक्खे विना साधना की

यात्रा तय नहीं हो सकती। अतः तर्क एवं युक्ति के क्षेत्र में अग्रसर होते हुए भी, साधक को अध्यात्म-भावना प्रधान आगम-वाणी से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ना चाहिए।

मिथ्यात्व-परिहार

*

सम्यक्त्व का विरोधी तत्त्व मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों का एक स्थान पर होना असंभव है। अतः सम्यक्त्व-धारी साधक का कर्तव्य है कि वह मिथ्यात्व भावनाओं से सर्वदा सावधान रहे। कहीं ऐसा न हो कि भ्रांति-वश मिथ्यात्व की धारणाओं पर चलकर अपने सम्यक्त्व को मलिन कर बैठे। संक्षेप में, मिथ्यात्व के दश भेद हैं—

१—जिनको कंचन और कामिनी नहीं लुभा सकती, जिनको सांसारिक लोगों की प्रशंसा, निंदा आदि क्षुब्ध नहीं कर सकती, ऐसे सदाचारी साधुओं को साधु न समझना।

२—जो कंचन और कामिनी के दास बने हुए हैं, जिनको सांसारिक लोगों से पूजा प्रतिष्ठा पाने की दिन-रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु-वेश-धारियों को साधु समझना।

३—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—ये दश प्रकार का धर्म है। दुराग्रह के कारण उक्त धर्म को अधर्म समझना।

४—जिन कार्यों से अथवा विचारों से आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म है। अस्तु, हिंसा करना, शराब पीना, जुआ खेलना, दूसरों की बुराई सोचना इत्यादि अधर्म को धर्म समझना।

५—शरीर, इन्द्रिय और मन ये जड़ हैं। इनको आत्मा समझना, अर्थात् अजीव को जीव मानना।

६—जीव को अजीव मानना। जैसे कि गाय, बैल, बकरी आदि प्राणियों में आत्मा नहीं है, अतएव इनके मारने या खाने में कोई पाप नहीं है—ऐसी मान्यता रखना।

७—उन्मार्ग को सुमार्ग समझना। शीतला-पूजन, गंगा-स्नान, श्राद्ध आदि लोकमान्यताएँ, तथा जो पुरानी या नयी कुरीतियाँ हैं, जिनसे सचमुच हानि होती है, उन्हें ठीक समझना।

८—सुमार्ग को उन्मार्ग समझना । जिन पुरानी या नयी प्रथाओं से धर्म की वृद्धि होती है, सामाजिक उन्नति होती है उन्हें ठीक न समझना।

९—कर्म रहित को कर्म-सहित मानना। परमात्मा में राग,द्वेष नहीं हैं, तथापि यह मानना कि भगवान् अपने भक्तों की रक्षा के लिए दैत्यों का नाश करते हैं और अमुक स्त्रियों की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके पति बनते हैं, इत्यादि।

१०—कर्म-सहित को कर्म-रहित मानना। भक्तों की रक्षा और शत्रुओं का नाश राग द्वेष के बिना नहीं हो सकता और राग, द्वेष कर्म-सम्बन्ध के विना नहीं हो सकते। तथापि मिथ्या आग्रह-वश यही मानना कि यह सब भगवान की लीला है। सब-कुछ करते हुए भी अलिप्त रहना उन्हें आता है और इसलिए वे अलिप्त रहते हैं। उक्त दश प्रकार के मिथ्यात्व से सतत दूर रहना चाहिए।

सम्यक्त्व-सूत्र का प्रतिदिन पाठ क्यों ?

*

अंत में एक प्रश्न है कि जब साधक अपनी साधना के प्रारम्भिक काल में सर्व-प्रथम एक बार सम्यक्त्व ग्रहण कर ही लेता है और तत्पश्चात् ही अन्य धर्म-क्रियाएँ शुरू करता है; तब फिर उसका नित्य-प्रति पाठ क्यों ? क्या प्रतिदिन नित्य नयी सम्यक्त्व ग्रहण करनी चाहिए ? उत्तर है कि सम्यक्त्व तो एक बार प्रारम्भ में ग्रहण की जाती है, प्रतिदिन नहीं। परन्तु, प्रत्येक सामायिक आदि धर्म-क्रिया के आरम्भ में, प्रतिदिन जो यह पाठ बोला जाता है, इसका प्रयोजन सिर्फ यह है कि ग्रहण की हुई सम्यक्त्व की स्मृति को सदा ताजा रक्खा जाय। प्रतिदिन प्रतिज्ञा को दोहराते रहने से आत्मा में बल का संचार होता है, और प्रतिज्ञा नित्य प्रति अधिकाधिक स्पष्ट, शुद्ध एवं सबल होती जाती है।

यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाए तो सम्यक्त्व ग्रहण करने की, किसी से लेनेदेने की चीज नहीं है। वह तो आत्मा की एक विशिष्ट शुद्ध परिणति हैं, वह अन्तर में से ही जागृत होती है। यह जो पाठ हैं, वह बाहर का व्यवहार है। इसका लाभ केवल इतना है कि साधक को सम्यक्त्व के स्वरूप की प्रतीति होती रहे, अपने शुद्ध स्वरूप एवं ध्येय की स्मृति सदा जागृत रहे।

* *

३ || गुरु-गुण-स्मरण-सूत्र

[१]

पंचिंदिय-संवरणो,
  तह नवविह-बंभचेर-गुत्तिधरो ।
चउविह-कसायमुक्को,
  इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ॥

[२]

पंच-महव्वय-जुत्तो,
  पंचविहायारपालणसमत्थो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो,
  छत्तीसगुणो गुरू मज्झ ॥

शब्दार्थ

पंचिंदिय-संवरणो—पांच इन्द्रियों को अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषयों को रोकनेवाले, वश में करने वाले

तह—तथा इसी प्रकार

नव-विह-बंभचेर गुत्तिधरो—नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्तियों को धारण करने वाले

चउविहकसायमुक्को—चार प्रकार के कषाय से मुक्त

इअ—इन

अट्ठारस-गुणेहि संजुत्तो—अट्ठारह गुणों से संयुक्त

पंच महव्वय-जुत्तो—पाँच महाव्रतों से युक्त

पंचविहायारपालणसमत्थो—पांच प्रकार का आचार पालने में समर्थ

पंचसमिओ—पांच समिति वाले

तिगुत्तो—तीन गुप्ति वाले

छत्तीसगुणो—छत्तीस गुणों वाले सच्चे त्यागी

मज्झ—मेरे

गुरु—गुरु हैं

भावार्थ

पाँच इन्द्रियों के वैषयिक चांचल्य को रोकने वाले, ब्रह्मचर्य-व्रत की नवविध गुप्तियों को—नौ वाड़ों को धारण करने वाले, क्रोध आदि चार प्रकार की कषायों से मुक्त, इस प्रकार अठारह गुणों से संयुक्त—अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच आचार के पालन करने में समर्थ, पाँच समिति और तीन गुप्ति के धारण करने वाले, अर्थात् उक्त छत्तीस गुणों वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं।

विवेचन

मनुष्य का महान् एवं उन्नत मस्तक, जो अन्यत्र किसी भी गति एवं योनि में कहीं भी प्राप्त नहीं होता, क्या वह हर किसी के चरणों में झुकने के लिए है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! मनुष्य का मस्तक विचारों का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र है। वह नरक, तिर्यंच, स्वर्ग और मोक्ष सभी स्थितियों का स्रष्टा है। दृश्य-जगत् में यह जो-कुछ भी वैभव बिखरा पड़ा है, सब उसी की उपज है। अतएव, यदि वह भी अपने-आपको विचार-शून्य बना कर हर किसी के चरणों की गुलामी स्वीकार करने लगे, तो इससे बढ़कर मनुष्य का और क्या पतन हो सकता है?

सद्गुरु कौन ?

*

शास्त्रकारों ने सद्गुरु की महिमा का मुक्त-कंठ से गुणगान किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक साधक को गुरु के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति का भाव रखना चाहिए। भला जो मनुष्य प्रत्यक्ष-सिद्ध महान् उपकार करने वाले एवं माया के दुर्गम पथ को पार कर संयम-पथ पर पहुँचाने वाले अपने आराध्य सद्गुरु का ही भक्त नहीं है, वह परोक्ष-सिद्ध भगवान् का भक्त कैसे हो सकेगा ? साधक पर सद्गुरु का इतना विशाल ऋण है कि उसका कभी बदला चुकाया ही नहीं जा सकता। गुरुमहत्ता अपरम्पार है; अतः प्रत्येक धर्म-साधना के प्रारम्भ में सद्गुरु को श्रद्धा-भक्ति के साथ अभिवन्दन करना चाहिए। परन्तु प्रश्न है ? कौन-सा गुरु ? किसके चरणों में नमस्कार ? सद्गुरु के चरणों में, या सद्गुरु वेष धारी के चरणों में ?

आज संसार में, विशेष कर भारत में, गुरु-रूप-धारी द्विपद जीवों की कोई साधारण-सी सीमित संख्या नहीं है। जिधर देखिए उधर ही गली-गली में सैंकड़ों गुरु-नामधारी महापुरुष घूम रहे हैं, जो भोले-भाले भक्तों को जाल में फंसाते हैं, भद्र महिलाओं के उन्नत जीवन को जादू टोने के बहम में नष्ट कर देते हैं। कुछ दूसरे कारणों को गौण रूप में रक्खा जाय, तो भारत के पतन का यदि कोई मुख्य कारण है, तो वह गुरु ही है, ऐसा कहा जा सकता है। भला, जो दिन-रात भोग-विलास में लगे रहते हैं, चढ़ावे के रूप में बड़ी से बड़ी भेटें लेते हैं, राजाओं का-सा ठाठ-वाट सजाए रखते हैं, माल-मलीदा खाते हैं, इतर-फुलेल लगाते हैं, नाटक सिनेमा देखते हैं, मद्य, गाँजा, भाँग, सुलफा आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं, उन गुरुओं से देश का क्या भला हो सकता है ? जो स्वयं अन्धा हो, वह दूसरों को क्या खाक मार्ग दिखाएगा ? अतएव प्रस्तुत-सूत्र में वतलाया है कि सच्चे गुरु कौन हैं ? किनको वन्दन करना चाहिए ? प्रत्येक साधक को दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए कि "वह सूत्रोक्त छत्तीस गुणों के धर्ता महात्माओं को ही अपना धर्म-गुरु मानेगा, अन्य संसारी को नहीं।" गुरु-वन्दन से पहले उक्त प्रतिज्ञा का स्मरण करना एवं गुरु के-गुणों का संकल्प करना अत्यावश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सूत्र-पाठ, सामायिक करते समय गुरु वन्दन से पहले पढ़ा जाता है !

पांच इन्द्रियों का दमन

*

जीवात्मा को संसार सागर में डुबाने वाली पांच इन्द्रियाँ हैं—स्पर्शन इन्द्रिय—त्वचा, रसन इन्द्रिय—जिह्वा, घ्राण इन्द्रिय—नाक, चक्षु-आँख और श्रोत्र इन्द्रिय—कान। पाँचों इन्द्रियों के मुख्य विषय क्रमशः इस प्रकार हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। गुरु वह है जो उक्त विषयों में समभाव रखे। यदि प्रिय हों, तो राग न करे और यदि अप्रिय हों, तो द्वेष न करे।

नवविध-ब्रह्मचर्य

*

पांच इन्द्रियों की चंचलता रोक देने से ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन अपने-आप हो जाता है। तथापि ब्रह्मचर्य-व्रत को अधिक दृढ़ता के साथ निर्दोष पालन करने के लिए शास्त्र में नव गुप्तियाँ बतलाई हैं। नव गुप्तियों को साधारण भाषा में वाड़ भी कहते हैं। जिस प्रकार वाड़ अन्दर रही हुई वस्तु का संरक्षण करती है, उसी प्रकार नव गुप्तियाँ भी ब्रह्मचर्यव्रत का संरक्षण करती हैं।

१—**विविक्त-वसति-सेवा**—एकान्त स्थान में निवास करना। स्त्री, पशु, और नपुंसक तीनों की काम चेष्टाएँ विकारोत्तेजक होती हैं, अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उक्त तीनों से रहित एकान्त शान्त स्थान में निवास करना चाहिए।

२—**स्त्री-कथा-परिहार**—स्त्रियों की कथा का परित्याग करना। स्त्री-कथा से मतलब यहाँ स्त्रियों की जाति, कुल, रूप, और वेषभूषा आदि के वर्णन से हैं। जिस प्रकार नींबू के वर्णन से जिह्वा में से पानी वह निकलता है, उसी प्रकार स्त्री-कथा से भी हृदय में वासना का झरना वह निकलता है।

३—**निषद्यानुपवेशन**—निषद्या यानी स्त्री के बैठने की जगह, उस पर नहीं बैठना। शास्त्र में कहा है कि जिस स्थान पर स्त्री वैठती हो, उसके उठ जाने के वाद भी दो घड़ी तक ब्रह्मचारी को वहाँ नहीं वैठना चाहिए। कारण, स्त्री के शरीर के संयोग से वहाँ उष्णता हो

जाती है, वासना का वायु-मंडल तैयार हो जाता है। अतः बैठने वाले के मन में विह्वलता आदि दोष पैदा हो सकते हैं। आजकल के वैज्ञानिक भी विद्युत के नाम से उक्त परिस्थिति को स्वीकार करते हैं।

४—**इन्द्रियाप्रयोग**—स्त्री के मुख, नेत्र, हाथ, पैर आदि अवयवों की ओर देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि प्रसंग-वश कदाचित् दृष्टि पड़ भी जाय, तो शीघ्र ही हटा लेना चाहिए। सौन्दर्य के देखने से मन में मोहनी जागृत होगी, काम-वासना उठेगी, अन्त में ब्रह्मचर्य-व्रत के भंग की आशंका भी उत्पन्न हो जाएगी। जिस प्रकार सूर्य की ओर देखने से आँखों का तेज घटता है, उसी प्रकार स्त्री के अवयवों को देखने से ब्रह्मचर्य का बल भी क्षीण हो जाता है।

६—**कुड्यान्तर-दाम्पत्यवर्जन**—एक दीवार के अन्तर से स्त्री-पुरुष रहते हों, तो वहाँ नहीं रहना। कुड्य का अर्थ दीवार है, अन्तर का अर्थ दूरी से है, और दाम्पत्य का अर्थ स्त्री-पुरुष का युगल है। पास रहने से श्रृङ्गार आदि के वचन सुनने पर काम जागृत हो सकता है। अग्नि के पास रहा हुआ मोम पिघल ही जाता है।

६—**पूर्व क्रीड़ित-स्मृति**—पहली काम-क्रीड़ाओं का स्मरण न करना! ब्रह्मचर्य धारण करने के पहले जो वासना का जीवन रहा है, स्त्रियों के साथ सांसारिक सम्बन्ध कायम रहा है, उसको व्रती हो जाने के बाद कभी भी अपने चिन्तन में नहीं लाना चाहिए। वासना का क्षेत्र बड़ा भयंकर है। वासनाएँ भी जरा-सी स्मृति आ जाने पर पुनरुज्जीवित हो उठती हैं और साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर डालती हैं। मादक पदार्थों का नशा स्मृति के द्वारा जागत होता है, यह सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है।

७—**प्रणीताभोजन**—प्रणीत का अर्थ अति स्निग्ध है। अतः प्रणीत भोजन का अर्थ हुआ कि जो भोजन अति स्निग्ध हो, कामोत्तेजक हो, वह ब्रह्मचारी को नहीं खाना चाहिए। पौष्टिक भोजन से शरीर में जो कुछ विषय-वासना की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें हर कोई स्वानुभव से जान सकता है। जिस प्रकार सन्निपात का रोग घी खाने से भयंकर रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार विषय-वासना भी पौष्टिक पदार्थों के अमर्यादित सेवन से भड़क उठती है।

८—**अतिमात्राभोग**—प्रमाण से अधिक भोजन नहीं करना। भोजन का संयम, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए रामबाण अस्त्र है। भूख से

अधिक भोजन करने से शरीर में आलस्य पैदा होता है, मन में चंचलता होती है, और अन्त में इन सब बातों का असर ब्रह्मचर्य पर पड़ता है।

६—**विभूषा-परिवर्जन**—विभूषा का अर्थ अलंकार एवं शृङ्गार होता है, और परिवर्जन का अर्थ त्याग होता है। अतः विभूषा-परिवर्जन का अर्थ 'शृंगार का त्याग करना' हुआ। स्नान करना, इत्र-फुलेल लगाना, भड़कदार बढ़िया वस्त्र पहनना, इत्यादि कारणों से अपने मन में भी आसक्ति की भावना जागृत होती है और देखने वालों के मन में भी मोह का उद्रेक हो जाता है। कुम्हार को लाल रत्न मिला, साफ करके छप्पर पर रख दिया। सूर्य के प्रकाश में ज्यों ही चमका, मांस का टुकड़ा समझ कर चील उठाकर ले गई। शृङ्गार-प्रेमी साधु के ब्रह्मचर्य का भी यही हाल होता है।

चार कषाय का त्याग

*

कर्म-बन्ध का मुख्य कारण कषाय है। कषाय का शाब्दिक अर्थ होता है—'कष=संसार। आय=लाभ।' अर्थात् जिससे संसार का लाभ हो, जन्म-मरण का चक्र बढ़ता हो, वह कषाय है। मुख्य रूप से कषाय के चार प्रकार हैं—

(१) **क्रोध**—क्रोध से प्रेम का नाश होता है। क्रोध क्षमा से दूर किया जा सकता है।

(२) **मान**—अहंकार विनय का नाश करता है। नम्रता के द्वारा अहंकार नष्ट किया जा सकता है।

(३) **माया**—माया का अर्थ कपट है। माया मित्रता का नाश करती है; आर्जव—सरलता से माया दूर की जा सकती है।

(४) **लोभ**—लोभ सबसे अधिक भयंकर कषाय है। यह सभी सद्-गुणों का नाश करने वाला है। लोभ पर संतोष के द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

पांच महाव्रत

*

१—**सर्व-प्राणातिपात-विरमण**—सब प्रकार से अर्थात् मन, वचन और शरीर से प्राणातिपात—जीव की हिंसा—का त्याग करना,

प्रथम अहिंसा महाव्रत है। प्राणातिपात का अर्थ—प्राणों का अतिपात—नाश है। प्राण दश हैं—पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। विरमण का, अर्थ त्याग करना है। अतः किसी भी जीव के प्राणों का नाश करना हिंसा है। हिंसा का त्याग करना अहिंसा है।

(२) **सर्व-मृषावाद-विरमण**—सब प्रकार से मृषावाद—झूठ बोलने—का त्याग करना, सत्य महाव्रत है। मृषा का अर्थ झूठ, वाद का अर्थ भाषण, विरमण का अर्थ त्याग करना है।

(३) **सर्व-अदत्तादान-विरमण**—सब प्रकार से अदत्त चोरी का त्याग करना, अस्तेय महाव्रत है। अदत्त का अर्थ बिना दी हुई वस्तु है, आदान का अर्थ ग्रहण करना है।

(४) **सर्व-मैथुन-विरमण**—सब प्रकार से मैथुन—काम वासना—का त्याग करना, ब्रह्मचर्य महाव्रत है। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की काम-सम्बन्धी चेष्टा करना, साधु के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

(५) **सर्व-परिग्रह-विरमण**—सब प्रकार से परिग्रह—धन-धान्य आदि का त्याग करना, अपरिग्रह महाव्रत है। अधिक क्या, कौड़ी मात्र धन भी अपने पास न रखना, न दूसरों के पास रखवाना और न रखने वालों का अनुमोदन करना। संयम की साधना के उपयोग में आने वाले मर्यादित वस्त्र-पात्र आदि पर भी मूर्च्छा-भाव न रखना।

पाँचों ही महाव्रतों में मन, वचन और शरीर—करना, कराना और अनुमोदन करना—सब मिलकर नव कोटि से क्रमशः हिंसा आदि का त्याग किया जाता है। महाव्रत का अर्थ है— महान् व्रत। महाव्रती साधु ही हो सकता है, गृहस्थ नहीं। गृहस्थ-धर्म में 'सर्व' के स्थान पर 'स्थूल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिसका अर्थ यह है कि गृहस्थ मर्यादित रूप से स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य आदि का त्याग करता है। अतः गृहस्थ के ये पाँच अणु-व्रत कहलाते हैं— अणु का अर्थ छोटा होता है।

पाँच आचार

*

(१) **ज्ञानाचार**—ज्ञानाभ्यास स्वयं करना और दूसरों को कराना, ज्ञान के साधन शास्त्र आदि स्वयं लिखना तथा ज्ञान-भंडारों की रक्षा करना

और ज्ञानाभ्यास करने वालों को यथायोग्य सहायता प्रदान करना—यह सब ज्ञानाचार है।

(२) **दर्शनाचार**—दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व है। अतः सम्यक्त्व का स्वयं पालन करना, दूसरों से पालन करवाना, तथा सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने वाले साधकों को हेतु एवं तर्क आदि से प्रेमपूर्वक समझा कर पुनः सम्यक्त्व में दृढ़ करना—यह सब दर्शनाचार है।

(३) **चारित्राचार**—अहिंसा आदि शुद्ध चारित्र का स्वयं पालन करना, दूसरों से पालन करवाना, तथा पालन करने वालों का अनुमोदन करना, पापाचार का परित्याग करके सदाचार पर आरूढ़ होने का नाम चारित्राचार है।

(४) **तप-आचार**—बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार का तप स्वयं करना, दूसरों से कराना, करने वालों का अनुमोदन करना। यह सब तपः साधना, तप आचार है। बाह्य तप अनशन—उपवास आदि हैं, और आभ्यन्तर तप स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि है।

(५) **वीर्याचार**—धर्मानुष्ठान में—प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय आदि में अपनी शक्ति का यथावसर उचित प्रयोग करना। कदापि आलस्य आदि के वश धर्माराधन में अन्तराय नहीं डालना। अपनी मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक शक्ति को दुराचरण से हटाकर सदाचरण में लगाना—वीर्याचार है।

पाँच समिति

*

समिति का शाब्दिक अर्थ होता है—सम्=सम रूप से+इति=जाना अर्थात् प्रवृत्ति करना। फलितार्थ यह है कि चलने में, बोलने में, अन्नपान आदि की गवेषणा में, किसी वस्तु को लेने या रखने में, मल-मूत्र आदि को परठने में, सम्यक् रूप से मर्यादा रखना अर्थात् गमनादि किसी भी क्रिया में विवेक-युक्त सीमित प्रवृत्ति करना, समिति है। समिति के पाँच भेद हैं—

(१) **ईर्या-समिति**—ईर्या का अर्थ गमन होता है; अतः किसी भी जीव को पीड़ा न पहुँचे—इस प्रकार सावधानता पूर्वक गमनागमनादि क्रिया करना, ईर्या समिति है।

(२) **भाषा-समिति**—भाषा का अर्थ बोलना है, अतः सत्य, हितकारी, परिमित तथा सन्देह रहित, मृदु वचन बोलना भाषा समिति है।

(३) **एषणा-समिति**—एषणा का अर्थ खोज करना होता है। अतः जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक आहारादि साधनों को जुटाने की सावधानता पूर्वक निरवद्य प्रवृत्ति करना, एषणा समिति है।

(४) **आदान-निक्षेप-समिति**—आदान का अर्थ ग्रहण करना और निक्षेप का अर्थ रखना होता है। अतः अपने पात्र पुस्तक आदि वस्तुओं को भली-भाँति देख-भाल कर, प्रमार्जन करके लेना अथवा रखना, आदान-निक्षेप-समिति है।

(५) **उत्सर्ग-समिति**—उत्सर्ग का अर्थ त्याग होता है। अतः वर्तमान में जीव-जन्तु न हों अथवा भविष्य में जीवों को पीड़ा पहुँचने की संभावना न हो, ऐसे एकान्त प्रदेश में अच्छी तरह देख कर तथा प्रमार्जनकर के ही अनुपयोगी वस्तुओं को डालना, उत्सर्ग समिति है। उक्त समिति को परिष्ठापनिका समिति भी कहते हैं। परिष्ठापन का अर्थ भी परठना, त्यागना ही है।

तीन गुप्ति

*

गुप्ति का अर्थ गुप्=रक्षा करना, रोकना है। अर्थात् सांसारिक वासनाओं से आत्मा की रक्षा करना, विवेकपूर्वक मन, वचन और शरीर-रूप योगत्रय की प्रवृत्तियों का अंशतः या सर्वतः निग्रह करना गुप्ति है।

(१) **मनोगुप्ति**—अकुशल यानी पाप-पूर्ण संकल्पों का निरोध करना। मन का गोपन करना, मन की चंचलता को रोकना, बुरे विचारों को मन में न आने देना।

(२) **वचन-गुप्ति**—वचन का निरोध करना, निरर्थक वार्तालाप न करना, मौन रहना। बोलने के प्रत्येक प्रसंग पर, वचन पर यथावश्यक नियन्त्रण रखना, वचन-गुप्ति है।

(३) **काय-गुप्ति**—बिना प्रयोजन शारीरिक क्रिया नहीं करना। किसी भी चीज के लेने, रखने, किंवा बैठने आदि क्रियाओं में संयम करना, स्थिरता का अभ्यास करना, काय-गुप्ति है।

समिति और गुप्ति, संयम जीवन के प्रधान तत्त्व हैं। अतएव जैन-सिद्धान्तों में इन को आठ प्रवचन माता कहा है। प्रवचन अर्थात् शास्त्र, उसकी माता। आठ प्रवचन माता का समावेश संवर-तत्त्व में होता है। कारण, इन से कर्मों का संवरण होता है, नये कर्मों के बन्धन का अभाव होता है।

समिति और गुप्ति का अन्तर

*

समिति और गुप्ति में क्या अन्तर है? उक्त-प्रश्न का समाधान यह है कि यथानिश्चित काल तक मन, वचन तथा शरीर इन तीनों योगों का निरोध करना गुप्ति है। और गुप्ति में बहुत काल तक-स्थिर रह सकने में असमर्थ साधक की कल्याण-रूप क्रियाओंमें प्रवृत्ति समिति है। भाव यह है कि गुप्ति में असत् क्रिया का निषेध मुख्य है, समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है।

* *

४ ‖ गुरुवन्दन-सूत्र

तिक्खुत्तो
आयाहिणं पयाहिणं करेमि,
वंदामि, नमंसामि,
सक्कारेमि, सम्माणेमि
कल्लाणं मंगलं,
देवयं चेइयं,
पज्जुवासामि
मत्थएण वंदामि ।

शब्दार्थ

तिक्खुत्तो=तीन बार
आयाहिणं=दाहिनी ओर से
पयाहिणं=प्रदक्षिणा
करेमि=करता हूँ
वंदामि=स्तुति करता हूँ
नमंसामि=नमस्कार करता हूँ
सक्कारेमि=सत्कार करता हूँ
सम्माणेमि=सम्मान करता हूँ
कल्लाणं=कल्याण-रूप को
मंगलं=मंगल-रूप को
देवयं=देवता-स्वरूप को
चेइयं=ज्ञान-स्वरूप को

पज्जुवासामि=उपासना करता हूँ वंदामि=वन्दना करता हूँ
मत्थएण=मस्तक से

भावार्थ

भगवन् ! दाहिनी ओर से प्रारंभ करके पुनः दाहिनी ओर तक आप की तीन वार प्रदक्षिणा करता हूँ।

वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ !
सत्कार करता हूँ, सम्मान करता हूँ।

आप कल्याण-रूप हैं, मंगल-रूप हैं।
आप देवता-स्वरूप हैं, चैत्य स्वरूप यानी ज्ञान स्वरूप हैं।

गुरुदेव ! आपकी—मन, वचन और शरीर से—पर्युपासना—सेवा-भक्ति करता हूँ।

विनय-पूर्वक मस्तक झुका-कर आपके चरण कमलों में वन्दना करता हूँ।

विवेचन

आध्यात्मिक-साधना के क्षेत्र में गुरु का पद बहुत ऊँचा है। कोई भी दूसरा पद इसकी समानता नहीं कर सकता। गुरुदेव हमारी जीवन-नौका के नाविक हैं। अतः वे संसार-समुद्र के काम, क्रोध, मोह आदि भयंकर आवर्तों में से हमें सकुशल पार पहुँचाते हैं।

आप जानते हैं—जब घर में अन्धकार होता है, तब क्या दशा होती है ? कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ? चोर और सेठ का, रस्सी और सर्प का विवेक नष्ट हो जाता है। अन्धकार के कारण इतना विपर्यास होता है कि कुछ पूछिए ही नहीं। सत्-असत् का कुछ भी विवेक नहीं रहता। ऐसी दशा में,दीपक का कितना महत्त्व है, यह सहज ही सभझ में आ सकता है। ज्यों ही घनान्धकार में दीपक जगमगाता है, चारों ओर शुभ्र प्रकाश फैल जाता है, तो कितना आनन्द होता है ? प्रत्येक वस्तु अपने रूप में ठीक-ठीक दिखाई देने लगती है। सर्प और रस्सी सेठ और चोर स्पष्टतया सामने झलक उठते हैं ! जीवन में प्रकाश की कितनी आवश्यकता है ?

अज्ञान का अंधकार

*

यह तो केवल स्थूल द्रव्य अन्धकार है। परन्तु, एक और अन्धकार है, जो इससे अनन्त गुण भयंकर है। यदि वह अन्धकार विद्यमान हो, तो उसे हजारों दीपक, हजारों सूर्य भी नष्ट नहीं कर सकते। वह अन्धकार हमारे अंतरंग का है। उसका नाम अज्ञान है। अज्ञान-अन्धकार के कारण ही आज संसार में भयंकर मारामारी होती है। प्रत्येक प्राणी वासना के जाल में फँसा हुआ तड़प रहा है। मुक्ति का मार्ग कहीं दृष्टि-गत ही नहीं होता। साधु को असाधु, असाधु को साधु, देव को कुदेव, कुदेव को देव; धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, आत्मा को जड़ और जड़ को आत्मा समझते हुए यह आत्मा अज्ञानता के कारण ठोकरों-पर-ठोकरें खाता हुआ अनादिकाल से भटक रहा है।

सद्गुरु का महत्व

*

सद्गुरु ही इस अज्ञान को दूर कर सकते हैं। हमारे आध्यात्मिक जीवन-मन्दिर के वे ही प्रकाशमान दीपक हैं। उनकी कृपा दृष्टि से ही हमें वह प्रकाश मिलता है, जिसको लेकर जीवन की विकट घाटियों को हम सानन्द पार सकते हैं। उक्त प्रकाश-कर्तृत्व गुण को लेकर ही वैयाकरणों ने गुरु शब्द की व्युत्पत्ति की है कि 'गु' शब्द अन्धकार का वाचक है औरा 'रु' शब्द विनाश का वाचक है। अत. गुरु वह, जो अन्धकार का नाश करता है।

आज के युग में गुरु बहुत सस्ते हो रहे हैं। जन-गणना के अनुसार आजकल अकेले भारत में ५६ लाख गुरुओं की फौज जनता के लिए अभिशाप बन रही है। अतएव जैन शास्त्रकार गुरु-पद का महत्व ऊँचा बताते हुए उसके कर्तव्य को भी ऊँचा बता रहे हैं। गुरु-पद के लिए न अकेला ज्ञान ही काफी है, और न अकेली क्रिया ही। ज्ञान और क्रिया का सुन्दर समन्वय ही गुरुत्व को सृष्टि कर सकता है। आज के गुरु लाखों की सम्पत्ति रखते हुए, भोग-विलास के मनमाने आनन्द उठाते हुए जनता को वेदान्त का उपदेश देते फिरते हैं. संसार के मिथ्या होने का ढ़िंढोरा पीटते फिरते हैं। भला, जो स्वयं अन्धा है, वह दूसरों को क्या मार्ग दिखलाएगा ? जो स्वयं पंगु है. वह

वह दूसरों को किस प्रकार लक्ष्य पर पहुँचाएगा ? जिसका जीवन ही शास्त्र हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया पर त्याग और वैराग्य की अमिट छाप हो, वही गुरु होने का अधिकारी है। मनुष्य का मस्तक बहुत बड़ी पवित्र चीज है। वह किसी योग्य महान् आत्मा के चरणों में ही झुकने के लिए है। अतः हर किसी ऐरे-गैरे के आगे मस्तक रगड़ना पाप है, धर्म नहीं ! अस्तु, गुरु बनाते समय विचार कीजिए, ज्ञान और क्रिया की ऊँचाई परखिए, त्याग और वैराग्य की ज्योति का प्रकाश देखिए। ऐसा गुरु ही संसार समुद्र से स्वयं तिरता है और दूसरों को तार सकता है। गुरु की महत्ता ऊँची जाति और कुल वर्ण से नहीं है, रूप और ऐश्वर्य से नहीं है, किसी विशेष सम्प्रदाय से भी नहीं है। उसकी महत्ता तो मात्र गुणों से है, रत्नत्रय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र से है। अतएव साम्प्रदायिक मोह को त्याग कर जहाँ कहीं गुणों के दर्शन हों, वहीं मस्तक झुका दीजिए ।

गुरुदेव की महिमा के सम्बन्ध में काफी वर्णन किया जा चुका है। अब जरा मूल-सूत्र के पाठों पर भी विचार कीजिए । गणधर देवों ने प्रस्तुत पाठ की रचना बड़े ही भाव-भरे शब्दों में की है। प्रत्येक शब्द प्रेम और श्रद्धा-भक्ति के गहरे रंग से रंगा हुआ है। उक्त पाठ के द्वारा शिष्य अपना अन्तर्हृदय स्पष्टतया खोल कर गुरुदेव के चरणों में समर्पण कर देता है।

शब्दों में भावों की गहराई

*

मूल-सूत्र में 'वंदामि' आदि चार पद एकार्थक जैसे मालूम होते हैं। अतः प्रश्न होता है कि यदि ये सब पद एकार्थक हैं, तो फिर व्यर्थ ही सब का उल्लेख क्यों किया गया है ? किसी एक पद से ही काम नहीं चल जाता ? सूत्र तो संक्षिप्त पद्धति के अनुगामी होते हैं। सूत्र का अर्थ ही है—'संक्षेप में सूचना मात्र देना।'

'सूचनात्सूत्रम्'—अभिधान चि० २।१५७

परन्तु, यहाँ तो एक ही अर्थ की सूचना के लिए इतने लम्बे-चौड़े शब्दों का उल्लेख किया है। क्या यह सूत्र की शैली है ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहना है कि 'वंदामि' आदि सब शब्दों का अलग-अलग

अर्थ है, एक नहीं। व्याकरण-शास्त्र की गंभीरता में उतरते ही इन शब्दों की महत्ता पूर्ण रूप से प्रकट हो जायगी।

'वंदामि' का अर्थ वन्दन करना है। वन्दन का अर्थ स्तुति है। मुख से गुण-गान करना, स्तुति है। सद्गुरु को केवल हाथ जोड़कर वन्दन कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। गुरुदेव के प्रति अपनी वाणी को अर्पण कीजिए, उनकी स्तुति के द्वारा वाणी के मल को भी धोकर साफ कीजिए। किसी श्रेष्ठ पुरुष को देखकर चुप रहना, उसकी स्तुति में कुछ भी न कहना, वाणी की चोरी है। जो साधक वाणी का इस प्रकार चोर होता है, जो गुणानुरागी नहीं होता है, जो प्रमोद-भावना का पुजारी नहीं होता है, वह आध्यात्मिक विभूति का किसी प्रकार भी अधिकारी नहीं हो सकता।

'नमंसामि' का अर्थ नमस्कार करना है। नमस्कार का अर्थ पूजा है, पूजा का अर्थ प्रतिष्ठा है, और प्रतिष्ठा का अर्थ है—उपास्य महापुरुष को सर्वश्रेष्ठ समझना, भगवत्स्वरूप समझना। जब तक साधक के हृदय में श्रद्धा की बलवती तरंग प्रवाहित न हो, सद्गुरू को सर्वश्रेष्ठ समझने का शुभ संकल्प जागृत न हो, तब तक शून्य हृदय से यदि मस्तक को झुका भी दिया, तो क्या लाभ ? वह नमस्कार निष्प्राण है, जीवन शून्य है। इस प्रकार के नमस्कार से अपने शरीर को केवल पीड़ा ही देना है और कुछ लाभ नहीं।

'सत्कार' का अर्थ मन से आदर करना है। मन में आदर का भाव हो, तभी उपासना का महत्त्व है, अन्यथा नहीं। गुरुदेव के चरणों में वन्दन करते समय मन को खाली न रखिए, उसे श्रद्धा एवं आदर के अमृत से भर कर गद्गद बनाइए।

'सम्मान' का अर्थ बहुमान देना है। जब भी कभी अवसर मिले गुरुदेव के दर्शन करना न भूलिए. गुरुदेव के आगमन को तुच्छ न समझिए, हजार काम छोड़ कर भी उनके चरणों में वन्दन करने के लिए पहुंचिये। सम्राट् भरत चक्रवर्ती ने जब सुना कि भगवान् ऋषभ देव अयोध्या नगरी के बाहर उद्यान में पधारे हैं, तो पुत्र-जन्म का महोत्सव छोड़ा, चक्र-रत्न पाने के कारण होने वाला अपना चक्रवर्ती पद-महोत्सव भी छोड़ा, और सब से पहले प्रभु के दर्शन को पहुँचा। इसे कहते हैं—बहुमान देना ! यदि गुरुदेव का आगमन सुनकर भी

मन में उत्साह जागृत न हो, संसारी कामों का मोह न छूटे, तो यह गुरुदेव का अपमान है। और, जहाँ इस प्रकार का अपमान होता है, वहाँ श्रद्धा कैसी और भक्ति कैसी ? आजकल के उन साधकों को इस शब्द पर विशेष लक्ष्य देना चाहिए, जो गुरुदेव के यह पूछने पर कि भाई, व्याख्यान आदि सुनने कैसे नहीं आए ? तब कहते हैं कि अजी, काम में लगा रहा, इसलिए नहीं आ सका। और कुछ तो यह भी कहते हैं, अजी, काम-वाम तो कुछ नहीं था, यों ही आलस्य में पड़े रह गए। यह अपमान नहीं तो क्या है ?

'कल्लाणं' का संस्कृत रूप कल्याण है। कल्याण का स्थूल अर्थ क्षेम, राजी-खुशी होता है। परन्तु हमें इसके लिए जरा गहराई में उतरना चाहिए।

अमर कोष के सुप्रसिद्ध टीकाकार एवं महावैयाकरण भट्टोजी दीक्षित के सुपुत्र श्री भानुजी दीक्षित कल्याण का अर्थ प्रातः-स्मरणीय करते हैं।

'कल्ये प्रातःकाले अण्यते, 'अण' शब्दे' (भ्वा-प-से-)

—अमर-कोष १/४/२५

उक्त संस्कृत व्युत्पत्ति का हिन्दी में यह अर्थ है—प्रातःकाल में जो पुकारा जाता है, वह प्रातःस्मरणीय है। कल्य+अण ये दो शब्द हैं। 'कल्य' का अर्थ प्रातःकाल है, और 'अण' का अर्थ कहना, बोलना है। यह अर्थ बहुत ही सुन्दर है। रात्रि के गहन अन्धकार का नाश होते ही ज्यों ही सुनहरा प्रभात होता है और मनुष्य निद्रा से जाग उठता है, तब वह पवित्र आत्माओं का शुभ नाम सर्वप्रथम स्मरण करता है। गुरुदेव का नाम इसके लिए पूर्णतया उचित है। अतः गुरुदेव सच्चे अर्थो में कल्याण रूप हैं।

कल्याण का एक और अर्थ आचार्य हेमचन्द्र करते हैं। उनका अर्थ भी सुन्दर है।

'कल्यं नीरुजत्वमणतीति'

—अभिधानचिन्तामणि १/८६

कल्य का अर्थ है—नीरोगता—स्वस्थता। जो मनुष्य को नीरोगता प्रदान करता है, वह कल्याण है। यह अर्थ आगम के टीकाकारों को भी अभीष्ट है—

कल्योऽत्यन्तनीरुक्तया मोक्षस्तमाणयति प्रापयतीतिकल्याणः मुक्तिहेतौ
—उत्तरा०, टीका, अ० ३

यहाँ कहा गया है कि कल्याण का अर्थ मोक्ष है; क्योंकि वही ऐसा पद है, जहाँ आत्मा पूर्णतया कर्म-रोग से मुक्त हो कर स्वस्थ होता है —आत्मस्वरूप में स्थित होता है। अस्तु, जो कल्य—मोक्ष प्राप्त भी कराए, वह कल्याण होता है। यह अर्थ गुरुदेव के महान् व्यक्तित्व के लिए सर्वथा अनुरूप है । गुरु ही हमें मोक्षप्राप्ति के साधनों के उपदेशक होने के कारण मोक्ष में पहुँचाने वाले हैं।

मंगल का अर्थ कल्याण के समान ही शुभ, क्षेम, प्रशस्त एवं शिव होता है। परन्तु, जब हम व्याकरण की गहराई में उतरते हैं, तो हमें मंगल शब्द की अनेक व्युत्पत्तियों के द्वारा एक-से-एक मनोहर एवं गंभीर भाव दृष्टि-गोचर होते हैं।

आवश्यक निर्युक्ति के आधार पर आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक-सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम गाथासूत्र की टीका में लिखते हैं—

'मंग्यते=अधिगम्यते हितमनेन इति मंगलम्'

—जिसके द्वारा साधक को हित की प्राप्ति हो वह मंगल है। अथवा—

'मां गालयति भवादिति मंगलम्, संसारादपनयति'

—जो मत्पदवाच्य आत्मा को संसार के बन्धन से अलग करता है, छुड़ाता है, वह मंगल है।

उक्त दोनों व्युत्पत्तियाँ गुरुदेव पर पूर्णतया ठीक उतरती हैं। गुरुदेव के द्वारा ही साधक को आत्म-हित की प्राप्ति होती है और सांसारिक काम, क्रोध आदि बन्धनों से छुटकारा मिलता है।

विशेषावश्यक भाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मल्लधारी हेमचन्द्र कहते हैं—

'मङ्ग्यते=अलंक्रियते आत्मा इति मंगलम्'
—विशेषा० गा० २३ शिष्यहितावृत्ति

—जिसके द्वारा आत्मा शोभायमान हो, वह मंगल है।

'मोदन्ते अनेन इति मंगलम्'

जिससे आनन्द तथा हर्ष प्राप्त हो वह मंगल है।

'मह्यन्ते=पूज्यन्ते अनेन इति मंगलम'

जिसके द्वारा साधक पूज्य—विश्ववन्द्य होते हैं, वह मंगल है।

सद्गुरु ही साधक को ज्ञानादि गुणों से अलंकृत करते हैं, निश्रेयस् का मार्ग बता कर आनन्दित करते हैं, अन्त में आध्यात्मिक साधना के उच्च शिखर पर चढ़ा कर त्रिभुवन-पूज्य बनाते हैं, अतः सच्चे मंगल वे ही हैं।

एक आचार्य मंगल शब्द की और ही व्युत्पत्ति करते हैं। वह भी बड़ी ही सरस एवं भावना-प्रधान है।

'मंगति=हितार्थं सर्पति इति मंगलम्'

—जो सब प्राणियों के हित के लिए प्रयत्नशील होता है, वह मंगल है।

'मंगति दूरं दुष्टमनेन अस्माद् वा इति मंगलम्'

जिसके द्वारा दुर्दैव, दुर्भाग्य आदि सब संकट दूर हो जाते हैं वह मंगल है।

उक्त व्युत्पत्तियों के द्वारा भी गुरुदेव ही सच्चे मंगल सिद्ध होते हैं। जिसके द्वारा हित और अभीष्ट की प्राप्ति हो, वही तो मंगल है। गुरुदेव से बढ़ कर हित तथा अभीष्ट की प्राप्ति का साधक दूसरा और कौन होगा ? द्रव्य मंगलों की प्रवंचना में न पड़कर गुरुदेव-रूप अध्यात्म-मंगल की उपासना करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। अभ्युदय एवं निश्रेयस् के द्वार गुरुदेव ही तो खोल सकते हैं।

'देवयं' का संस्कृत रूप दैवत होता है। दैवत का अर्थ देवता है। मानव, देवताओं का आदिकाल से ही पुजारी रहा है। वैदिक-साहित्य तो देवताओं की पूजा से ही भरा पड़ा है। परन्तु यहाँ उन देवताओं से मतलब नहीं है। साधारण भोग-विलासी देवताओं के चरणों में मस्तक झुकाने के लिए जैन-धर्म नहीं कहता। यहाँ तो उत्कृष्ट मानव में ही देवत्व की उपासना की जाती है। आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण की टीका में श्री जिनेश्वर सूरि कहते हैं—

'दीव्यन्ति स्वरूपे इति देवाः।'

—अष्टक-प्रकरण टीका २९ अष्टक

अर्थात् जो अपने आत्म-स्वरूप में चमकते हैं, वे देव हैं। गुरुदेव

पर यह व्युत्पत्ति ठीक उतरती है। गुरुदेव अपना अलौकिक चमत्कार शुद्ध आत्म-तत्त्व में ही दिखाते हैं।

भगवान् महावीर भी सदाचार के ज्वलंत सूर्य-रूप अपने साधु-अनगारों को देव कहते हैं। भगवती-सूत्र में पाँच प्रकार के देवों का वर्णन है। उनमें चतुर्थ श्रेणी के देव, धर्मदेव बतलाए हैं, जो कि मुनि हैं—

"गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया० जाव गुत्तबंभयारी, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ धम्मदेवा"

—भगवती-सूत्र, श० १२, उद्दे० ९

गुरु का गौरव

*

अहिंसा और सत्य आदि के महान् साधकों को जैन-धर्म में ही नहीं, वैदिक-धर्म में भी देव कहा है। कर्मयोगी श्री कृष्ण दैवी सम्पदा का कितना सुन्दर वर्णन करते हैं—

अभयं सत्त्व-संशुद्धिर्ज्ञान-योग-व्यवस्थिति. ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

—गीता १६ । १ ।

स्वाभाव से ही निर्भय रहना, सन्मार्ग में किसी से भी न डरना, सब को मन, वाणी और कर्म से अभयदान देना— अभय है। झूठ, कपट, दंभ आदि के मल से अन्तःकरण को शुद्ध रखना, सत्व संशुद्धि है। ज्ञान् योग की साधना में दृढ़ रहना—ज्ञानयोग-व्यवस्थिति है। दान—किसी अतिथि को कुछ देना। दम—इन्द्रियों का निग्रह। यज्ञ—जन सेवा के लिए उचित प्रवृत्ति करना। स्वाध्याय, तप और सरलता।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध-क्रोध न करना, विषय-वासनाओं का त्याग, शान्ति—चित्त की अनुद्विग्नता, अपैशुन-चुगली न करना, दया—सब जीवों को अपने समान समझ कर उन्हें कष्टों से छुड़ाने का भरसक प्रयत्न करना, अलोलुपता—अनासक्ति, मार्दव—कोमलता, लज्जा—अयोग्य कार्य करते हुए लजाना, अचपलता—बिना प्रयोजन यों ही व्यर्थ चेष्टा न करना।

तेज क्षमा: धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज—अहिंसा आदि गुण-गौरव के लिए निर्भय भाव से प्रभावशाली रहना, क्षमा, धैर्य, शौच—मन, वाणी शरीर की आचरण-मूलक पवित्रता, अद्रोह—किसी भी प्राणी से घृणा और वैर न रखना, अपने-आपको दूसरों से बड़ा मानने का अहंकार न करना और नम्र रहना—ये सब दैवी सम्पत्ति के लक्षण हैं ।

उक्त गुणों का धारक मानव, साधारण मानव नहीं, देव है—परम देव परमात्मा के पद का आराधक है । आसुरी भावना से निकल कर जब मनुष्य दैवी भावना में आता है, तब वह जीवन की अमर पवित्रता प्राप्त करता है, माया के वन्धन से छूटता है, विश्व का गुरु वनता है, और बिना किसी भेदभाव के सबको अजर, अमर सत्य का ज्ञान-दान देकर मुमुक्षु जनता का उद्धार करता है ।

वस्तुतः विचार किया जाए, तो गुरुदेव का पद, देवता तो क्या, साक्षात् परमेश्वर के समान है । परमात्मा का अर्थ है—परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा । गुरुदेव की आत्मा साधारण आत्मा नहीं, उत्कृष्ट आत्मा ही है । मानव-जीवन में काम, क्रोध, मद, लोभ वासना आदि पर विजय प्राप्त करना आसान काम नहीं है । वड़े-बड़े वीर, धीर, शूर भी इन विकारों के आवेग के समय हतप्रभ हो जाते हैं । भयंकर गजराज को वश में करना, काल-मूर्ति सिंह की पीठ पर सवार होना, संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक विजय प्राप्त कर लेना वहुत ही आसान है; परन्तु अपने अन्दर में ही रहे हुए विकार-रूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना, किसी विरले ही आत्म-साधक का काम है । कोई महान् प्रतापी एवं तेजस्वी आत्मा ही अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट कर सकता है । अतएव एक आचार्य ने ठीक ही कहा है कि स्त्री और धन-इन दो पाशों में सारा संसार जकड़ा हुआ है । अत: जिसने इन दोनों पर विजय प्राप्त करली है, वीतरागता धारण करली है, वह दो हाथों वाला साक्षात् परमेश्वर है—

कान्ता कनक—सूत्रेण, वेष्टितं सकलं जगत्,
तासु तेषु विरक्तो यो, द्विभुजः परमेश्वरः ।

जैन-साहित्य में भी इसी भावना को लक्ष्य में रखकर गुरु देव को

'भन्ते' शब्द से सम्बोधित किया गया है ! भन्ते का अर्थ भगवान् है। देखिए, 'करेमि भन्ते' आदि सूत्र।

'चैत्य' शब्द की अनेकार्थकता

*

'चेइयं'—प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप चैत्य है। इसके सम्बन्ध में कुछ साम्प्रदायिक विवाद है। कुछ विद्वान् चैत्य का अर्थ ज्ञान करते हैं। इस परम्परा के अनुयायी स्थानकवासी हैं। दूसरे विद्वान् चैत्य का अर्थ प्रतिमा करते हैं। इस परम्परा के अनुयायी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक हैं। चैत्य शब्द अनेकार्थक है, अतः प्रसंगानुसार ही इसका अर्थ ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में कौनसा अर्थ अभिप्रेत है, इस पर थोड़ा विचार करना अत्यावश्यक है।

चैत्य का ज्ञान अर्थ करने में तो कोई विवाद ही नहीं है। ज्ञान, प्रकाश का वाचक है। अतः गुरुदेव को 'ज्ञान' कहना, प्रकाश शब्द से सम्बोधित करना, सर्वथा औचित्यपूर्ण है। 'चिती संज्ञाने' धातु से चैत्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ ज्ञान है।

चैत्य का दूसरा अर्थ प्रतिमा भी यहाँ घटित ही है, अघटित नहीं। मूर्ति-पूजक विद्वान् भी यहाँ चैत्य का अभिधेय अर्थ मूर्ति न करके, लक्षणा द्वारा मूर्ति-सदृश पूजनीय अर्थ करते हैं। जिस प्रकार किसी मूर्ति-पूजक पन्थ के अनुयायी को अपने इष्ट देव की प्रतिमा आदरणीय एवं सत्करणीय होती है, उसी प्रकार गुरुदेव भी सत्करणीय हैं। यह उपमा है। उपमा लौकिक पदार्थों की भी दी जा सकती है, इसमें किसी सम्प्रदायविशेष का अभिमत मान्य एवं अमान्य नहीं हो जाता। स्थानकवासी यदि यह अर्थ स्वीकार करें, तो कोई आपत्ति नहीं है। क्या हम संसार में लोगों को अपने-अपने इष्टदेव की प्रतिमाओं का आदर-सत्कार करते नहीं देखते हैं? क्या उपमा देने में भी कुछ दोष है? यहाँ तीर्थंकर की प्रतिमा के सदृश तो नहीं कहा है और न श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आचार्यों ने ही यह माना है। देखिए अभयदेव सूरि क्या लिखते हैं?—

'चैत्यमिष्टदेवप्रतिमा, चैत्यमिव चैत्यं पर्युपासयामः'

—भग० २ श०, १ उ०

यह भगवती का स्थल भगवान् महावीर से सम्बन्ध रखता है।

अतः साक्षात् भगवान् को वन्दना करते समय उनको उनकी ही मूर्ति के सदृश बताना, कैसे उचित हो सकता है ? अस्तु, लोक-प्रचलित उपमा देना ही यहाँ अभीष्ट है।

उक्त दो अर्थों के अतिरिक्त, 'चैत्य' शब्द के कुछ और भी अर्थ किए जाते हैं। आचार्य अभयदेव स्थानांग सूत्र की टीका में लिखते हैं कि 'जिनके देखने से चित्त में आह्लाद उत्पन्न हो, वे चैत्य होते हैं—

'चित्ताह्लादकत्वाद्वा चैत्याः'

—स्थानांगटीका ४/२

यह अर्थ भी यहाँ प्रसंगानुकूल है। गुरुदेव के दर्शन से किस भक्त के हृदय में आह्लाद उत्पन्न नहीं होता ?

राजप्रश्नीयसूत्र में उक्त पाठ पर टीका करते हुए सुप्रसिद्ध आगमिक विद्वान् आचार्य मलयगिरि ने एक और ही विलक्षण एवं भावपूर्ण अर्थ किया है। उनका कहना है कि चैत्य वह है—जो मन को सुप्रशस्त, सुन्दर, शान्त एवं पवित्र बनाए—

चैत्यं सुप्रशस्तमनोहेतुत्वाद् ।'

—राज० १८ कण्डिका, सूर्याभदेवताधिकार

यह अर्थ भी यहाँ पूर्णतया संगत है। हमारे वासना-कलुषित अप्रशस्त मन को प्रशस्त बनाने वाले शुद्ध चैत्य गुरुदेव ही तो हैं। उनके अतिरिक्त और कौन है, जो हमारे मन को प्रशस्त कर सके ?

वंदना का महान् फल

*

अन्त में, पुनः 'वंदामि' शब्द पर कहना है कि अपने महोपकारी गुरुदेव के प्रति वन्दना-क्रिया साधक जीवन की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण क्रिया है। अपने अभिमान को त्याग कर गद्‌गद् हृदय से साधक गुरु के चरणों में स्वयं को विनय-पूर्वक अर्पण करता है, तो आत्मा में वह अलौकिक ज्ञान-प्रभा विकसित होती है, जो साधक को अध्यात्म पद के ऊँचे शिखर पर पहुँचा देती है। भगवान् महावीर ने कहा है—

"वंदणएणं जीवे नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिणभावं च जणयइ।"

—उत्तरा०, २९/१०

—वन्दन करने से नीचगोत्र कर्म का क्षय होता है, उच्च गोत्र का अभ्युदय होता है, सौभाग्य लक्ष्मी का उपार्जन किया जाता है, प्रत्येक मनुष्य सहर्ष—बिना आनाकानी के आज्ञा स्वीकार करने लगता है, और वह दाक्षिण्यभाव—श्रेष्ठ सभ्यता को प्राप्त होता है !

भगवान् महावीर का उपर्युक्त कथन पूर्णतया सत्य है। राजा श्रेणिक ने भक्तिभाव-पूर्वक मुनियों को वन्दन करने के कारण छह नरक के संचित पाप नष्ट कर डाले थे, यह ऐतिहासिक घटना जैन-इतिहास में सुप्रसिद्ध है। आजकल के भक्तिभावना-शून्य मनुष्य वन्दन का क्या महत्त्व समझ सकते हैं ? अब तो उष्ट्र वन्दनाएँ होती हैं। क्या मजाल जरा भी सिर झुक जाए ! बहुत से सज्जन एक इंच भी शरीर को नहीं नमायेंगे; केवल मुख से 'दंडवत्' या 'पाँव लगों' कह देंगे, और समझ लेंगे कि बस वन्दना का बेड़ा पार कर दिया।

वंदन : द्रव्य और भाव

*

आगम-साहित्य में वन्दना के दो प्रकार बताए हैं—द्रव्य और भाव। दो हाथ, दो पैर और एक मस्तक, शरीर के इन पाँच अंगों से उपयोग शून्य वन्दन करना द्रव्यवन्दन है। और, इन्हीं पाँच अंगों से भाव-सहित विशुद्ध एवं निर्मल मन के द्वारा उपयोग सहित वन्दन करना भाव-वन्दन है। भाव के बिना द्रव्य व्यर्थ है, उसका आध्यात्मिक जीवन में कोई अर्थ नहीं।

वन्दन-विधि

*

मूल-पाठ में जो प्रदक्षिणा शब्द आया है, उसका क्या भाव है ? उत्तर में कहना है कि प्राचीनकाल में तीर्थङ्कर या गुरुदेव समवसरण अर्थात् सभा के ठीक बीच में बैठते थे। अतः आगन्तुक भगवान् के या गुरु के चारों ओर घूम कर, फिर सामने आकर; पंचांग नमाकर वन्दन करता था। गुरुदेव के दाहिने हाथ से घूमना शुरू किया जाता था। अतः आदक्षिण प्रदक्षिणा होती थी। प्रदक्षिणा का यह क्रम तीन बार चलता था। और प्रत्येक प्रदक्षिणा की समाप्ति पर वन्दन होता था। दुर्भाग्य से, वह परम्परा आज विच्छिन्न हो गयी है। अतः अब तो गुरुदेव के दाहिनी ओर से बाईं ओर तीन बार अंजलि-

बद्ध हाथ घुमा कर आवर्तन करने का नाम ही प्रदक्षिणा है। आज-कल की उक्त प्रदक्षिणा क्रिया का स्पष्ट रूप आरती उतारने की प्रचलित पद्धति से अच्छी तरह मिलता है। कुछ सज्जन भ्रान्ति-वश अपने हाथों से अपने ही दक्षिण और वाम हस्त समझ बैठते हैं। फलतः अपने मुख का ही आवर्तन करने लग जाते हैं। प्रदक्षिणा-क्रिया का वह प्राचीन रूप नहीं रहा, तो कम-से-कम प्रचलित रूप को तो सुरक्षित रखना चाहिए। इसे भी क्यों नष्ट-भ्रष्ट किया जाए।

जहाँ तक बौद्धिक चिन्तन का सम्बन्ध है, 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि' तक का पाठ मुख से बोलने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसका सम्बन्ध तो करने से है, बोलने से नहीं। यह विधि-अंश का पाठ है। असली पाठ 'वन्दामि' से शुरू होता है।

* *

८ आलोचना-सूत्र

इच्छाकारेण संदिसह भगवं !
इरियावहियं पडिक्कमामि ?
इच्छं, इच्छामि पडिक्कमिउं ।१।
इरियावहियाए, विराहणाए ।२।
गमणागमणे ।३।
पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे,
ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे ।४।
जे मे जीवा विराहिया ।५।
एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया ।६।
अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया,
संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया,
ठाणाओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।७।

शब्दार्थ

भगवं=हे भगवन् !
इच्छाकारेण=इच्छापूर्वक
संदिसह=आज्ञा दीजिए
[ताकि]
इरियावहियं=ऐर्यापथिकी क्रिया का
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करूँ

[गुरुदेव के आज्ञा देने पर]
इच्छं=आज्ञा प्रमाण है
इच्छामि=चाहता हूँ
पडिक्कमिउं=निवृत्त होने को
[किस से ?]
इरियावहियाए=ईर्यापथ-सम्बन्धिनी
विराहणाए=विराधना से
[विराधना किन जीवों की, और किस तरह ?]
गमणागमणे=जाने-आने में
पाणक्कमणे=किसी प्राणी को दबाने से
बीयक्कमणे=बीज को दबाने से
हरियक्कमणे=वनस्पति को दबाने से
ओसा=ओस को
उत्तिंग=कीड़ी आदि के बिल को
पणग=पाँच वर्ण की काई को
दग=जल को
मट्टी=मिट्टी को
मक्कडा-संताणा=मकड़ी के जालों को
संकमणे=कुचलने से, मसलने से
[उपसंहार]
मे=मैंने
जे=जो
जीवा=जीव
विराहिया=पीड़ित किए हों
[कौन से जीव ?]
एगिंदिया=एक इंद्रिय वाले
बेइंदिया=दो इन्द्रिय वाले
तेइंदिया=तीन इंद्रिय वाले
चउरिंदिया=चार इन्द्रिय वाले
पंचिंदिया=पाँच इन्द्रिय वाले
[किस तरह पीड़ित किए हों ?]
अभिहया=सामने से आते रोके हों
वत्तिया=धूल आदि से ढंके हों
लेसिया=परस्पर मसले हों
संघाइया=इकट्ठे किए हों
संघट्टिया=छुए हों
परियाविया=परितापना दी हो
किलामिया=थकाये हों
उद्दविया=हैरान किए हों
ठाणाओ=एक स्थान से
ठाणं=दूसरे स्थान पर
संकामिया=रक्खे हों
जीवियाओ=जीवन से
ववरोविया=रहित किए हों
तस्स=उसका
दुक्कडं=दुष्कृत-पाप
मि=मेरे लिए
मिच्छा=निष्फल हो

भावार्थ

भगवन् ! इच्छा के अनुसार आज्ञा दीजिए कि मैं ऐर्यापथिकी—गमन मार्ग में अथवा स्वीकृत धर्माचरण में होने वाली पाप-क्रिया का प्रतिक्रमण करूँ ?

[गुरुदेव की ओर से आज्ञा मिल जाने पर कहना चाहिए कि] भगवन्, आज्ञा प्रमाण है।

मार्ग में चलते-फिरते जो विराधना—किसी जीव को पीड़ा हुई हो, तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

गमनागमन में किसी प्राणी को दबाकर, संचित्त बीज एवं वनस्पति को कुचलकर, आकाश से गिरने वाली ओस, चींटी के बिल, पाँचों रंग की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ी के जालों को मसलकर, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी जीव की विराधना-हिंसा की हो, सामने आते हुओं को रोका हो, धूल आदि से ढ़का हो, जमीन पर या आपस में रगड़ा हो, एकत्रित करके ऊपर-नीचे ढेर किया हो, असावधानी से क्लेश-जनक रीति से छुआ हो, परितापना दी हो, श्रांत किया हो—थकाया हो, त्रस्त—हैरान किया हो, एक जगह से दूसरी जगह बदला हो, अधिक क्या—जीवन से ही रहित किया हो, तो मेरा वह सब पाप हार्दिक पश्चाताप के द्वारा मिथ्या हो—निष्फल हो।

विवेचन

विवेक बनाम यतना

*

जैन-धर्म में विवेक का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक क्रिया के पीछे विवेक का रखना, यतना का विचार करना; श्रावक एवं साधु दोनों साधकों के लिए अतीव आवश्यक है। इधर-उधर कहीं भी आना-जाना हो, उठना-बैठना हो, बोलना हो, लेना-देना हो, कुछ भी काम करना हो, सर्वत्र और सर्वदा विवेक को हृदय से न जाने दीजिए। जो भी काम करना हो, अच्छी तरह सोच-विचार कर, देख-भाल कर यतना के साथ कीजिए, आपको पाप नहीं लगेगा। पाप का मूल-प्रमाद है, अविवेक है। जरा भी प्रमाद हुआ कि पाप की कालिमा हृदय पर दाग लगा देगी। भगवान् महावीर कठोर निवृत्ति-धर्म के पक्षपाती हैं। परन्तु, उनकी निवृत्ति का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सब ओर से निष्क्रिय होकर बैठ जाए; किसी भी काम का न रहे, जीवन को सर्वथा शून्य ही बना ले। उनकी निवृत्ति जीवन को निष्क्रिय न बना कर, दुष्क्रिय से शुभ-क्रिय बनाती है। विवेक के प्रकाश में जीवन-पथ पर अग्रसर होने को कहती है। यही कारण है कि शास्त्रों में साधक को सर्वथा यतमान रहने का आदेश दिया गया है। कहा गया है कि यतना-पूर्वक चलने-फिरने, खड़े होने, बैठने, सोने, बोलने-चालने, खाने-पीने आदि से पाप-कर्म

का वन्ध नहीं होता, क्योंकि पाप-कर्म के बन्धन का मूल अयतना है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव-कम्मं न बंधई॥

—दश० ४/८

प्रस्तुतसूत्र हृदय की कोमलता का ज्वलन्त उदाहरण है। विवेक और यतना के संकल्पों का जीता-जागता चित्र है। आवश्यक प्रवृत्ति के लिए कहीं इधर-उधर आना-जाना हुआ हो, और यतना का ध्यान रखते हुए भी, यदि कहीं अनवधानता-वश किसी जीव को पीड़ा पहुँची हो, तो उसके लिए उक्त पाठ में पश्चात्ताप किया गया है। साधारण मनुष्य आखिर भूल का पुतला है। सावधानी रखते हुए भी कभी-कभी भूल कर बैठता है, लक्ष्य-च्युत हो जाता है। भूल होना कोई असाधारण घातक चीज नहीं है; परन्तु उन भूलों के प्रति उपेक्षित रहना, उन्हें स्वीकार ही न करना, किसी प्रकार का मन में पश्चात्ताप ही न लाना, भयंकर चीज है। जैन-धर्म का साधक जरा-जरा-सी भूलों के लिए पश्चात्ताप करता है और हृदय की जागरूकता को कभी भी सुप्त नहीं होने देता। वही साधक अध्यात्म-क्षेत्र में प्रगति कर सकता है, जो ज्ञात या अज्ञात किसी भी रूप से होने वाले पाप कार्यों के प्रति हृदय से विरक्ति व्यक्त करता है, उचित प्रायश्चित्त लेकर आत्मविशुद्धि का विकास करता है, और भविष्य के लिए विशेष सावधान रहने का प्रयत्न करता है।

हृदय-विशुद्धि

*

प्रस्तुत पाठ के द्वारा उपर्युक्त आलोचना की पद्धति से, पश्चात्ताप की विधि से, आत्म-निरीक्षण की शैली से, आत्म—विशुद्धि का मार्ग बताया गया है। जिस प्रकार वस्त्र में लगा हुआ मैल खार और साबुन से साफ किया जाता है, वस्त्र को अपनी स्वाभाविक शुद्ध दशा में लाकर स्वच्छ-श्वेत बना लिया जाता है, उसी प्रकार गमनागमनादि क्रियाएँ करते समय अशुभयोग, मन की चंचलता तथा अविवेक आदि के कारण अपने विशुद्ध संयम-धर्म में किसी भी तरह का कुछ भी पाप मल लगा हो, तो वह सब पाप प्रस्तुत-पाठ के चिन्तन द्वारा साफ किया जाता है। अर्थात् आलोचना के द्वारा अपने संयम धर्म को पुनः स्वच्छ शुद्ध बनाया जाता है।

प्रत्येक कार्य के लिए क्षेत्र-विशुद्धि का होना अतीव आवश्यक है। साधारण किसान भी बीज बोने से पहले अपने खेत के झाड़-झंखाड़ों को काट-छाँट कर साफ करता है, भूमि को जोत कर उसे कोमल बनाता है, ऊँची-नीची जगह को समतल करता है, तभी धान्य के रूप में बीज बोने का सुन्दर फल प्राप्त करता है; अन्यथा नहीं। ऊसर भूमि में यों ही फेंक दिया जाने वाला बीज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, पनप नहीं पाता। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सामायिक आदि प्रत्येक पवित्र क्रिया करने से पहले, धर्म-साधना का बीजारोपण करने से पहले, अपनी हृदय-भूमि को विशुद्ध और कोमल बनाना चाहिए। पाप-मल से दूषित हृदय में सामायिक की, अर्थात् समभाव की पवित्र सुवास कभी नहीं फैल सकती। पाप-मूर्च्छित हृदय, सामायिक के द्वारा सहसा तरोताजगी नहीं पा सकता। इसीलिए, जैन-धर्म में पद-पद पर हृदय शुद्धि का विधान किया है। और, यह हृदय-शुद्धि आलोचना के द्वारा ही होती है। प्रस्तुत आलोचना-सूत्र का यही महत्त्व है—यह पाठकों के ध्यान में रहना चाहिए।

गमनागमन आदि प्रवृत्तियों में किस प्रकार, किन-किन जीवों को पीड़ा पहुँच जाती है? इसका कितनी सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है। सूत्रकार की दृष्टि कितनी अधिक पैनी है। देखिए, वह किस प्रकार जरा-जरा-सी भूलों को पकड़ रही है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी सूक्ष्म और स्थूल जीवों के प्रति क्षमा-याचना करने का, और हृदय को पश्चात्ताप द्वारा विमल बनाने का बड़ा ही प्रभावपूर्ण विधान है यह !

मानसिक—कोमलता

*

आप कहेंगे कि यह भी क्या पाठ है? कीड़े, मकोड़े तथा वनस्पति और बीज तक की सूक्ष्म हिंसा का उल्लेख कुछ औचित्य-पूर्ण नहीं जँचता? यह भी भला हिंसा है?

मैं कहूँगा, जरा हृदय को कोमल बना कर उन पामर जीवों की ओर नजर डालिए। आपको पता लगेगा कि उनको भी जीवन की उतनी ही अपेक्षा है, जितनी आपको। जब तक हृदय में उपेक्षा है, कठोरता है, तब तक उनके जीवन का मूल्य आपकी आँखों में नहीं चढ़ सकता; वैसे ही, जैसे कि नर-भक्षी सिंह की आँखों में आपके जीवन का मूल्य! परन्तु, जो भावुक-हृदय हैं, दयालु हैं, उनको दूसरे

की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पीड़ा का भी उसी प्रकार दुःख अनुभूत होता है, जैसे कि प्रत्येक प्राणी को अपनी पीड़ा का ! कहते हैं कि रामकृष्ण परमहंस इतने दयालु थे कि लोगों को हरी घास पर टहलते देखकर भी उनका हृदय वेदना से व्याकुल हो उठता था ! किसी स्थावर प्राणी को पीड़ा देना भी उनको सह्य नहीं होता था ! जीवन, आखिर जीवन ही है, वह छोटा क्या और बड़ा क्या ?

अहिंसा का सूक्ष्म रूप

*

हिंसा का अर्थ केवल किसी को जीवन से रहित कर देना ही नहीं है। हिंसा का दायरा बहुत विस्तृत है। किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक तथा कायिक पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इसके लिए आप जरा 'अभिहया, वत्तिया' आदि सूत्रगत शब्दों पर नजर डालिए। अहिंसा के सम्बन्ध में इतना सूक्ष्म विश्लेषण आपको और कहीं मिलना कठिन होगा। किसी जीव को एक जगह से दूसरी जगह रखना और बदलना भी हिंसा है। किसी भी जीव की स्वतन्त्रता में किसी भी तरह का अन्तर डालना 'हिंसा' है।

परन्तु एक बात ध्यान में रहे। यहाँ जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर रखने का निषेध किया है, वह दुर्भावना से उठाने का निषेध है। किन्तु, दया की दृष्टि से किसी पीड़ित एवं दुःखित जीव को यदि धूप से छाया में अथवा छाया से धूप में ले जाना हो, किंवा सुरक्षित स्थान में पहुँचाना हो, तो वह हिंसा नहीं, प्रत्युत अहिंसा एवं दया ही होती है।

प्रस्तुत सूत्र में 'लेसिया' और 'संघट्टिया' पाठ आता है। 'लेसिया' का अर्थ सब जीवों को भूमि पर मसलना और संघट्टिया का अर्थ जीवों को स्पर्श करना है। इस पर प्रश्न होता है कि जब रजोहरण से चींटी आदि छोटे जीवों को पूँजते है, तब क्या वे भूमि पर घसीटे नहीं जाते और स्पर्श नहीं किए जाते ? रजोहरण के इतने बड़े भार को वे सूक्ष्म-काय जीव विचारे किस प्रकार सहन कर सकते हैं ? क्या यह हिंसा नहीं है ? उत्तर में कहना है कि हिंसा अवश्य होती है। परन्तु, यह हिंसा, बड़ी हिंसा की निवृत्ति के लिए आवश्यक है। अपने मार्ग से जाते हुए चींटी आदि जीवों को व्यर्थ ही पूंजना, रोकना, स्पर्श करना

जैन-धर्म में निषिद्ध है। परन्तु यदि कहीं आवश्यक कार्य से जाना हो, और वहाँ बीच में जीव हों, उनको और किसी तरह बचाना अशक्य हो, तब उनकी प्राण-रक्षा के लिए, बड़ी हिंसा से बचने के लिए पूंजने के रूप में थोड़ा-सा कष्ट पहुचाना पड़ता है। और, यह कष्ट या हिंसा, हिंसा नहीं, एक प्रकार से अहिंसा ही है। दया की भावना से की जाने वाली सूक्ष्म हिंसा की प्रवृत्ति भी निर्जरा का कारण है। क्योंकि, हमारा विचार दया का है, हिंसा का नहीं। अतएव शास्त्रकारों ने प्रमार्जन-क्रिया में संवर और निर्जरा का उल्लेख किया है; जब कि प्रमार्जन में सूक्ष्म हिंसा अवश्य होती है। अतः आप देख सकते हैं कि हिंसा होते हुए भी निर्जरा हुई या नहीं ?

हिंसा ही सब पापों का मूल

*

आलोचना के रूप में श्रेष्ठ धर्माचरण की शुद्धि के लिए केवल हिंसा की ही आलोचना का उल्लेख क्यों किया गया है ? समग्र पाठ में केवल हिंसा की ही आलोचना है, असत्य आदि दोपों की क्यों नहीं ? हृदय-शुद्धि के लिए तो सभी पापों की आलोचना आवश्यक है न ? उक्त प्रश्नों का समाधान यह है कि संसार में जितने भी पाप हैं, उन सब में हिंसा ही मुख्य है। अतः 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः'—इस न्याय के अनुसार असत्य आदि सब दोष हिंसा में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। अर्थात् हिंसा के पाप में शेष सभी असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, क्लेश आदि पापों का समावेश हो जाता है।

अन्य सब पापों का हिंसा में किस प्रकार समावेश होता है, इसके लिए जरा विचार-क्षेत्र में उतरिए। हिंसा के दो भेद हैं—स्व-हिंसा और पर-हिंसा। स्व-हिंसा यानी अपनी, अपने आत्म-गुणों की हिंसा। और पर-हिंसा यानी दूसरे की, दूसरे के गुणों की हिंसा। किसी जीव को पीड़ा पहुँचाने से प्रत्यक्ष में उस जीव की हिंसा होती है। और पीड़ा पाते समय उस जीव को राग, द्वेष आदि की परिणति होने से उसके आत्म-गुणों की भी हिंसा होती है। और, इधर हिंसा करने वाला क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप आदि किसी न किसी प्रमाद के वशवर्ती होकर ही हिंसा करता है। अतः वह आध्यात्मिक दृष्टि से नैतिक पतन के रूप में अपनी भी हिंसा करता है। और अपने

सत्य, शील, नम्रता आदि आत्म-गुणों की भी हिंसा करता है। अतः स्पष्ट है कि स्व-हिंसा के क्षेत्र में सभी पापों का समावेश हो जाता है।

प्रस्तुत पाठ का नाम ऐर्यापथिकी-सूत्र है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसका अर्थ किया है—

'ईरण'—ईर्या—गमनमित्यर्थः, तत्प्रधानः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी'—

—योगशास्त्र (३/१२४) स्वोपज्ञवृत्ति

ईर्या का अर्थ गमन है, गमन-युक्त जो पथ—मार्ग वह ईर्या—पथ कहलाता है। ईर्या पथ में होने वाली क्रिया—विराधना ऐर्यापथिकी है। मार्ग में इधर उधर जाते-आते जो हिंसा, असत्य आदि क्रियाएँ हो जाती हैं, उन्हें ऐर्यापथिकी कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र एक और भी अर्थ करते हैं—

'ईर्यापथः साध्वाचारः

—योगशास्त्र, (३/१२४) स्वोपज्ञ-वृत्ति

आचार्य श्री का अभिप्राय है कि ईर्यापथ साधुआचार—श्रेष्ठ आचार को कहते हैं और उसमें जो पाप—कालिमा लगी हों, उसको ऐर्यापथिकी कहा जाता है। उक्त कालिमा की शुद्धि के लिए ही प्रस्तुत पाठ है।

'मिच्छामि दुक्कडं' का हार्द

*

प्रश्न है, केवल **'मिच्छा मि दुक्कडं'** कहने से पापों की शुद्धि किस प्रकार हो जाती है? क्या यह जैनों की तोबा है, जो बोलते ही गुनाह माफ हो जाते हैं? बात, जरा विचारने की है। केवल 'मिच्छा मि दुक्कडं' का शब्द पाप दूर नहीं करता। पाप दूर करता है—'मिच्छा मि दुक्कडं' शब्दों से व्यक्त होने वाला साधक के हृदय में रहा हुआ पश्चात्ताप! पश्चात्ताप की शक्ति बहुत बड़ी है! यदि निष्प्राण रूढ़ि के फेर में न पड़कर, शुद्ध हृदय के द्वारा अन्दर की गहरी लगन से पापों के प्रति विरक्ति प्रकट की जाए, पश्चात्ताप किया जाए, तो अवश्य ही पापकालिमा धुल जाती है। पश्चात्ताप का विमल वेगशाली झरना, अन्तरात्मा पर जमे हुए दोष-रूप कूड़े-करकट को बहा करदूर फेंक देता है, आत्मा को शुद्ध-पवित्र बना देता है।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक-सूत्र पर एक विशाल निर्युक्ति ग्रन्थ लिखा है। उसमें 'मिच्छा मि दुक्कडं' के प्रत्येक अक्षर का निर्वचन उपर्युक्त विचारों को लेकर बड़े ही भाव-भरे ढंग से किया है। वे लिखते हैं—

'मि' त्ति मिउ-मद्दवत्ते,
'छ' त्ति अ दोसाण छादणे होइ।
'मि' त्ति अ मेराइ ठिओ,
'दु' त्ति दुगंछामि अप्पाणं ॥ १५०० ॥
'क' त्ति कडं मे पावं,
'ड' त्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छा दुक्कड—
पयक्खरत्थो समासेणं ॥१५०१ ॥

—आवश्यक-निर्युक्ति

गाथाओं का भावार्थ 'नामैकदेशे नाम ग्रहणम्'—न्याय के अनुसार इस प्रकार है—'मि' मृदुता—कोमलता तथा अहंकाररहितता के लिए है। 'छ' दोषों को त्यागने के लिए है। 'मि' संयम-मर्यादा में दृढ़ रहने के लिए है। 'दु' पाप कर्म करने वाली अपनी आत्मा की निन्दा के लिए है। 'क' कृत पापों की स्वीकृति के लिए है। और 'ड' उन पापों को उपशमाने के लिए—नष्ट करने के लिए है।

प्रस्तुत सूत्र में कुल कितने प्रकार की हिंसा है और उसकी शुद्धि के लिए 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' में 'कितने मिच्छामि दुक्कडं' की भावनाएँ छुपी हुई हैं? हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस प्रश्न पर भी अपना स्पष्ट निर्णय दिया है। संसार में जितने भी संसारी प्राणी हैं, वे सब के सब ५६३ प्रकार के हैं, न अधिक और न कम। उक्त पाँच सौ तिरेसठ भेदों में पृथ्वी, जल आदि पांच स्थावर और मनुष्य, तिर्यंच, नारक तथा देव आदि त्रस, सभी जीवों का समावेश हो जाता है। अस्तु उपर्युक्त ५६३ भेदों को 'अभिहया' से 'जीवियाओ ववरोविया' तक के दश पदों से, जो कि जीवों की हिंसा-विषयक हैं, गुणन करने से ५६३० भेद होते हैं। यह दश-विध विराधना अर्थात् हिंसा राग और द्वेष के कारण होती है, अतः इन सब भेदों को दो से गुणन करने पर ११२६० भेद हो जाते हैं। यह विराधना मन, वचन, और काय से होती है, अतः तीन से गुणन करने पर ३३७८० भेद बन जाते हैं।

विराधना करना, कराना और अनुमोदन करने के रूप में तीन प्रकार से होती है, अतः तीन से गुणन करने पर १० १३ ४० भेद हो जाते हैं। इन सबको भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप तीन काल से गुणन करने पर ३० ४० २० भेद हो जाते हैं। इन को भी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गुरु और निज आत्मा—उक्त छह को साक्षी से गुणन करने पर सब १८ २४ १२० भेद होते हैं। 'मिच्छामि दुक्कडं' का कितना बड़ा विस्तार है। साधक को चाहिए कि शुद्ध हृदय से प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्री भावना रखते हुए कृत पापों की अरिहन्त आदि की साक्षी से आलोचना करे, अपनी आत्मा को पवित्र बनाए।

जीव-जातियां

*

संपूर्ण विश्व में जितने भी संसारी जीव हैं उन सब को जैन-दर्शन ने पांच जातियों में विभक्त किया है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीव उक्त पाँच जातियों में आ जाते हैं। वे पाँच जातियाँ इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। श्रोत्र—कान, चक्षु—आंख, घ्राण—नाक, रसन—जिह्वा और स्पर्शन—त्वचा—ये पांच इन्द्रियाँ हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय जीव हैं, इनको एक स्पर्शन इन्द्रिय ही है। कृमि, शंख, सीप आदि द्वीन्द्रिय हैं, इनको स्पर्शन और रसन दो इन्द्रियाँ हैं। चींटी, मकोड़ा, खटमल, जूं आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं, इनको स्पर्शन, रसन और घ्राण तीन इन्द्रियाँ हैं। मक्खी, मच्छर, बिच्छू आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं, इनको उक्त तीन और एक चक्षु कुल चार इन्द्रियाँ हैं। गर्भ से पैदा होने वाले तिर्यंच, मनुष्य तथा नारक एवं देव पंचेन्द्रिय जीव हैं; इनको श्रोत्र मिला कर पूरी पांच इन्द्रियाँ हैं।

'इन्द्रिय' का अर्थबोध

*

'इन्द्र' नाम आत्मा का है। क्योंकि वही अखिल विश्व में ऐश्वर्य शाली है। जड़ जगत् में ऐश्वर्य कहाँ? वह तो आत्मा का ही अनुचर है, दास है। अतएव कहा है—

'इन्दति-ऐश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः'

—निरुक्त ४/१/८

और जो इन्द्र—आत्मा का चिह्न हो, ज्ञापक हो, बोधक हो, अथवा आत्मा जिसका सेवन करता हो; वह इन्द्रिय कहलाता है। इस व्युत्पत्ति के लिए देखिये—पाणिनीय अष्टाध्यायी का पांचवां अध्याय, दूसरा पाद और ९३वां सूत्र। उक्त निर्वचन के अनुसार श्रोत्र आदि पांचों ही इन्द्रियपद-वाच्य हैं। संसारी आत्माओं को जो कुछ भी सीमित बोध है, वह सब इन इन्द्रियों के द्वारा ही तो है!

पाठ-विधि

*

ऐर्यापथिक-सूत्र के पढ़ने की विधि भी बड़ी सुन्दर एवं सरस है। 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीन बार गुरुचरणों में वन्दना करने के पश्चात् गुरुदेव के समक्ष नत-मस्तक खड़ा होना चाहिए। खड़े होने की विधि यह है कि दोनों पैरों के बीच में आगे की ओर चार अंगुल तथा पीछे की ओर ऐड़ी के पास तीन अंगुल से कुछ अधिक अन्तर रखना चाहिए। यह जिन-मुद्रा का अभिनय है। तदनन्तर, दोनों घुटने भूमि पर टेक कर, दोनों हाथों को कमल के मुकुल की तरह जोड़ कर, मुख के आगे रख कर, दोनों हाथों की कोहनियाँ पेट के ऊपर रख कर, योग-मुद्रा का अभिनय करना चाहिए। पश्चात् मधुर स्वर से 'इच्छाकारेण संदिसह' से 'पडिक्कमामि' तक का पाठ पढ़ना चाहिए। यह आलोचना के लिए आज्ञा-प्राप्ति का सूत्र है। गुरुदेव की ओर से आज्ञा मिल जाने पर 'इच्छं' कहना चाहिये। यह आज्ञा का सूचक है। इसके अनन्तर, गुरु के समक्ष ही उकड़ू आसन से बैठ कर या खड़े हो कर 'इच्छामि पडिक्कमिउं' से लेकर 'मिच्छामि दुक्कडं' तक का पूर्ण पाठ पढ़ना चाहिए। गुरुदेव न हों, तो भगवान् का ध्यान करके उनकी साक्षी से ही पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके खड़े हो कर यह पाठ पढ़ लेना चाहिए।

सात सम्पदा

*

प्राचीन टीकाकारों ने प्रस्तुत सूत्र में सात संपदाओं की योजना की है। सम्पदा का अर्थ विराम एवं विश्रान्ति होता है।

प्रथम अभ्युपगम सम्पदा है, जिसका अर्थ गुरुदेव से आज्ञा लेना है।

दूसरी निमित्त सम्पदा है, जिसमें आलोचना का निमित्त कारण जीवों की विराधना बताया गया है।

तीसरी ओघ—सामान्य हेतु सम्पदा है, जिनमें सामान्य रूप से विराधना का कारण सूचित किया है।

चौथी इत्वर—विशेष हेतु सम्पदा है, जिसमें जीव-विराधना के 'पाणक्कमणे' आदि विशेष हेतु कथन किये हैं।

पंचम संग्रह सम्पदा है, जिसमें 'जे मे जीवा विराहिया'—इस एक वाक्य से ही सब जीवों की विराधना का संग्रह किया है।

छठी जीव-सम्पदा है, जिसमें नामग्रहण-पूर्वक जीवों के भेद बतलाये हैं।

सातवीं विराधना सम्पदा है, जिसमें 'अभिहया' आदि विराधना के प्रकार कहे गए हैं।

* *

६

कायोत्सर्ग-सूत्र

तस्स
उत्तरी—करणेणं
पायच्छित्त-करणेणं
विसोही-करणेणं
विसल्ली-करणेणं
पावाणं कम्माणं
निग्घायणट्ठाए
ठामि काउस्सग्गं ।१।

शब्दार्थ

तस्स=उसकी, दूषित आत्मा की
उत्तरीकरणेणं=विशेष उत्कृष्टता के लिए
पायच्छित-करणेणं=प्रायश्चित करने के लिए
विसोही-करणेणं=विशुद्धि करने के लिए
विसल्ली-करणेणं=शल्य का त्याग करने के लिए
पावाणं=पाप
कम्माणं=कर्मों का
निग्घायणट्ठाए=नाश करने के लिए
काउस्सग्गं=कायोत्सर्ग
ठामि—करता हूं

भावार्थ

आत्मा की विशेष उत्कृष्टता—श्रेष्ठता के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, विशेष निर्मलता के लिए, शल्य-रहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूं—अर्थात् आत्म-विकास की प्राप्ति के लिए शरीरसम्बन्धी समस्त चंचल व्यापारों का त्याग करता हूँ, विशुद्ध चिन्तन करता हूँ।

विवेचन

यह उत्तरी-करण-सूत्र है। इसके द्वारा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण से शुद्ध आत्मा में बाकी रही हुई सूक्ष्म मलिनता को भी दूर करने के लिए विशेष परिष्कार-स्वरूप कायोत्सर्ग का संकल्प किया जाता है। जीवन में जरा भी मलिनता न रहने पाये, यह महान् आदर्श, उक्त सूत्र के द्वारा ध्वनित होता है।

व्रत शुद्धि के लिए संस्कार

*

संस्कार के तीन प्रकार माने गए हैं—दोष-मार्जन, हीनांग-पूर्ति और अतिशयाधायक। इन तीनों संस्कारों के द्वारा प्रत्येक पदार्थ अपनी विशिष्ट अवस्थाओं में पहुंच जाता है। एक संस्कार वह है, जो सर्वप्रथम दोषों को दूर करता है। यह दोष-मार्जन संस्कार कहलाता है। दूसरा संस्कार वह है, जो दोषों की कुछ भी झलक शेष रह गई हो, उसे दूर कर दोष-रहित पदार्थों के हीन-स्वरूप की पूर्ति करता है। यह हीनांग-पूर्ति संस्कार है। तीसरा संस्कार दोष-रहित पदार्थ में एक प्रकार की विशेषता (खूबी) उत्पन्न करता है, वह अतिशयाधायक संस्कार कहा जाता है। समस्त संस्कारों का का संस्कारत्व, इन तीन संस्कारों में समाविष्ट हो जाता है।

उदाहरण के रूप में, मलिन वस्त्र को ही ले लीजिए। धोबी पहले वस्त्रों को भट्ठी पर चढ़ा कर वस्त्रों के मैल को पृथक् करता है। यही पहला दोष-मार्जन संस्कार है। अन्तिम बार जल में से निकाल कर, धूप में सुखा कर यथा-व्यवस्थित वस्त्रों की तह कर देना, हीनांग-पूर्ति संस्कार है। अन्त में सलवटें साफ कर, इस्त्री कर देना—तीसरा अतिशयाधायक संस्कार है।

एक और भी उदाहरण लीजिए। रंगरेज वस्त्र को पहले पानी में डुबो कर, मल कर उसके दाग-धब्बे दूर करता है, यही पहला दोषमार्जन संस्कार है। पुनः साफ-सुथरे वस्त्र को अभीष्ट रंग से रंजित कर देना, यही दूसरा हीनांग-पूर्ति संस्कार है। अन्त में कलप लगा कर इस्त्री कर देना, तीसरा अतिशयाधायक संस्कार है। इन्हीं तीन संस्कारों को शास्त्रीय भाषा में शोधक, विशेषक, एवं भावक संस्कार कहते हैं।

व्रत-शुद्धि के लिए भी यही तीन संस्कार माने गए हैं। आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा स्वीकृत व्रत के प्रमाद-जन्य दोषों का मार्जन किया जाता है। कायोत्सर्ग के द्वारा इधर-उधर रही हुई शेष मलिनता भी दूर कर, व्रत को अखण्ड बना कर हीनांग-पूर्ति संस्कार किया जाता है। अन्त में प्रत्याख्यान के द्वारा आत्म-शक्ति में अत्यधिक वेग पैदा करके व्रतों में विशेषता उत्पन्न की जाती है, यह अतिशयाधायक संस्कार है।

जो वस्तु एक बार मलिन हो जाती है, वह एक बार के प्रयत्न से ही शुद्ध नहीं हो जाती। उसकी विशुद्धि के लिए बार-बार प्रयत्न करना होता है। जंग लगा हुआ शस्त्र, एक बार नहीं, अनेक बार रगड़ने, मसलने और सान पर रखने से ही साफ होता है, चमक पाता है।

पाप-मल से मलिन हुआ संयमी आत्मा भी, इसी प्रकार, एक बार के प्रयत्न से ही शुद्ध नहीं हो जाता। उसकी शुद्धि के लिए साधक को बार-बार प्रयत्न करना पड़ता है। एक के बाद एक प्रयत्नों की लम्बी परम्परा के बाद ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है, पहले नहीं। अस्तु सर्वप्रथम आलोचना-सूत्र के द्वारा आत्म-विशुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाता है, और गमनागमनादि क्रियाओं से होने वाली मलिनता उक्त ईर्या-पथिक प्रतिक्रमण से साफ हो जाती है। परन्तु पाप-मल की बारीक झाँई फिर भी शेष रह जाता है, उसे भी साफ करने के लिए और अंतःशल्य को बाहर निकाल फेंकने के लिए, दूसरी बार कायोत्सर्ग के द्वारा शुद्धि करने का पवित्र संकल्प किया जाता है। मन, वचन और शरीर की चंचलता हटाकर, हृदय में वीतराग भगवान की स्तुति का प्रवाह बहा कर, अपने-आपको अशुभ एवं चंचल व्यापारों से हटाकर, शुभ

व्यापार में केन्द्रित कर, अपूर्व समाधि-भाव की प्राप्ति के लिए एवं पाप-कर्मों के निर्घातन के लिए सत्प्रयत्न करना ही, प्रस्तुत उत्तरी-करण-सूत्र का महामंगलकारी उद्देश्य है।

कायोत्सर्ग का महत्त्व

*

हाँ तो, यह कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का सूत्र है। पाठक मालूम करना चाहते होंगे कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है? कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। अतः कायोत्सर्ग का अर्थ हुआ-काय अर्थात् शरीर का, शरीर की चंचल क्रियाओं का उत्सर्ग अर्थात् त्याग। आशय यह है कि कायोत्सर्ग करते समय साधक, शरीर का विकल्प भूलकर, शरीर की मोह-माया त्याग कर आत्म-भाव में प्रवेश करता है। और, जब आत्म-भाव में प्रविष्ट होकर शुद्ध परमात्म-तत्त्व का स्मरण किया जाता है; तब वह परमात्म-भाव में लीन हो जाता है। जब कि यह परमात्म-भाव में की लीनता अधिकाधिक रसमय दशा में पहुँचती है; तब आत्म-प्रदेशों में व्याप्त पाप कर्मों की निर्जरा—क्षीणता होती है, फलतः जीवन में पवित्रता आती है। आध्यात्मिक पवित्रता का मूल कायोत्सर्ग में अन्तर्निहित है।

कायोत्सर्ग की व्युत्पत्ति में शरीर की चंचलता का त्याग उपलक्षणमात्र है। शरीर के साथ मन, वचन का भी ग्रहण है। मन, वचन और शरीर का दुर्व्यापार जब तक होता रहता है; तब तक पाप-कर्मों का आस्रव बन्द नहीं हो सकता। और, जब तक कर्म-बन्धन से छुटकारा नहीं होता; तब तक मोक्ष-पद की साधना पूर्ण नहीं होती। अतः कर्म-बन्धनों को तोड़ने के लिए तथा कर्मों का आस्रव रोकने के लिए मन, वचन और शरीर के अशुभ व्यापारों का त्याग आवश्यक है, और यह त्याग कायोत्सर्ग की साधना के द्वारा होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग मोक्ष प्राप्ति का प्रधान कारण है, यह न भूलना चाहिए।

आत्म शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त

*

प्रायश्चित्त का महत्त्व, साधना के क्षेत्र में बहुत बड़ा माना गया है। प्रायश्चित एक प्रकार का आध्यात्मिक दण्ड है, जो किसी भी

दोष के होने पर साधक द्वारा अपनी इच्छा से लिया जाता है। इस आध्यात्मिक दण्ड का उद्देश्य एवं लक्ष्य होता है—आत्म-शुद्धि, हृदय-शुद्धि। आत्मा की अशुद्धि का कारण पाप-मल है, भ्रान्त आचरण है। प्रायश्चित्त के द्वारा पाप का परिमार्जन और दोष का शमन होता है, इसीलिए प्रायश्चित्त-समुच्चय आदि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में प्रायश्चित्त का पाप-छेदन, मलापनयन, विशोधन और अपराध-विशुद्धि आदि नामों से उल्लेख किया गया है।

आगम-साहित्य में बाह्य और आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार के तप का उल्लेख है। आत्मा पर लगे पाप-मल को दूर करने वाला उपर्युक्त प्रायश्चित्त, आभ्यन्तर तप में माना गया है। अतएव आलोचना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग आदि की साधनाएँ प्रायश्चित्त हैं। आगम साहित्य में दश प्रकार के प्रायश्चित्त का उल्लेख है। उनमें से यहाँ केवल कायोत्सर्ग रूप जो पंचम 'व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित' है, उसका उल्लेख है। व्युत्सर्ग का अर्थ करते हुए आचार्य अभयदेव कहते हैं कि शरीर की चपलताजन्य चेष्टाओं का निरोध करना व्युत्सर्ग है--

'व्युत्सर्गार्हं यत्कायचेष्टानिरोधत:'

—स्थानाग, ६ ठा० टीका

शरीर की क्रियाओं को रोक कर, मौन रह कर, धर्म ध्यान के द्वारा मन को जो एकाग्र बनाया जाता है, वह कायोत्सर्ग है। उक्त कायोत्सर्ग का आत्मशुद्धि के लिए विशेष महत्त्व है। स्पन्दन, दूषण का प्रतिनिधि है, तो स्थिरत्व. शुद्धि का प्रतिनिधि है।

प्रायश्चित्त : परिभाषाएँ

*

प्रायश्चित्त का निर्वचन पूर्वाचार्यों ने बड़े ही अनूठे ढंग से किया है। प्राय:—बहुत, चित्त—मन अर्थात जीवात्मा को शोधन करने वाली साधना जिसके द्वारा हृदय की अधिक-से-अधिक शुद्धि हो, वह प्रायश्चित्त कहलाता है—

'प्रायो बाहुल्येन चित्तं=जीवं शोधयति कर्ममलिनं विमलीकरोति'

—पंचाशक विवरण

प्रायश्चित्त का दूसरा अर्थ होता है—पाप का छेदन करने वाला—

"पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तं, प्राकृते पायच्छित्तमिति ।"

—स्था० ३ ठा० ४ उद्दे० टीका

तीसरा अर्थ और है—प्रायः—पाप, उसको चित्त—शोधन करना ।

'प्रायः पापं विनिर्दिष्टं, चित्तं तस्य च शोधनम् ।'

—धर्म संग्रह ३ अधि०

तथा—

'अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तंअपराध-विशुद्धिः ।'

—राजवार्तिक ६/२२/१

उक्त सभी अर्थों का मूल आवश्यकनिर्युक्ति में इस प्रकार दिया है—

पावं छिंदइ जम्हा,
पायच्छित्तं तु भण्णई तेणं ।
पाएण वा वि चित्तं,
विसोहए तेण पच्छित्तं । १५०३ ।

जिससे पाप का नाश होता है, अथवा जिसके द्वारा चित्त की विशुद्धि होती है—उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है ।

प्रायश्चित्त की एक और भी बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति है, जो सर्व-साधारण जनता के मानस पर प्रायचिश्त्त की प्रतिक्रिया को ध्यान में रख कर की गई है । प्रायः का अर्थ है लोक—जनता, और चित्त का अर्थ मन है । जिस क्रिया के द्वारा जनता के मन में आदर हो, वह प्रायश्चित्त है । प्रायश्चित्त कर लेने के बाद जनता पर क्या प्रतिक्रिया होती है, यही उस व्युत्पत्ति का प्राण है । बात यह है कि पाप करने वाला व्यक्ति जनता की आँखों में गिर जाता है, जनता उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगती है । क्योकि जनता में आदर धर्माचरण का होता है, पापाचरण का नहीं । पापाचरण के कारण मनुष्य जनता के हृदय से अपना वह धर्माचरण-मूलक गौरव

सहसा गँवा बैठता है। परन्तु, जब वह शुद्ध हृदय से प्रायश्चित्त कर लेता है, अपने अपराध का उचित दण्ड ले लेता है, तो जनता का हृदय भी बदल जाता है, और वह उसे प्रेम तथा गौरव की दृष्टि से देखने लगती है। इसलिए कहा गया है—

> प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत्,
> तच्चित्त-ग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।
>
> —प्रायश्चित्त समुच्चयवृत्ति

प्रायश्चित्त का एक अर्थ और भी है, जो वैदिक साहित्य के विद्वानों द्वारा किया जा रहा है। उनका कहना है कि प्रायश्चित्त शब्द के 'प्रायः' और 'चित्त' ये दो विभाग हैं। 'प्रायः' विभाग प्रयाण-भाव का सूचक है। आत्मा की भूतपूर्व शुद्ध अवस्था ही 'प्रायः' है। अस्तु, इस गत-भाव का पुनः चयन-संग्रह ही 'चित्त' है। प्रायोभाव का चयन ही प्रायश्चित्त है। दूषणों के कारण मलिन आत्मा शुद्ध होकर पुनः स्वरूप में उपस्थित हो, यह प्रायश्चित्त का भावार्थ है। यह अर्थ भी प्रस्तुत प्रकरण में युक्ति-संगत है। कायोत्सर्ग-रूप प्रायश्चित्त के द्वारा आत्मा चंचलता से हटकर पुनः अपने स्थिर-रूप में, आध्यात्मिक दृष्टि से व्रतों की दृढ़ता में स्थित हो जाता है।

व्रती कौन ?

जैन-धर्म की विचार-धारा के अनुसार अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लेने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं हो सकता। सुव्रती होने के लिए सबसे पहली और मुख्य शर्त यह है कि उसे शल्यरहित होना चाहिए। सच्चा व्रती एवं त्यागी वही है, जो सर्वथा निश्छल होकर, अभिमान दंभ एवं भोगासक्ति से परे होकर अपने स्वीकृत चारित्र में लगे दोषों को स्वीकार करता है, उनका यथाविधि प्रतिक्रमण करता है, आलोचना करता है और कायोत्सर्ग आदि के द्वारा शुद्धि करने के लिए सदा तैयार रहता है। जहाँ दंभ है, व्रत-शुद्धि के प्रति उपेक्षा है, वहाँ शल्य है। और, जहां शल्य है, वहाँ व्रतों की साधना कहां ? इसी आदर्श को ध्यान में रखकर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र ७/१३ में कहते हैं—'निःशल्यो व्रती'—जो शल्य से मुक्त है, वही व्रती है :

शल्य क्या है ?

*

शल्य का अर्थ है, **'शल्यतेऽनेन इति शल्यम्'** जिसके द्वारा अन्तर में पीड़ा सालती रहती है, कसकती रहती है, बल एवं आरोग्य की हानि होती है, वह तीर, भाला और काँटा आदि।

आध्यात्मिक-क्षेत्र में लक्षणा-वृत्ति के द्वारा माया, निदान और मिथ्या-दर्शन को शल्य कहते हैं। लक्षणा का अर्थ आरोप करना है। तीर आदि शल्य के आन्तरिक वेदना-जनक रूप साम्य से माया आदि में शल्य का आरोप किया गया है। जिस प्रकार शरीर के किसी भाग में काँटा तथा तीर आदि जब घुस जाता है, तो वह व्यक्ति को चैन नहीं लेने देता है, शरीर को विषाक्त बनाकर अस्वस्थ कर देता है; इसी प्रकार माया आदि शल्य भी जब अन्तर्हृदय में घुप जाते हैं, तब साधक की आत्मा को शान्ति नहीं लेने देते हैं, उसे सर्वदा व्याकुल एवं बेचैन किए रहते हैं, सर्वथा अस्वस्थ बनाए रखते हैं। अहिंसा, सत्य आदि आत्मा का आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, वह शल्य के द्वारा चौपट हो जाता है, साधक आध्यात्मिक दृष्टि से बीमार पड़ जाता है।

१—**माया-शल्य**—माया का अर्थ कपट होता है। अतएव छल करना, ढोंग रचना, जनता को ठगने की मनोवृत्ति रखना, अन्दर और बाहर एकरूप से सरल न रहना, स्वीकृत व्रतों में लगे दोषों की आलोचना न करना, माया-शल्य है।

२—**निदान-शल्य**—धर्माचरण से सांसारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना निदान है। किसी राजा आदि का धन, वैभव देखकर या सुनकर मन में यह संकल्प करना कि ब्रह्मचर्य, तथा तप आदि मेरे धर्म के फलस्वरूप मुझे भी यही वैभव एवं समृद्धि प्राप्त हो, यह निदान-शल्य है।

३—**मिथ्यादर्शन-शल्य**—सत्य पर श्रद्धा न करना, असत्य का आग्रह रखना, मिथ्यादर्शन-शल्य है। यह शल्य बहुत भयंकर है। इसके कारण कभी भी सत्य के प्रति अभिरुचि नहीं होती। यह शल्य सम्यग्दर्शन का विरोधी है।

जब तक साधक के हृदय में, उल्लिखित किसी भी शल्य का संकल्प बना रहेगा; तब तक कोई भी नियम तथा व्रत विशुद्ध नहीं हो सकता। मायावी का व्रत असत्य-मिश्रित होता है। भोगासक्त का व्रत वीतराग-भावना से शून्य, सराग होता है। मिथ्या-दृष्टि का व्रत केवल द्रव्यलिङ्गस्वरूप है। सम्यक्त्व के बिना घोर-से-घोर क्रिया-कांड भी सर्वथा निष्फल है, बल्कि कर्म-बन्ध का कारण है।

प्रस्तुत उत्तरीकरण पाठ के सम्बन्ध में अन्तिम सार-रूपेण इतना ही कहना है कि व्रत एवं आत्मा की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त आवश्यक है। प्रायश्चित्त भाव-शुद्धि के बिना नहीं हो सकता, भाव-शुद्धि के लिए शल्य का त्याग जरूरी है। शल्य का त्याग और पाप कर्मों का नाश कायोत्सर्ग से ही हो सकता है, अतः कायोत्सर्ग करना परमावश्यक है। कायोत्सर्ग संयम में होने वाली भूलों का एक विशिष्ट प्रायश्चित्त ही तो है।

* *

७ ‖ आगार सूत्र

अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं,
खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं,
उड्डुएणं, वाय-निसग्गेणं,
भमलीए, पित्त मुच्छाए ।१।
सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं,
सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं
सुहुमेहिं दिट्ठि—संचालेहिं ।२।
एवमाइएहिं आगारेहिं,
अभग्गो, अविराहिओ,
हुज्ज मे काउस्सग्गो ।३।
जाव अरिहंताणं, भगवंताणं,
नमुक्कारेणं न पारेमि ।४।
ताव कायं ठाणेणं मोणेणं,
झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि ।५।

शब्दार्थ

अन्नत्थ=आगे कहे जाने वाले आगारों के अतिरिक्त कायोत्सर्ग में शेष काय-व्यापारों का त्याग करता हूँ ।

ऊससिएणं=उच्छ्वास से
नीससिएणं=निःश्वास से
खासिएणं=खांसी से
छीएणं=छींक से
जंभाइएणं=जंभाई-उबासी से
उड्डुएणं=डकार से
वायनिसग्गेणं=अपानवायु से
भमलिए=चक्कर आने से
पित्तमुच्छाए=पित्त-विकार की मूर्छा से
सुहुमेहिं=सूक्ष्म
अंग-संचालेहिं=अङ्ग के संचार से
सुहुमेहिं=सूक्ष्म
खेल-संचालेहिं=कफ के संचार से
सुहुमेहिं=सूक्ष्म
दिट्ठिसंचालेहिं=दृष्टि के संचार से
एवमाइएहिं=इत्यादि
आगारेहिं=आगारों-अपवादों से
मे=मेरा
काउस्सग्गो=कायोत्सर्ग
अभग्गो=अभग्न
अविराहिओ=विराधना-रहित
हुज्ज=हो
[कायोत्सर्ग कब तक ?]
जाव=जब तक
अरिहंताणं=अरिहन्त
भगवंताणं=भगवानों को
नमुक्कारेणं=नमस्कार करके कायोत्सर्ग को
न पारेमि=न पारूँ
ताव=तब तक
ठाणेणं=(एक स्थान पर) स्थिर रह कर
मोणेणं=मौन रह कर
झाणेणं=ध्यानस्थ रह कर
अप्पाणं=अपने
कायं=शरीर को
वोसिरामि=(पाप-कर्मों से) अलग करता हूँ

भावार्थ

कायोत्सर्ग में काय-व्यापारों का परित्याग करता हूँ, निश्चल होता हूँ। परन्तु, जो शारीरिक क्रियाएँ अशक्यपरिहार होने के कारण स्वभावतः हरकत में आजाती हैं, उनको छोड़कर।

उच्छ्वास—ऊँचा श्वास, निःश्वास—नीचा श्वास, कासित-खाँसी, छिक्का—छींक, उबासी, डकार, अपान वायु, चक्कर, पित्तविकारजन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म-रूप से अङ्गों का हिलना, सूक्ष्म-रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्म-रूप से नेत्रों का हरकत में आ जाना, इत्यादि आगारों से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराधित हो।

जब तक अरिहन्त भगवानों को नमस्कार न कर लूँ अर्थात् 'नमो अरिहंताणं' न पढ़ लूँ; तब तक एक स्थान पर स्थिर रह

कर, मौन रह कर, धर्म-ध्यान में चित्त की एकाग्रता करके अपने शरीर को पाप-व्यापारों से अलग करता हूँ।

विवेचन

कायोत्सर्ग का अर्थ है, शरीर की सब प्रवृत्तियों को रोक कर पूर्णतया निश्चल एवं निस्पन्द रहना। साधक जीवन के लिए यह निवृत्ति का मार्ग अतीव आवश्यक है। इसके द्वारा मन, वचन एवं शरीर में दृढ़ता का भाव पैदा होता है, जीवन ममता के क्षेत्र से बाहर होता है, सब ओर आत्म-ज्योति का प्रकाश फैल जाता है, और आत्मा बाह्य जगत् से सम्बन्ध हटाकर, शरीर की ओर से भी पराङ्मुख होकर अपने वास्तविक मूल-स्वरूप के केन्द्र में अवस्थित हो जाता है।

कायोत्सर्ग में आगार

*

परन्तु, एक बात है, जिस पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। साधक कितना ही क्यों न दृढ़ एवं साहसी हो, परन्तु कुछ शरीर के व्यापार ऐसे हैं, जो बरावर होते रहते हैं, उनको किसी भी प्रकार से वन्द नहीं किया जा सकता। यदि हठात् बन्द करने का प्रयत्न किया जाए, तो लाभ के वदले हानि की ही सम्भावना रहती है। अतः कायोत्सर्ग से पहले यदि उन व्यापारों के सम्बन्ध में छूट न रखी जाए, तो फिर कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का भंग होता है। एक ओर तो प्रतिज्ञा है कि शरीर के व्यापारों का त्याग करता हूँ, और उधर श्वास आदि के व्यापार चालू रहते हैं, अतः यह प्रतिज्ञा का भंग नहीं तो और क्या है? इसी सूक्ष्म बात को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने प्रस्तुत आगार-सूत्र का निर्माण किया है। अब पहले से ही छूट रख लेने के कारण प्रतिज्ञा भंग का दोष नहीं होता। कितनी सूक्ष्म सूझ है! सत्य के प्रति कितनी अधिक जागरूकता है!

'एवमाइएहिं आगारेहिं'—उक्त पद के द्वारा यह विधान है कि श्वास आदि के सिवा यदि कोई और भी विशेष कारण उपस्थित हो तो कायोत्सर्ग वीच में ही, समय पूर्ण किए विना ही समाप्त किया जा सकता है। वाद में उचित स्थान पर पुनः उसको पूर्ण कर लेना चाहिए। वीच में समाप्त करने के कारणों पर प्राचीन टीकाकारों

ने अच्छा प्रकाश डाला है। कुछ कारण तो ऐसे हैं, जो अधिकारी-भेद से मानवी दुर्बलताओं को लक्ष्य में रखकर माने गए हैं। और कुछ उत्कृष्ट दयाभाव के कारण है। अतएव किसी आकस्मिक विपत्ति में किसी की सहायता के लिए कायोत्सर्ग खोलना पड़े, तो उसका आगार रखा जाता है। जैन-धर्म शुष्क क्रिया-काण्डों में पड़कर जड़ नहीं बनता है। वह ध्यान-जैसे आवश्यक-विधान में भी आकस्मिक सहायता देने की छूट रख रहा है। आज के जड़ क्रियाकाण्डी इस ओर लक्ष्य देने का कष्ट उठाएँ, तो जन-मानस से बहुत सारी गलतफहमियाँ दूर हो सकती हैं।

हाँ, तो टीकाकारों ने आदि शब्द से अग्नि का उपद्रव, डाकू अथवा राजा आदि का महाभय, सिंह अथवा सर्प आदि क्रूर प्राणियों का उपद्रव, तथा पंचेन्द्रिय जीवों का छेदन-भेदन इत्यादि अपवादों का ग्रहण किया है। अग्नि आदि के उपद्रव का ग्रहण इसलिए है कि संभव है, साधक मूल में दुर्बल हो, वह उस समय तो अहम् में अड़ा रहे; किन्तु बाद में भावों की मलिनता के कारण पतित हो जाए। दूसरी बात यह भी है कि साधक दृढ़ भी हो; जीवन की अन्तिम घड़ियों तक विशुद्ध परिणामी भी रहे, किन्तु लोकापवाद तो भयकर है। व्यर्थ की धृष्टता के लिए लोग, जैनधर्म की निन्दा कर सकते हैं। और फिर साधना का मिथ्या आग्रह रखकर जीवन को यों ही व्यर्थ नष्ट कर देने से लाभ भी क्या है?

पंचेन्द्रिय जीवों का छेदन-भेदन आगार-स्वरूप इसलिए रखा गया है कि यदि अपने समक्ष किसी जीव की हत्या होती हो, तो चुपचाप न देखता रहे। शीघ्र ही ध्यान खोल कर उस हत्या को बन्द कराने का यत्न करना चाहिए। अहिंसा से बढ़कर कोई साधना नहीं हो सकती। सर्पादि किसी को काट ले, तो वहाँ भी सहायता के लिए ध्यान खोला जा सकता है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति में लिखते हैं—

> "मार्जारमूषिकादे: पुरतो गमने ऽग्रतः सरतोऽपि न भङ्गः।....
> सर्पदष्टे आत्मनि वा साध्वादौ सहसा उच्चारयतो न भङ्गः।
>
> —योग० (३/१२४) स्वोपज्ञ वृत्ति

'अभग्गो' और 'अविराहिओ' के संस्कृत-रूप क्रमशः 'अभग्न' एवं

'अविराधित' हैं। अभग्न का अर्थ पूर्णतः नष्ट न होना है, और अविराधित का अर्थ देशतः नष्ट न होना है—

"भग्नः सर्वथा विनाशितः, न भग्नोऽभग्नः। विराधितो देशभग्नः, न विराधितोऽविराधितः"

—योगशास्त्र, (३/१२४) स्वोपज्ञ वृत्ति

कायोत्सर्ग में आसन

*

एक बात और। कायोत्सर्ग पद्मासन से करना चाहिए। अथवा बिलकुल सीधे खड़े होकर, नीचे की ओर भुजाओं को प्रलंबमान रखकर, आँखें नासिका के अग्रभाग पर जमाकर अथवा बन्द करके जिन मुद्रा के द्वारा करना भी अधिक सुन्दर होगा। एक ही पैर पर अधिक भार न देना, दीवार आदि का सहारा न लेना, मस्तक नीचे की ओर नहीं झुकाना, आँखें नहीं फिराना, सिर नहीं हिलाना आदि बातों का कायोत्सर्ग में ध्यान रखना चाहिए।

समय व सम्पदा

*

सूत्र में कायोत्सर्ग के काल के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए जो यह कहा गया है कि 'नमो अरिहंताणं' पढ़ने तक कायोत्सर्ग का काल है, इसका यह अर्थ नहीं कि कायोत्सर्ग का कोई निश्चित काल नहीं, जब जी चाहा तभी 'नमो अरिहंताणं' पढ़ा और कायोत्सर्ग पूर्ण कर लिया! 'नमो अरिहंताणं' पढ़ने का तो यह भाव है कि जितने काल का कायोत्सर्ग किया जाए अथवा जो कोई निश्चित पाठ पढ़ा जाए, वह पूर्ण होने पर ही समाप्ति-सूचक 'नमो अरिहंताणं' पढ़ना चाहिए। यह नियम कायोत्सर्ग के प्रति सावधानी की रक्षा के लिए है। अन्यमनस्क भाव से लापरवाही रखते हुए कोई भी साधना शुरू करना और समाप्त करना फल-प्रद नहीं होती। पूर्ण जागरूकता के साथ कायोत्सर्ग प्रारम्भ करना और समाप्त करना, कितना अधिक आत्म-जागृति का जनक होता है! यह अनुभवी ही जान सकते हैं।

प्रस्तुत-सूत्र में पाँच सम्पदा अर्थात् विश्राम हैं—

प्रथम एक वचनान्त आगार-सम्पदा है, इसमें एक वचन के द्वारा आगार बताए हैं।

दूसरी बहुवचनान्त आगार सम्पदा है, इसमें बहुवचन के द्वारा आगार बताए हैं।

तीसरी आगन्तुक-आगार-सम्पदा है, इसमें आकस्मिक अग्नि-उपद्रव आदि की सूचना है।

चतुर्थ कायोत्सर्ग विधि-सम्पदा है, इसमें कायोत्सर्ग के काल की मर्यादा का संकेत है।

पाँचवीं स्वरूप-सम्पदा है, इसमें कायोत्सर्ग के स्वरूप का वर्णन है।

यह सम्पदा का कथन मूल-सूत्र पाठ के अन्तरंग मर्म को समझने के लिए अतीव उपयोगी है।

* *

८ ‖ चतुर्विंशतिस्तव सूत्र

लोगस्स उज्जोयगरे,
धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं,
चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥

उसभमजियं च वंदे,
संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं,
जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥

सुविहिं च पुप्फदंतं,
सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं,
धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥

कुंथुं अरं च मल्लिं,
वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं,
पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

एवं मए अभित्थुआ,
विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा ।

चउवीसं पि जिणवरा,
तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तिय-वंदिय-महिया,
जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग-बोहिलाभं,
समाहि-वरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा,
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

[१]

लोगस्स=सम्पूर्ण लोक के
उज्जोयगरे=उद्द्योत करने वाले
धम्मतित्थयरे=धर्मतीर्थ के कर्ता
जिणे=राग-द्वेष के विजेता
अरिहंते=अरिहन्त
चउवीसंपि=चौबीसों ही
केवली=केवल ज्ञानियों का
कित्तइस्सं=कीर्तन करूँगा

[२]

उसभं=ऋषभदेव
च=और
अजियं=अजित को
वंदे=वन्दन करता हूँ
संभवं=संभव
च=और
अभिणंदणं=अभिनन्दन
च=और
सुमइं=सुमति को
पउमप्पहं=पद्मप्रभ
सुपासं=सुपार्श्व
च=और
चंदप्पहं=चन्द्रप्रभ
जिणं=जिनको
वंदे=वन्दना करता हूँ

[३]

सुविहिं=सुविधि
च=अथवा
पुप्फदंतं=पुष्पदंत
च=और
सीअल=शीतल
सिज्जंस=श्रेयांस
वासुपुज्जं=वासुपूज्य
च=और
विमलं=विमल
अणंतं=अनन्त
जिणं=जिन

धम्मं=धर्मनाथ
च=और
संतिं=शान्ति को
वंदामि=वन्दना करता हूँ

[४]

कुंथुं=कुन्थु
अरं=अरनाथ
च=और
मल्लि=मल्लि
मुणिसुव्वयं=मुनिसुव्रत
च=और
नमिजिणं=नमि जिनको
वंदे=वन्दन करता हूँ
रिट्ठनेमिं=अरिष्ट नेमि
पासं=पार्श्वनाथ
तह=तथा
वद्धमाणं च=वर्द्धमान को भी
वंदामि=वन्दना करता हूँ

[५]

एवं=इस प्रकार
मए=मेरे द्वारा
अभित्थुआ=स्तुति किए गए
विहुयरयमला=पाप मल से रहित
पहीणजरमरणा=जरा और मृत्यु से मुक्त
चउवीसंपि=चौवीसों ही
जिणवरा=जिनवर
तित्थयरा=तीर्थंकर
मे=मुझ पर
पसीयंतु=प्रसन्न हों

[६]

जे=जो
ए=ये
लोगस्स=लोक में
उत्तमा=उत्तम
कित्तिय=कीर्तित=स्तुत
वंदिय=वन्दित
महिया=पूजित
सिद्धा=तीर्थंकर हैं, वे
आरुग्ग=आरोग्य=आत्म स्वास्थ्य और
बोहिलाभं=बोधि-सम्यग्धर्म का लाभ
उत्तम=श्रेष्ठ
समाहिवरं=श्रेष्ठ समाधि
दिंतु=देवें

[७]

चंदेसु=चन्द्रों से भी
निम्मलयरा=विशेष निर्मल
आइच्चेसु=सूर्यों से भी
अहियं=अधिक
पयासयरा=प्रकाश करने वाले
सागरवर=महासागर के समान
गम्भीरा=गम्भीर
सिद्धा=सिद्ध भगवान्
मम=मुझ को
सिद्धिं=सिद्धि, मुक्ति
दिसंतु=देवें

भावार्थ

अखिल विश्व में धर्म का उद्द्योत—प्रकाश करने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले, (राग द्वेष के) जीतने वाले,

(अन्तरंग काम क्रोधादि) शत्रुओं को नष्ट करने वाले, केवलज्ञानी चौवीस तीर्थंकरों का मैं कीर्तन करूंगा—स्तुति करूंगा ॥ १ ॥

श्रीऋषभदेव को और अजितनाथ जी को वन्दना करता हूँ। सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व और राग-द्वेष-विजेता चन्द्रप्रभ जिन को भी नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ), शीतल, श्रेयांस, वासु पूज्य, विमल-नाथ, रागद्वेष के विजेता अनन्त, धर्म तथा श्री शान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, एवं राग-द्वेष के विजेता नमिनाथ जी को वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, और वर्धमान (महावीर) स्वामी को भी नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्मरूप धूल के मल से रहित हैं, जो जरामरण दोनों से सर्वथा मुक्त हैं, वे अन्तः शत्रुओं पर विजय पाने वाले धर्मप्रवर्तक चौवीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, पूजा-अर्चा की है, और जो अखिल संसार में सबसे उत्तम हैं, वे सिद्ध—तीर्थंकर भगवान् मुझे आरोग्य—सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, बोधि—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धर्म का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें ॥ ६ ॥

जो अनेक कोटि चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयंभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्पण करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि—मोक्ष प्राप्त हो ॥ ७ ॥

विवेचन

सामायिक की अवतारणा के लिए आत्म-विशुद्धि का होना परमआवश्यक है। अतएव सर्वप्रथम आलोचना-सूत्र के द्वारा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण करके आत्म-शुद्धि की गई है। तत्पश्चात् विशुद्धि में और अधिक उत्कर्ष पैदा करने के लिए, हिंसा तथा असत्य आदि भूलों का प्रायश्चित्त करने के लिए कायोत्सर्ग की साधना का उल्लेख किया

गया है। दोनों साधनाओं के बाद, यह पुनः तीसरी वार भक्तहृदय में चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र के द्वारा भक्ति-सुधा की वर्षा करने का विधान है। जैन समाज में चतुर्विंशतिस्तव को वहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। वस्तुतः 'लोगस्स' भक्ति-साहित्य की एक अमर रचना है। इसके प्रत्येक शब्द में भक्ति-भाव का अखंड स्रोत छिपा हुआ है। अगर कोई भक्त, पद-पद पर भक्ति-भावना से भरे हुए अर्थ का रसास्वादन करता हुआ, उक्त पाठ को पढ़े, तो वह अवश्य ही आनन्द-विभोर हुए विना नहीं रहेगा। जैन-साधना में सम्यग्दर्शन का वड़ा भारी महत्त्व है। और वह सम्यग्दर्शन किस प्रकार अधिकाधिक विशुद्ध होता है ? वह विशुद्ध होता है, चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा—

'चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।' —उत्तराध्ययन २९।९

चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा दर्शन की विशुद्धि होती है।

भगवत्स्मरण : श्रद्धा का वल

*

आज संसार अत्यधिक त्रस्त, दुःखित एवं पीड़ित है। चारों ओर क्लेश एवं कष्ट की ज्वालाएँ धधक रही हैं; और वीच में अवरुद्ध मानव-प्रजा झुलस रही है। उसे अपनी मुक्ति का कोई मार्ग प्रतीत नहीं होता। ऐसी अवस्था में सरल भावेन संतों के द्वार खटखटाये जाते हैं, और अपने रोने रोये जाते हैं। वालक, बूढ़े, युवक और स्त्रियां, सभी प्रार्थना के लिए कातर हैं। सन्त उन्हें हमेशा से एक ही उपाय बताते चले आए हैं—भगवान् का नाम, और वस नाम ! भगवान् के नाम में असीम शक्ति है, अपार वल है, जो चाहो सो पा सकते हो, आवश्यकता है, श्रद्धा की, विश्वास की। बिना श्रद्धा एवं विश्वास के कुछ नहीं होता। लाखों जन्म वीत जाएँ, तव भी आपको कुछ नहीं मिलेगा, केवल अभाव के लौह-द्वार से टकरा कर लौट आओगे। यदि श्रद्धा और विश्वास का वल लेकर आगे बढ़ोगे, तो सम्पूर्ण विश्व की निधियाँ आपके श्रीचरणों में विखरी पाएँगी।

एक कहानी है। विद्वानों की सभा थी। एक विद्वान मुट्ठी वन्द किए उपस्थित हुए। एक ने पूछा—मुट्ठी में क्या है ? उत्तर मिला—हाथी। दूसरे ने पूछा—उत्तर मिला—घोड़ा। तीसरे ने पूछा—उत्तर मिला—गाय। विद्वान ने किसी को भैंस तो किसी को सिंह, किसी को

हिमालय, तो किसी को समुद्र, किसी को चाँद तो किसी को सूरज बता-बता कर सब को आश्चर्य में डाल दिया। सब लोग कहने लगे— मुट्ठी है या बला ? मुट्ठी में यह सब-कुछ नहीं हो सकता। झूठ ! सर्वथा झूठ ! विद्वान् ने मुट्ठी खोली। रंगकी एक नन्हीं सी टिकिया हथेली पर रखी थी। पानी डाला, दवात में रंग घुल गया। अब विद्वान् के हाथ में कागज था, कलम थी। जो-कुछ कहा था वह सब, सुन्दर चित्रों के रूप में सब को मिल गया।

यही बात भगवान् के नन्हे से नाम में है। श्रद्धा का जल डालिए, ज्ञान का कागज और चरित्र की कलम लीजिए; फिर जो अभीष्ट हो, प्राप्त कीजिए। सब मिलेगा, कमी किसी बात की नहीं है ! सूखी टिकिया कुछ नहीं कर सकती थी। इसी प्रकार श्रद्धा-हीन नाम भी कुछ नहीं कर सकता है।

लोग कहते हैं, अजी नाम से क्या होता है ? मैं कहता हूँ, अच्छा ! आपका केस न्यायालय में चल रहा है। आप किसी से दस हजार रुपया माँगते हैं। जज पूछता है, क्या नाम ? आप कह दीजिए, नाम का तो पता नहीं। क्या होगा ? मामला रद्द ! आप तो कहते हैं—नाम से कुछ नहीं होता। पर, यहाँ तो बिना नाम के सब चौपट हो गया ! यही बात भगवान् के नाम में भी है। उसे शून्य न समझिए ! श्रद्धा का बल लगा कर जरा दृढ़ता के साथ नाम लीजिए, जो चाहोगे सो हो जायगा !

स्मरण से मन पवित्र होता है

*

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक चौवीस तीर्थंकर हमारे इष्टदेव हैं, हमें अहिंसा और सत्य का मार्ग बताने वाले हैं, घोर अज्ञान-अन्धकार में भटकते हुए हमको ज्ञान की दिव्य-ज्योति के देने वाले हैं, अतः कृतज्ञता के नाते, भक्ति के नाते उनका नाम स्मरण करना, उनका कीर्तन करना, हम साधकों का मुख्य कर्तव्य है। यदि हम आलस्य-वश किंवा उद्दण्डता-वश भगवान् का गुण-कीर्तन न करें, तो यह हमारा चुप रहना, अपनी वाणी को निष्फल करना है। अपने से गुणाधिक, श्रेष्ठ एवं पूजनीय व्यक्ति के

सम्बन्ध में चुप रहना, नैषधकार श्रीहर्ष के शब्दों में वाणी की निष्फलता का असह्य शल्य है—

"वाग्जन्म वैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्"

—नैषधचरित ८/३२

महापुरुषों का स्मरण हमारे हृदय को पवित्र बनाता है। वासनाओं की अशान्ति को दूर कर अखंड आत्म-शान्ति का आनन्द देता है। तेज बुखार की हालत में जब हमारे सिर पर बर्फ की ठंडी पट्टी बँधती है, तो हमें कितना सुख, कितनी शान्ति मिलती है! इसी प्रकार जब वासना का ज्वर चैन नहीं लेने देता है, तब भगवन्नाम की बर्फ की पट्टी ही शांति दे सकती है। प्रभु का मंगलमय पवित्र नाम कभी भी ज्योतिर्हीन नहीं हो सकता। वह अवश्य ही अन्तरात्मा में ज्ञान का प्रकाश जगमगाएगा। देहली-दीपक न्याय आप जानते हैं? देहली पर रखा हुआ दीपक अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रकाश फैलाता है। भगवान् का नाम भी जिह्वा पर रहा हुआ अन्दर और बाहर दोनों जगत को प्रकाशमान बनाता है। वह हमें बाह्य-जगत् में रहने के लिए विवेक का प्रकाश देता है, ताकि हम अपनी लोक-यात्रा सफलता के साथ बिना किसी विघ्न-बाधा के तय कर सकें। वह हमें अन्तर्जगत् में भी प्रकाश देता है, ताकि हम अहिंसा, सत्य आदि के पथ पर दृढ़ता के साथ चल कर इस लोक के साथ परलोक को भी शिव एवं सुन्दर बना सकें।

संकल्पबल

*

मनुष्य श्रद्धा का, विश्वास का बना हुआ है, अतः वह जैसी श्रद्धा करता है, जैसा विश्वास करता है, जैसा संकल्प करता है, वैसा ही बन जाता है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्द्धः स एव सः'।

—भगवद् गीता १७/३

विद्वानों के संकल्प विद्वान् बनाते हैं और मूर्खों के संकल्प मूर्ख!

वीरों के नाम से वीरता के भाव पैदा होते हैं, और कायरों के नाम से भीरुता के भाव ! जिस वस्तु का हम नाम लेते हैं, हमारा मन तत्क्षण उसी आकार का हो जाता है। मन एक साफ कैमरा है। वह जैसी वस्तु की ओर अभिमुख होगा, ठीक उसी का आकार अपने में धारण कर लेगा। संसार में हम देखते हैं कि बधिक का नाम लेने से हमारे सामने बधिक का चित्र खड़ा हो जाता है ! सती का नाम लेने से सती का आदर्श हमारे ध्यान में आ जाता है ! साधु का नाम लेने से हमें साधु का ध्यान हो आता है। ठीक इसी प्रकार पवित्र पुरुषों का नाम लेने से अन्य सब विषयों से हमारा ध्यान हट जायगा और हमारी बुद्धि महापुरुष-विषयक हो जायगी। महापुरुषों का नाम लेते ही महामंगल का दिव्य रूप हमारे सामने खड़ा हो जाता है ! यह केवल जड़ अक्षर-माला नहीं है। इन शब्दों पर ध्यान दीजिए, आपको अवश्य ही अलौकिक चमत्कार का साक्षात्कार होगा !

संकल्प-चित्र

*

भगवान् ऋषभ का नाम लेते ही हमें ध्यान आता है—मानव-सभ्यता के आदिकाल का। किस प्रकार ऋषदेवभ ने वनवासी, निष्क्रिय अबोध मानवों को सर्वप्रथम मानव-सभ्यता का पाठ पढ़ाया, मनुष्यता का रहन-सहन सिखाया, व्यक्तिवादी से हटा कर समाजवादी बनाया, परस्पर प्रेम और स्नेह का आदर्श स्थापित किया, पश्चात् अहिंसा और सत्य आदि का उपदेश देकर लोक-परलोक दोनों को उज्ज्वल एवं प्रकाशमय बनाया।

भगवान् नेमिनाथ का नाम हमें दया की चरम-भूमिका पर पहुँचा देता है। पशु-पक्षियों को रक्षा के निमित्त वे किस प्रकार विवाह को ठुकरा देते हैं, किस प्रकार राजीमती-सी सर्वसुन्दरी अनुराग-युक्ता पत्नी को विना व्याहे ही त्यागकर, स्वर्ण-सिंहासन को लात मार कर भिक्षु वन जाते हैं? जरा कल्पना कीजिए, आपका हृदय दया और त्याग-वैराग्य के सुन्दर भावों से गद्गद हो उठेगा !

भगवान् पार्श्वनाथ हमें गंगा-तट पर कमठ-जैसे मिथ्या कर्म-काण्डी को वोध देते एवं धधकती हुई अग्नि में से दयार्द्र होकर नाग-नागनी को वचाते नजर आते हैं। और, आगे चलकर कमठ का कितना भयंकर उपद्रव सहन किया, परन्तु विरोधी पर जरा भी तो क्षोभ न हुआ ! कितनी वड़ी क्षमा है !

भगवान् महावीर के जीवन की झांकी देखेंगे, तो वह वड़ी ही मनोहर है, प्रभाव-पूर्ण है। वारह वर्ष की कितनी कठोर, एकान्त साधना ! कितने भीषण एवं लोमहर्षक उपसर्गों का सहना ! पशु-मेध और नर-मेध जैसे विनाशकारी मिथ्या विश्वासों पर कितने कठोर क्रान्तिकारी प्रहार ! अछूतों एवं दलितों के प्रति कितनी ममता, कितनी आत्मीयता ! गरीव व्राह्मण को अपने शरीर पर के एकमात्र वस्त्र का दान देते, चन्दना के हाथों उड़द के उवले दाने भोजनार्थ लेते, विरोधियों की हजारों यातनाएँ सहते हुए भी यज्ञ आदि मिथ्या विश्वासों का खंडन करते, गौतम जैसे प्रिय-शिष्य को भी भूल के अपराध में दण्ड देते हुए भगवान् महावीर के दिव्य रूप को यदि आप एक वार भी अपने कल्पना-पथ पर ला सकें, तो धन्य-धन्य हो जायेंगे, अलौकिक आनन्द में आत्म-विभोर हो जायेंगे। कौन कहता है कि हमारे महापुरुष के नाम, उनके स्तुति-कीर्तन, कुछ नहीं करते। यह तो आत्मा से परमात्मा वनने का पथ है। जीवन को सरस, सुन्दर एवं सवल बनाने का प्रवल साधन है ! अतएव एक धुन से, एक लगन से अपने धर्म-तीर्थंकरों का, अरिहन्त भगवानों का स्मरण कीजिए। सूत्रकार ने इसी उच्च आदर्श को ध्यान में रखकर चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र का निर्माण किया है।

तीर्थ और तीर्थंकर

*

'धर्म-तीर्थंकर' शब्द का निर्वचन भी ध्यान में रखने लायक है। धर्म का अर्थ है, जिसके द्वारा दुर्गति में, दुरवस्था में पतित होता हुआ आत्मा संभल कर पुनः स्व-स्वरूप में स्थित हो जाए, वह अध्यात्म साधना ! तीर्थ का अर्थ है, जिसके द्वारा संसार समुद्र से

तिरा जाए, वह साधना। 'प्रतिक्रमण सूत्र पद विवृत्ति' में आचार्य नमि लिखते हैं :

"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः—'तीर्यतेऽनेन इति तीर्थम्, धर्म एव तीर्थम् धर्मतीर्थम्"

अस्तु, संसार-समुद्र से तिराने वाला, दुर्गति से उद्धार करने वाला धर्म ही सच्चा तीर्थ है। और, जो इस प्रकार के अहिंसा, सत्य आदि धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। चौवीसों ही तीर्थंकरों ने, अपने-अपने समय में, अहिंसा, सत्य आदि आत्म-धर्म की स्थापना की है, धर्म से भ्रष्ट होती हुई जनता पुनः धर्म में स्थिर की है।

'जिन' का अर्थ है—विजेता। किसका विजेता? इसके लिए फिर आचार्य नमि के पास चलिए, क्योंकि वह आगमिक परिभाषा का एक विलक्षण पण्डित है। प्रतिक्रमण सत्र पद विवृत्ति में लिखा है :

"राग-द्वेष कषायेन्द्रिय परिषहोपसर्गाष्टप्रकारकर्मजेतृत्वाज्जिनाः।"

राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परिषह, उपसर्ग तथा अष्टविध कर्म के जीतने से जिन कहलाते हैं। चार और आठ कर्म के चक्कर में न पड़िए। तीर्थंकरों के चार अघाति-कर्म भी विजित-प्राय ही हैं। वासना-हीन पुरुष के लिए केवल भोग्य-मात्र हैं, बंधन नहीं। घाति-कर्म नष्ट होने के कारण अब इनसे आगे नये कर्म नहीं बंध सकते। यह तो तीर्थंकरों के जीवन काल की बात है। और, यदि वर्तमान में प्रश्न है, अब तो चौवीस तीर्थंकर मोक्ष में पहुँच चुके हैं, आठों ही कर्मों को नष्ट कर सिद्ध हो चुके हैं, अतः वे पूर्ण जिन हैं।

तीर्थंकर : उच्चता का आदर्श

*

जैन-धर्म ईश्वरवादी नहीं है, तीर्थंकरवादी है! किसी सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में वह बिल्कुल विश्वास नहीं रखता। उसका कहना है कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप-सम्बन्धी कोई रूपरेखा हमारे सामने ही नहीं है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अलौकिक ही रहता

चला आया है, वह हम मनुष्यों को अपना क्या आदर्श सिखा सकता है ? उसके जीवन पर से, उसके व्यक्तित्व पर से हमें क्या कुछ लेने लायक मिल सकता है ? हम मनुष्यों के लिए तो वही आराध्यदेव चाहिए, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, हमारे समान ही संसार के सुख-दुःख से एवं मोह-माया से संत्रस्त रहा हो, और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक जागरण के बल से संसार के समस्त सुख-भोगों को दुःखमय जानकर तथा प्राप्त राज्य-वैभव को ठुकरा कर निर्वाण पद का पूर्ण व दृढ़ साधक बना हो, सदा के लिए कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर अपने मोक्ष-स्वरूप अंतिम लक्ष्य पर पहुँचा हो। जैन-धर्म के तीर्थंकर एवं जिन इसी श्रेणी के साधक थे। वे कुछ प्रारम्भ से ही देव न थे, अलौकिक न थे। वे भी हमारी ही तरह एक दिन इस संसार के पामर प्राणी थे, परन्तु अपनी अध्यात्म-साधना के बल पर अन्त में शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं विश्ववंद्य हो गए थे। प्राचीन धर्म-शास्त्रों में आज भी उनके उत्थान-पतन के अनेक कड़वे-मीठे अनुभव एवं धर्म-साधना के क्रम-बद्ध चरण-चिह्न मिल रहे हैं, जिन पर यथा-साध्य चल कर हर कोई साधक अपना आत्म-कल्याण कर सकता है। तीर्थंकरों का आदर्श साधक-जीवन के लिए क्रमबद्ध अभ्युदय एवं निश्रेयस का रेखाचित्र उपस्थित करता है।

पूजा: और पुष्प

*

"महिया' का अर्थ महित—पूजित होता है। इस पर विवाद करने की कोई बात नहीं है। सभी वन्दनीय पुरुष, हमारे पूज्य होते हैं। आचार्य पूज्य हैं, उपाध्याय पूज्य हैं, साधु पूज्य हैं, फिर भला तीर्थंकर क्यों न पूज्य होंगे। उनसे बढ़कर तो पूज्य कोई हो ही नहीं सकता।

पूजा का अर्थ है, सत्कार एवं सम्मान करना। वर्तमान पूजा आदि के शाब्दिक संघर्ष से पूर्व होने वाले आचार्यों ने ही पूजा के दो भेद किए हैं द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा। शरीर और वचन को बाह्य विषयों से संकोच कर प्रभु-वन्दना में नियुक्त करना, द्रव्य-पूजा है और मन को भी बाह्य भोगासक्ति से हटाकर प्रभु के चरणों में अर्पण

करना, भाव-पूजा है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विद्वान् एकमत हैं।[1]

भगवत्पूजा के लिए पुष्पों की भी आवश्यकता होती है। प्रभु के समक्ष उपस्थित होने वाला भक्त पुष्प-हीन कैसे रह सकता है? आइए, जैन-जगत के प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य हरिभद्र हमें कौन से पुष्प बतलाते हैं? उन्होंने बड़े ही प्रेम से प्रभु-पूजा के योग्य पुष्प चुन रक्खे हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसंगता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते॥

—अष्टक प्रकरण ३/६

देखा, आपने कितने सुन्दर पुष्प हैं! अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, भक्ति, तप और ज्ञान—प्रत्येक पुष्प जीवन को महका देने वाला है! भगवान् के पुजारी बनने वालों को इन्हीं हृदय के भाव-पुष्पों द्वारा पूजा करनी होगी। अन्यथा स्थूल क्रियाकांड से कुछ भी होना जाना नहीं है। प्रभु की सच्ची पूजा—उपासना तो यही है कि हम सत्य बोलें, अपने वचन का पालन करें, कठोर भाषण न करें किसी को पीड़ा न पहुँचाएँ, ब्रह्मचर्य का पालन करें, वासनाओं को जीतें, पवित्र विचार रखें, सब जीवों के प्रति समभावना एवं आदर की आदत पैदा करें, लोकैषणा एवं वित्तैषणा से अलग रहें। जब इन भाव पुष्पों की सुगन्ध आपके हृदय के अणु-अणु में समा जाए, उस समय ही समझना चाहिए कि

---

१. (क) दिगम्बर विद्वान आचार्य अमित गति कहते हैं—

वचो-विग्रह-संकोचो, द्रव्य-पूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो, भावपूजा पुरातनैः॥

—अमितगति श्रावकाचार

(ख) श्वेताम्बर विद्वान् आचार्य नमि कहते हैं—

नम इति पूजार्थम्। पूजा च द्रव्य-भाव-संकोचस्तत्र करशिरः पादादिसंन्यासो द्रव्य-संकोचः, भाव-संकोचस्तु विशुद्धस्य मनसो नियोगः॥

—प्रतिक्रमणसूत्रपदविवृतिः, प्रणिपातदण्डक

हम भगवान् के सच्चे पुजारी बन रहे हैं और हमारी पूजा में अपूर्व बल एवं शक्ति का संचार हो रहा है।

प्रभु के दरबार में यही पुष्प लेकर पहुँचो ! प्रभु को इन से असीम प्रेम है। उन्होंने अपने जीवन का तिल-तिल इन्हीं पुष्पों की रक्षा करने के पीछे खर्च किया है, विपत्ति की असह्य चोटों को मुस्कुराते हुए सहन किया है। अतः जिसको जिस वस्तु से अत्यधिक प्रेम हो, वही लेकर उसकी सेवा में उपस्थित होना चाहिए। पूजा व्यक्तित्व के अनुसार होती है ! अन्यथा पूजा नहीं, पूजा का उपहास है। पूज्य, पूजक और पूजा का परस्पर सम्बन्ध रखने वाली योग्य त्रिपुटी ही जीवन का कल्याण कर सकती है, अन्य नहीं।

पितामह भीष्म शर-शय्या पर पड़े थे। तमाम शरीर में बाण विंधे थे; परन्तु उनके मस्तक में बाण न लगने से सिर नीचे लटक रहा था। भीष्म ने तकिया मांगा। लोग दौड़े और नरम-नरम रूई से भरे कोमल तकिये लाकर उनके सिर के नीचे रखने लगे। भीष्म ने उन सबको लौटाते हुए कहा "अर्जुन को बुलाओ !" अर्जुन आए। भीष्म ने कहा :—"बेटे अर्जुन ! सिर नीचे लटक रहा है, तकलीफ हो रही है, जरा तकिया तो लाओ।" चतुर अर्जुन ने तुरन्त तीन बाण मस्तक में मार कर वीरवर भीष्म की स्थिति के अनुकूल तकिया लगा दिया। पितामह ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। क्योंकि, अर्जुन ने जैसी शय्या थी, वैसा ही तकिया दिया। उस समय वीरवर भीष्म को आराम पहुँचाने की इच्छा से उन्हें रूई का तकिया देना उन्हें कष्ट पहुँचाना था, और था उनकी महिमा के प्रति अपने मोह-अज्ञान का प्रदर्शन ! किसकी कैसी उपासना होनी चाहिए, इसके लिए यह कहानी ही पर्याप्त होगी, अधिक क्या ?

आरोग्य और समाधि

*

लोगस्स में जो 'आरुग्ग' शब्द आया है, उसके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य आरोग्य यानी ज्वर आदि रोगों से रहित होना। भाव आरोग्य यानी कर्म-रोगों से रहित होकर स्वस्थ होना, आत्म-स्वरूपस्थ होना, सिद्ध होना। सिद्ध दशा पाकर ही दुर्दशा से छुटकारा मिलेगा। प्रस्तुत-सूत्र में आरोग्य से मूल अभिप्राय, भाव

आरोग्य से है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साधक को द्रव्य आरोग्य से कोई वास्ता ही नहीं रखना चाहिए । भाव-आरोग्य की साधना के लिए द्रव्य-आरोग्य भी अपेक्षित है। यदि द्रव्य आरोग्य हमारी साधना में सहकारी हो सकता है, तो वह भी अपेक्षित ही है, त्याज्य नहीं ।

'समाहिवरमुत्तमं' में समाधि शब्द का अर्थ बहुत गहरा है। यह दार्शनिक जगत् का महामान्य शब्द है । वाचक यशोविजय जी ने कहा है—जब कि ध्याता, ध्यान एवं ध्येय की द्वैत-स्थिति हट कर केवल स्वस्वरूप-मात्र का निर्भास होता है, वह ध्यान समाधि है—

स्वरूपमात्र-निर्भासं, समाधिर्ध्यानमेव हि।

—द्वात्रिंशिका २४/२७

उपाध्याय जी की उड़ान कितनी ऊँची है ! समाधि का कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है ! योगसूत्रकार पतञ्जलि भी वाचक जी के ही पथ पर हैं ।

भगवान् महावीर साधक-जीवन के बड़े ही मर्मज्ञ पारखी हैं । समाधि का वर्णन करते हुए आपने समाधि के दश प्रकार बतलाए हैं—पांच महाव्रत और पांच समिति—

"दसविहा समाही पण्णत्ता तंजहा, पाणाइवायाओ वेरमणं........"

—स्थानांग सूत्र, १०/३/११

पांच महाव्रत और पांच समिति का मानव जीवन के उत्थान में कितना महत्त्व है, यह पूछने की चीज नहीं ? समस्त जैन-वाङ्मय इन्हीं के गुण-गान से भरा पड़ा है ! सच्ची शान्ति इन्हीं के द्वारा मिलती है !

समाधि का सामान्य अर्थ है—'चित्त की एकाग्रता।' जब साधक का अन्तर्मन, इधर-उधर के विक्षेपों से हटकर, अपनी स्वीकृत साधना के प्रति एक-रूप हो जाए, किसी प्रकार की वासना का लेश भी न रहे, तब वह समाधि-पथ पर पहुँचता है। यह समाधि, मनुष्य का अभ्युदय करती है, अन्तरात्मा को पवित्र बनाती है, एवं सुख-दुख तथा हर्ष शोक आदि की हर हालत में शान्त एवं स्थिर रखती है । इस उच्च समाधि-दशा पर पहुँचने के बाद आत्मा का पतन

नहीं होता। प्रभु के चरणों में अपनी साधना के प्रति सर्वथा उत्तरदायित्व-पूर्ण रहने की माँग कितनी अधिक सुन्दर है ! कितनी अधिक भाव-भरी है !

कुछ लोग भोग-पिपासा से अन्धे होकर गलत ढ़ंग से प्रार्थना करते भी देखे गए हैं। कोई स्त्री माँगता है, तो कोई धन, कोई पुत्र माँगता है, तो कोई प्रतिष्ठा ! अधिक क्या, कितने ही लोग तो अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने और उनका संहार करने के लिए प्रभु के नाम की मालाएँ फेरते हैं। इस कुचक्र में साधारण जनता ही नहीं, अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति भी फंसे हुए हैं। परन्तु, जैन-धर्म के विशुद्ध दृष्टिकोण से यह सब उन वीतराग महापुरुषों का भयङ्कर अपमान है ! निवृत्ति मार्ग के प्रवर्तक तीर्थंकरों से इस प्रकार वासनामयी प्रार्थनाएँ करना वज्र मूर्खता का अभिशाप है ! जो जैसा हो, उससे वैसी ही प्रार्थना करनी चाहिए। विरागी मुनियों से काम-शास्त्र के उपदेश की और वेश्या से धर्मोपदेश की प्रार्थना करने वाले व्यक्ति के सम्वन्ध में हर कोई कह सकता है कि उसका दिल और दिमाग ठिकाने पर नहीं है। अतएव प्रस्तुत पाठ में ऐसे स्वार्थी भक्तों के लिए खूब ही ध्यान देने योग्य वात कही गई है। यहाँ और कुछ संसारी पदार्थ न मांग कर तीर्थंकरों के व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप सिद्धत्व की, वोधि की और समाधि की प्रार्थना की गई है। जैन-दर्शन की भावनारूप सुन्दर प्रार्थना का आदर्श यही है कि हम इधर-उधर न भटक कर अपने आत्म-निर्माण के लिए ही मंगल कामना करें— 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु।'

सिद्धः दाता नहीं, आलम्वन

*

अब एक अन्तिम शब्द 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु' रह गया है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। कुछ सज्जन कहते हैं कि भगवान् तो वीतराग हैं, कर्त्ता नहीं हैं। उनके श्री-चरणों में यह व्यर्थ की प्रार्थना क्यों और कैसी ? उत्तर में कहना है कि वस्तुतः प्रभु वीतरागी हैं, कुछ नहीं करते हैं; परन्तु उनका अवलम्व लेकर भक्त तो सब-कुछ कर सकता है। सिद्धि, प्रभु नहीं देते, भक्त स्वयं ग्रहण करता है। परन्तु, भक्ति की भाषा में इस प्रकार प्रभु-चरणों में प्रार्थना करना, भक्त का कर्तव्य है। ऐसा करने से अहंता का नाश होता है, हृदय में श्रद्धा का वल जागृत होता है, और भगवान् के प्रति अपूर्व सम्मान

प्रदर्शित होता है। यदि लाक्षणिक भाषा में कहें, तो इसका अर्थ— 'सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें, यह न होकर यह होगा कि सिद्ध प्रभु के आलम्बन से मुझे सिद्धि प्राप्त हो।' अब यह प्रार्थना, भावना में बदल गई है।

जैन-दृष्टि से भावना करना, अपसिद्धान्त नहीं, किन्तु सुसिद्धान्त है। जैन-धर्म में भगवान का स्मरण केवल श्रद्धा का वल जागृत करने के लिए ही है, यहाँ लेने-देने के लिए कोई स्थान नहीं। हम भगवान् को कर्ता नहीं मानते, केवल अपने जीवन-रथ का सारथी मानते हैं। सारथी मार्ग-दर्शन करता है, युद्ध योद्धा को ही करना होता है। महाभारत के युद्ध में कृष्ण की स्थिति जानते हैं आप ? क्या प्रतिज्ञा है ? "अर्जुन ! मैं केवल तेरा सारथी बनूँगा। शस्त्र नहीं उठाऊँगा। शस्त्र तुझे ही उठाने होंगे। योद्धाओं से तुझे ही लड़ना होगा। शस्त्र के नाते अपने ही गाण्डीव पर भरोसा रखना होगा !" यह है कृष्ण की जगत्प्रसिद्ध प्रतिज्ञा ! अध्यात्म-रणक्षेत्र के महान् विजयी जैन तीर्थंकरों का भी यही आदर्श है ! उनका भी कहना है कि "हमने सारथी बनकर तुम्हें मार्ग बतला दिया है। अतः हमारा प्रवचन यथासमय तुम्हारे जीवनरथ को हांकने और मार्ग-दर्शन कराने के लिए सदा-सर्वदा तुम्हारे साथ है, किन्तु साधना के शस्त्र तुम्हें ही उठाने होंगे, वासनाओं से तुम्हें ही लड़ना होगा, सिद्धि तुमको मिलेगी, अवश्य मिलेगी ! किन्तु मिलेगी अपने ही पुरुषार्थ से।"

सिद्धि का अर्थ पुरानी परम्परा मुक्ति—मोक्ष करती आ रही है। प्रायः प्राचीन और अर्वाचीन सभी टीकाकार इतना ही अर्थ कह कर मौन हो जाते हैं। परन्तु, क्या सिद्धि का सीधा-सादा मुख्यार्थ उद्देश्य-पूर्ति नहीं हो सकता ? मुझे तो यही अर्थ उचित जान पड़ता है। यद्यपि परम्परा से मोक्ष भी उद्देश्य-पूर्ति में ही सम्मिलित है। किन्तु यहाँ निरतिचार व्रतपालन-रूप उद्देश्य की पूर्ति ही कुछ अधिक संगत जान पड़ती है। उसका हम से निकट सम्बन्ध है।

पाठान्तर

*

आचार्य हेमचन्द्र ने 'कित्तिय-वंदिय-महिया' में के 'महिया' पाठ

के स्थान में 'मइआ' पाठ का भी उल्लेख किया है। इस दशा में 'मइआ' का अर्थ मेरे द्वारा करना चाहिए। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ होगा—मेरे द्वारा कीर्तित, वन्दित—

"मइआ इति पाठान्तरम्, तत्र मयका मया।"

—योग शास्त्र (३/१२४) स्वोपज्ञ-वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र के कथनानुसार कीर्तन का अर्थ नाम-ग्रहण है, और वन्दन का अर्थ है स्तुति।

कर्म : रज और मल

*

आचार्य हेमचन्द्र 'विहुयरयमला' पर भी नया प्रकाश डालते हैं। उक्त पद में रज और मल दो शब्द हैं। रज का अर्थ वध्यमान कर्म, वद्ध कर्म, तथा ऐर्या-पथ कर्म किया है। और मल का अर्थ पूर्व वद्ध कर्म, निकाचित कर्म तथा साम्परायिक कर्म किया है। क्रोध, मान आदि कषायों के विना केवल मन आदि योगत्रय से बंधने वाला कर्म ऐर्यापथ-कर्म होता है। और कषायों के साथ योगत्रय से वंधने वाला कर्म साम्परायिक होता है। वद्ध कर्म केवल लगने मात्र होता है, वह दृढ़ नहीं होता। और निकाचित कर्म दृढ़ वंधने वाले अवश्य भोगने योग्य कर्म को कहते हैं। सिद्ध भगवान् दोनों ही प्रकार के रज एवं मल से सर्वथा रहित होते हैं :—

"रजश्च मलं च रजोमले। विधूते, प्रकम्पिते अनेकार्थत्वादपनीते वा रजोमले यैस्ते विधूतरजोमलाः। बध्यमानं च कर्म रजः, पूर्ववद्धं तु मलम्। अथवा वद्धं रजो, निकाचितं मलम्। अथवा ऐर्या-पथं रजः, साम्परायिकं मलमिति।"

—योगशास्त्र, (३/१२४) स्वोपज्ञ-वृत्ति

विधि

*

चतुर्विंशतिस्तव, ऐर्यापथ-सूत्र के विवेचन में निर्दिष्ट जिन-मुद्रा अथवा योग-मुद्रा से पढ़ना चाहिए। अस्त-व्यस्त दशा में पढ़ने से स्तुति का पूर्ण रस नहीं मिलता।

* *

१ ‖

प्रतिज्ञा-सूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं
सावज्जं जोगं पच्चक्खामि ।
जावनियमं पज्जुवासामि ।
दुविहं तिविहेणं ।
मणेणं, वायाए, काएणं ।
न करेमि, न कारवेमि ।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि,
निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि !

शब्दार्थ

भंते=हे भगवन् ! (आपकी साक्षी से मैं)
सामाइयं=सामायिक
करेमि=करता हूं
[कैसी सामायिक ?]
सावज्जं=सावद्य,
स+अवद्य=पाप-सहित
जोगं=व्यापारों को
पच्चक्खामि=त्यागता हूँ
[कब तक के लिए ?]
जाव=जब तक
नियमं=नियम की
पज्जुवासामि=उपासना करूँ
[किस रूप में सावद्य का त्याग ?]
दुविहं=दो करण से
तिविहेणं=तीन योग से

मणेणं=मन से
वायाए=वचन से
काएणं=काया से (सावद्य व्यापार)
न करेमि=न स्वयं करूँगा
न कारवेमि=न दूसरों से कराऊँगा
भंते=हे भगवन् !
तस्स=अतीत में जो भी पाप-कर्म किया हो, उसका
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूं
निंदामि=आत्म-साक्षी से निन्दा करता हूं
गरिहामि=आपकी साक्षी से गर्हा करता हूँ
अप्पाणं=अपनी आत्मा को
वोसिरामि=वोसराता हूं, त्यागता हूं

भावार्थ

हे भगवन् ! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ, पापकारी क्रियाओं का परित्याग करता हूँ।

जब तक मैं दो घड़ी के नियम की उपासना करूँ; तब तक दो करण [करना और कराना] और तीन योग से—मन, वचन और शरीर से पाप कर्म न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा।

[जो पाप कर्म पहले हो गए हैं, उनका] हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अपनी साक्षी से निन्दा करता हूँ, आपकी साक्षी से गर्हा करता हूँ। अन्त में मैं अपनी आत्मा को पापव्यापार से वोसिराता हूं—अलग करता हूँ। अथवा पाप-कर्म करने वाली अपनी भूतकालीन मलिन आत्मा का त्याग करता हूं, नया पवित्र जीवन ग्रहण करता हूँ।

विवेचन

अब तक जो कुछ भी विधि-विधान किया जा रहा था, वह सब सामायिक ग्रहण करने के लिए अपने-आप को तैयार करना था। अतएव ऐर्यापथिकी-सूत्र के द्वारा कृत पापों की आलोचना करने के बाद, तथा कायोत्सर्ग में एवं खुले रूप में लोगस्स-सूत्र के द्वारा अन्तर्हृदय की पाप कालिमा धो देने के बाद, सब ओर से विशुद्ध आत्म-भूमि में सामायिक का बीजारोपण, उक्त 'करेमि भंते' सूत्र के द्वारा किया जाता है।

सामायिक क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर 'करेमि भंते' के मूल पाठ में स्पष्ट रूप से दे दिया गया है । सामायिक प्रत्याख्यान-स्वरूप है, संवर-रूप है, अतएव कम-से-कम दो घड़ी के लिए पाप-रूप व्यापारों का, क्रियाओं का, चेष्टाओं का प्रत्याख्यान—त्याग करना, सामायिक है ।

सामायिक की प्रतिज्ञा

*

साधक प्रतिज्ञा करता है—हे भगवन् ! जिनके कारण अन्तर्हृदय पाप-मल से मलिन होता हैं, आत्म-शुद्धि का नाश होता है; उन मन, वचन और शरीर-रूप तीनों योगों की दुष्प्रवृत्तियों का स्वीकृत नियम-पर्यन्त त्याग करता हूँ। अर्थात् मन से दुष्ट चिन्तन नहीं करूँगा, वचन से असत्य तथा कटु-भाषण नहीं करूँगा, और शरीर से हिंसा आदि किसी भी प्रकार का दुष्ट आचरण नहीं करूँगा। मन, वचन, एवं शरीर की अशुभ प्रवृत्ति-मूलक चंचलता को रोक कर अपने-आपको स्व-स्वरूप में स्थिर तथा निश्चल बनाता हूँ, आत्म-शुद्धि के लिए आध्यात्मिक क्रिया की उपासना करता हूँ, भूतकाल में किए गए पापों से प्रतिक्रमण के द्वारा निवृत्त होता हूँ, आलोचना एवं पश्चत्ताप के रूप में आत्म-साक्षी से निन्दा तथा आपकी साक्षी से गर्हा करता हूँ, पापचार में संलग्न अपनी पूर्वकालीन आत्मा को वोसराता हूँ; फलतः दो घड़ी के लिए संयम एवं सदाचार का नया जीवन अपनाता हुँ ।

यह उपर्युक्त विचार, सामायिक का प्रतिज्ञा-सूत्र कहलाता है । पाठक समझ गए होंगे कि कितनी महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा है ! सामायिक का आदर्श केवल वेश वदलना ही नहीं, जीवन को बदलना है । यदि सामायिक ग्रहण करके भी वही वासना रही, वही प्रवंचना रही, वही क्रोध, मान, माया और लोभ की कालिमा रही, तो फिर सामायिक करने से लाभ क्या ? खेद है कि प्रमाद में, राग-द्वेष में, सांसारिक प्रपंचो में उलझे रहने वाले आजकल के जीव नित्य प्रति सामायिक करते हुए भी सामायिक के अद्भुत अलौकिक सम-स्वरूप को नहीं देख पाते हैं ! यही कारण है कि वर्तमान युग में सामायिक के द्वारा आत्म-ज्योति के दर्शन करके वाले विरले ही साधक मिलते हैं ।

सर्वविरतिः देशविरति

*

सामायिक में जो पापचार का त्याग बतलाया गया हैं, वह किस कोटि का है ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहना है कि मुख्य रूप से त्याग के दो मार्ग हैं—'सर्व-विरति और देश-विरति ।' सर्व-विरति का अर्थ है—'सर्व अंश में त्याग ।' और देश-विरिति का अर्थ है—'कुछ अंश में त्याग ।' प्रत्येक नियम के तीन योग—मन, वचन, शरीर और अधिक-से-अधिक नौ भंग [प्रकार] होते हैं । अस्तु, जो त्याग पूरे नौ भंगों से किया जाता है, वह सर्व-विरति और जो नौ में से कुछ भी कम आठ, सात, या छह आदि भंगो से किया जाता है; वह देश-विरति होता है । साधु की सामायिक सर्व-विरति है; अतः वह तीन करण और तीन योग के नौ भंगों से समस्त पाप-व्यापारों का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है । परन्तु, गृहस्थ की सामायिक देश-विरति है, अतः वह पूर्ण त्यागी न बनकर केवल छह भंगों से अर्थात् दो करण तीन योग से दो घड़ी के लिए पापों का परित्याग करता है । इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए प्रतिज्ञा-पाठ में कहा गया कि 'दुविहं तिविहेणं ।' अर्थात् सावद्य योग न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा, मन, वचन, एवं शरीर से ।

दो करण और तीन योग के संमिश्रण से सामायिक-रूप प्रत्याख्यान-विधि के छह प्रकार होते हैं—

१—मन से करूँ नहीं ।

२—मन से कराऊ नहीं ।

३—वचन से करूँ नहीं ।

४—वचन से कराऊँ नहीं ।

५—काया से करूँ नहीं ।

६—काया से कराऊँ नहीं ।

शास्त्रीय परिभाषा में उक्त छह प्रकारों को पट् कोटि के नाम से लिखा गया है । साधु का सामायिक-व्रत नव कोटि से होता है; उसमें सावद्य व्यापार का अनुमोदन तक भी त्यागने के लिए तीन कोटियाँ

और होती हैं; परन्तु गृहस्थ की परिस्थितियां कुछ ऐसी हैं कि वह संसार में रहते हुए पूर्ण त्याग के उग्र पथ पर नहीं चल सकता। अतः साधुत्व की भूमिका में लिए जाने वाले—मन से अनुमोदूँ नहीं, वचन से अनुमोदूँ नहीं, काया से अनुमोदूँ नहीं—उक्त तीन भंगों के सिवा शेष छह भंगों से ही अपने जीवन को पवित्र एवं मंगलमय बनाने के लिए संयम-यात्रा का आरंभ करता है। यदि ये छह भंग भी सफलता के साथ जीवन में उतार लिए जाएँ, तो वेड़ा पार है! संयम-साधना के क्षेत्र में छोटी और बड़ी साधना का उतना विशेष मूल्य नहीं है, जितना कि प्रत्येक साधना को सच्चे हृदय से पालन करने का मूल्य है। छोटी-से-छोटी साधना भी यदि हृदय की शुद्ध भावना के साथ, ईमानदारी के साथ पालन की जाए, तो वह जीवन में पवित्रता का मंगलमय वातावरण उत्पन्न कर देती है, माया के बन्धनों को तोड़ डालती है।

'भंते' के अर्थ

*

यह तो हुआ सामायिक की वस्तु-स्थिति के सम्बन्ध में सामान्य विवेचन! अब जरा प्रस्तुत-सूत्र के विशेष स्थलों पर भी कुछ विचार-चर्चा कर लें। सर्वप्रथम प्रतिज्ञा-सूत्र का 'करेमि भंते'-रूप प्रारंभिक अंश आपके समक्ष है। गुरुदेव के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति-भाव से भरा शब्द है यह! 'भदि कल्याणे सुखे च' धातु से 'भंते' शब्द बनता है। 'भंते' का संस्कृत रूप 'भदंत' होता है। भदंत का अर्थ कल्याणकारी होता है। गुरुदेव से बढ़ कर संसार-जन्य दुःख से त्राण देने वाला और कौन भदंत है? 'भंते' के 'भवांत' तथा 'भयांत'—ये दो संस्कृत रूपान्तर भी किए जाते हैं। 'भवांत' का अर्थ है—भव यानी संसार का अन्त करने वाला। और भयांत का अर्थ है—भय यानी डर का अन्त करने वाला। गुरुदेव की शरण में पहुँचने के बाद भव और भय का क्या अस्तित्व? 'भंते' का अर्थ भगवान् भी होता है। पूज्य गुरुदेव के लिए 'भंते'—'भगवान्' शब्द का सम्बोधन भी अति सुन्दर है।

यदि 'भंते' से गुरुदेव के प्रति सम्बोधन न लेकर हमारी प्रत्येक क्रिया के साक्षी एवं द्रष्टा सर्वज्ञ वीतराग भगवान् को सम्बोधित

करना माना जाए, तब भी कोई हानि नहीं है। गुरुदेव उपस्थित न हों, तब वीतराग भगवान् को ही साक्षी बना कर अपना धर्मानुष्ठान शुरू कर देना चाहिए। वीतराग देव हमारे हृदय की सब भावनाओं के द्रष्टा हैं, उनसे हमारा कुछ भी छिपा हुआ नहीं है; अतः उनकी साक्षी से धर्म-साधना करना, हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में बड़ी बलवती प्रेरणा प्रदान करता है, सतत जागृत रहने के लिए सावधान करता है। वीतराग भगवान् की सर्वज्ञता और उनकी साक्षिता हमारी धर्म-क्रियाओं में रहे हुए दम्भ के विष को दूर करने के लिए अमोघ अमृत मन्त्र है।

सावद्य की व्याख्या

*

'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' में आने वाले 'सावज्ज' शब्द पर भी विशेष लक्ष्य रखने की आवश्यकता है। 'सावज्ज' का संस्कृत रूप सावद्य है। सावद्य में दो शब्द है—स' और 'अवद्य'। दोनों मिलकर 'सावद्य' शब्द बनता है। सावद्य का अर्थ है,पाप-सहित। अतः जो कार्य पाप-सहित हों, पाप-कर्म के बन्ध करने वाले हों, आत्मा का पतन करने वाले हों, सामायिक में उन सबका त्याग आवश्यक है। परन्तु, कुछ लोगों की मान्यता हैं कि "सामायिक करते समय जीव-रक्षा का कार्य नहीं कर सकते, किसी की दया नहीं पाल सकते।" इस सम्बन्ध में उनका अभिप्राय यह है कि "सामायिक में किसी पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। और, जब हम किसी मरते हुए जीव को बचाएँगे, तो, अवश्य उस पर राग-भाव आएगा। विना राग-भाव के किसी को बचाया नहीं जा सकता।" इस प्रकार उनकी दृष्टि में किसी मरते हुए जीव को बचाना भी सावद्य योग है।

प्रस्तुत भ्रान्त धारणा के उत्तर में निवेदन है कि सामायिक में सावद्य योग का त्याग है। सावद्य का अर्थ है=पापमय कार्य। अतः सामायिक में जीव-हिंसा का त्याग ही अभीष्ट है, न कि जीव-दया का। क्या जीव-दया भी पापमय कार्य है? यदि ऐसा है, तब तो संसार में धर्म का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा। दया तो मानव-हृदय के कोमल-भाव की एवं सम्यक्त्व के अस्तित्व की सूचना देने वाला अलौकिक धर्म है। जहाँ दया नहीं, वहाँ धर्म तो क्या, मनुष्य की साधारण मनुष्यता भी न रहेगी। जीव-दया जैन-धर्म का तो प्राण

है। सभ्यता के आदिकाल से जैन-धर्म की महत्ता दया के कारण ही संसार में प्रख्यात रही है।

रागभाव कहाँ और क्या है ?

*

अब रहा राग-भाव का प्रश्न ! इस सम्बन्ध में कहा है कि राग, मोह के कारण होता है। जहाँ संसार का अपना स्वार्थ है, कषाय-भाव है, वहाँ मोह है। जब हम सामायिक में किसी भी प्राणी की, वह भी विना किसी स्वार्थ के, केवल हृदय की स्वभावतः उद्बुद्ध हुई अनुकम्पा के कारण रक्षा करते हैं, तो मोह किधर से होता है ? राग-भाव को कहाँ स्थान मिलता है ? जीव-रक्षा में राग-भाव की कल्पना करना, आध्यात्मिकता का उपहास है। हमारे कुछ मुनि जीव-रक्षा आदि सत्प्रवृत्ति में भी राग-भाव के होने का शोर मचाते हैं। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि आप साधुओं की सामायिक बड़ी है; या गृहस्थ की ? आप मानते हैं कि साधुओं की सामायिक बड़ी है, क्योंकि वह नव कोटि की है और यावज्जीवन की है। इस पर कहना है कि आप अपनी नव कोटि की सर्वोच्च सामायिक में भूख लगने पर आहार के लिए प्रयत्न करते हैं, भोजन लाते हैं और खाते हैं; तब राग-भाव नहीं होता ? रोग होने पर आप शरीर की सार-संभाल करते हैं, औषधि खाते हैं, तब राग-भाव नहीं होता ? शीतकाल में सर्दी लगने पर कंबल ओढ़ते हैं, सर्दी से बचने का प्रयत्न करते हैं, तब राग-भाव नहीं होता ? रात होने पर आराम करते हैं, कई घंटे सोये रहते हैं; तब राग-भाव नहीं होता ? राग भाव होता है, विना किसी स्वार्थ और मोह के किसी जीव को बचाने में ? यह कहाँ का दर्शन-शास्त्र है ? आप कहेंगे कि साधु महाराज की सब प्रवृत्तियाँ निष्काम-भाव से होती हैं, अतः उनमें राग-भाव नहीं होता। मैं कहूँगा कि सामायिक आदि धर्म-क्रिया करते समय अथवा किसी भी अन्य समय, किसी जीव की रक्षा कर देना भी निष्काम प्रवृत्ति है, अतः वह कर्म-निर्जरा का कारण है, पाप का कारण नहीं। किसी भी अनासक्त पवित्र प्रवृत्ति में राग-भाव की कल्पना करना, शास्त्र के प्रति अन्याय है। यदि इसी प्रकार राग-भाव माना जाए, तब तो पाप से कहीं भी छुटकारा नहीं होगा, हम कहीं भी पाप से नहीं

बच सकेंगे। अतः राग का मूल मोह में, आसक्ति में, संसार की वासना में है, जीव रक्षा आदि धर्म-प्रवृत्ति में नहीं। जो सारे चैतन्य जगत् के साथ एकतान हो गया है, अखिल चिद्-विश्व के प्रति निष्काम एवं निष्कपट-भाव से तादात्म्य की अनुभूति करने लग गया है, वह प्राणि-मात्र के दुःख को अनुभव करेगा, उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगा, फिर भी वेलाग रहेगा, राग में नहीं फंसेगा।

आप कह सकते हैं कि साधक की भूमिका साधारण है, अतः वह इतना निःस्पृह एवं निर्मोही नहीं हो सकता कि जीव-रक्षा करे और राग-भाव न रखे। कोई महान् आत्मा ही उस उच्च भूमिका पर पहुंच सकता है, जो दुःखित जीवों की रक्षा करे और वह भी इतने निस्पृह भाव से, एवं कर्तव्य बुद्धि से करे कि उसे किसी भी प्रकार के राग का स्पर्श न हो। परन्तु, साधारण भूमिका का साधक तो राग-भाव से अस्पृष्ट नहीं रह सकता। इसके उत्तर में कहना है कि—"अच्छा आपकी वात ही सही, पर इसमें हानि क्या है? क्योंकि, साधक की आध्यात्मिक दुर्बलता के कारण यदि जीव-दया के समय राग-भाव हो भी जाता है, तो वह पतन का कारण नहीं होता, प्रत्युत पुण्यानुवन्धी पुण्य का कारण होता है। पुण्या-नुवन्धी पुण्य का अर्थ है कि अशुभ कर्म की अधिकांश में निर्जरा होती है और शुभ कर्म का बन्ध होता है। वह शुभ कर्म यहाँ भी सुख-जनक होता है और भविष्य में भी। पुण्यानुवन्धी पुण्य का कर्ता सुख-पूर्वक मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। वह जहाँ भी जाता है, इच्छानुसार ऐश्वर्य प्राप्त करता है और उस ऐश्वर्य को स्वयं भी भोगता है एवं उससे जन-कल्याण भी करता है। जैन-धर्म के तीर्थंकर इसी उच्च पुण्यानुवन्धी पुण्य के भागी हैं। तीर्थंकर नाम गोत्र उत्कृष्ट पुण्य की दशा में प्राप्त होता है। आपको मालूम है, तीर्थंकर नाम गोत्र कैसे बँधता है? अरिहन्त सिद्ध भगवान् का गुणगान करने से, ज्ञान दर्शन की आराधना करने से, सेवा करने से, आदि आदि....। इसका अर्थ तो यह हुआ कि अरिहन्त सिद्ध भगवान् की स्तुति करना भी राग भाव है, ज्ञान एवं दर्शन की आराधना भी राग-भाव है? यदि ऐसा है; तव तो आपके विचार से वह भी अकर्तव्य ही ठहरेगा। यदि यह सब भी अकर्तव्य ही है, फिर साधना के नाम से हमारे पास रहेगा क्या? आप कह सकते

हैं कि अरिहन्त आदि की स्तुति और ज्ञानादि की आराधना यदि निष्काम-भाव से करें, तो हमें सीधा मोक्ष पद प्राप्त होगा। यदि संयोग-वश कभी राग-भाव हो भी जाए तो वह भी तीर्थंकरादि पद का कारण भूत होने से लाभप्रद ही है, हानिप्रद नहीं। इसी प्रकार हम भी कहते हैं कि सामायिक में या किसी भी अन्य दशा में जीव-रक्षा करना मनुष्य का एक कर्तव्य है, उसमें राग कैसा? वह तो कर्म-निर्जरा का मार्ग है। यदि किसी साधक को कुछ राग-भाव आ भी जाए, तब भी कोई हानि नहीं। वह उपर्युक्त दृष्टि से पुण्यानुबन्धी पुण्य का मार्ग है, अतः एकान्त त्याज्य नहीं।

'सावज्ज' का संस्कृत रूप 'सावर्ज्य' भी होता है। सावर्ज्य का अर्थ है—निन्दनीय, निन्दा के योग्य। अतः जो कार्य निन्दनीय हों, निन्दा के योग्य हों, उनका सामायिक में त्याग किया जाता है। सामायिक की साधना, एक अतीव पवित्र निर्मल साधना है। इसमें आत्मा को निन्दनीय कर्मों से बचाकर, अलग रख कर निर्मल किया जाता है! आत्मा को मलिन बनाने वाले, निन्दित करने वाले कषाय भाव हैं, और कोई नहीं। जिन प्रवृत्तियों के मूल में कषाय भाव रहता हो, क्रोध, मान, माया और लोभ का स्पर्श रहता हो, वे सब सावर्ज्य कार्य हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि कर्म-बन्ध का मूल एकमात्र कषाय-भाव में है, अन्यत्र नहीं। ज्यों-ज्यों साधक का कषाय मंद होता है, त्यों-त्यों कर्म-बन्ध भी मन्द होता है, और इसके विपरीत ज्यों-ज्यों कषाय-भाव की तीव्रता होती है, त्यों-त्यों कर्म-बन्ध की भी तीव्रता होती है। जब कषाय भाव का पूर्णतया अभाव हो जाता है, तब साम्परायिक कर्म-बन्ध का भी अभाव हो जाता है। और, जब साम्परायिक कर्म-बन्ध का अभाव होता है, तो साधक झटपट केवलज्ञान एवं केवल-दर्शन की भूमिका पर पहुंच जाता है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करना है कि कौन कार्य निन्दनीय है और कौन नहीं? इसका सीधा-सा उत्तर है कि जिन कार्यों की पृष्ठ-भूमि में कषायभावना रही हुई हो, वे निन्दनीय हैं और जिन कार्यों की पृष्ठ-भूमि में कषायभावना न हो, अथवा प्रशस्त उद्देश्य-पूर्वक अल्प कषाय-भावना हो, तो वे निन्दनीय नहीं हैं। अस्तु, सामायिक में साधक को वह कार्य नहीं करना चाहिए, जो क्रोध, मान, आदि काषायिक परिणति के कारण होता

है। परन्तु जो कार्य समभाव के साधक हों, कषाय-भाव को घटाने वाले हों, वे अरिहन्त सिद्ध की स्तुति, ज्ञान का अभ्यास, गुरु-जनों का सत्कार, ध्यान, जीवदया, सत्य आदि अवश्य करणीय हैं।

प्रस्तुत 'सावर्ज्य' अर्थ पर उन सज्जनों को विचार करना चाहिए, जो सामायिक में जीव-दया के कार्य में पाप बताते हैं। यदि सामायिक के साधक ने किसी ऊँचाई से गिरते हुए अबोध बालक को सावधान कर दिया, किसी अंधे श्रावक के आसन के नीचे दबते हुए जीव को बचा दिया, तो वहाँ निन्दा के योग्य कौन-सा कार्य हुआ? क्रोध, मान, माया और लोभ में से किस कषाय-भाव का वहाँ उदय हुआ? किस कषाय की तीव्र परिणति हुई, जिससे एकान्त पाप-कर्म का बंध हुआ? किसी भी सत्य को समझने के लिए हृदय को निष्पक्ष एवं सरल बनाना ही होगा। जब तक निष्पक्षता के साथ दर्शन-शास्त्र की गम्भीरता में नहीं उतरा जाएगा; तब तक सत्य के दर्शन नहीं हो सकते।

अतः सत्य बात तो यह है कि किसी भी प्रवृत्ति में स्वयं प्रवृत्ति के रूप में पाप नहीं है। पाप है उस प्रवृत्ति की पृष्ठ भूमि में रहने वाले स्वार्थ-भाव में, कषाय-भाव में, राग-द्वेष के दुर्भाव में। यदि यह सब-कुछ नहीं है, साधक के हृदय में पवित्र एवं निर्मल करुणा आदि का ही भाव है, तो फिर किसी भी प्रकार का पाप नहीं है।

काल मर्यादा : दो घड़ी की

*

मूल पाठ में **'जाव नियमं'** है, उससे दो घड़ी का अर्थ कैसे लिया जाता है? 'जाव नियमं' का भाव तो 'जब तक नियम है, तब तक'—ऐसा होता है? इसका फलितार्थ तो यह हुआ कि यदि दश या वीस मिनट आदि की सामायिक करनी हो, तो वह भी की जा सकती है?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि आगम-साहित्य में गृहस्थ की सामायिक के काल का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। आगम में जहाँ कहीं भी सामायिक चारित्र का वर्णन आया है, वहाँ यहीं कहा है कि सामायिक दो प्रकार की है—इत्वरिक और यावत्कथिक।

इत्वरिक अल्पकाल की होती है और यावत्कथिक यावज्जीवन की। परन्तु, प्राचीन आचार्यों ने दो घड़ी का नियम निश्चित कर दिया है। इस निश्चय का कारण काल-सम्बन्धी अव्यवस्था को दूर करना है। दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है, अतः जितनी भी सामायिक करनी हों, उसी हिसाब से 'जावनियमं' के आगे मुहूर्त एक, मुहूर्त दो इत्यादि बोलना चाहिए।

अनुमोदन खुला क्यों ?

*

सामायिक में हिंसा, असत्य आदि पाप-कर्म का त्याग केवल कृत और कारित रूप से ही किया जाता है, अनुमोदन खुला रहता है। यहाँ प्रश्न है कि सामायिक में पाप-कर्म स्वयं करना नहीं और दूसरों से करवाना भी नहीं; परन्तु क्या पाप-कर्म का अनुमोदन किया जा सकता है ? यह तो कुछ उचित नहीं जान पड़ता कि सामायिक में बैठने वाला साधक हिंसा की प्रशंसा करे, असत्य का समर्थन करे, चोरी और व्यभिचार की घटना के लिए वाह-वाह करे, किसी को पिटते-मरते देखकर—'खूब अच्छा किया' कहे, तो यह सामायिक क्या हुई, एक प्रकार का मिथ्याचार ही हो गया !

उत्तर में निवेदन है कि सामायिक में अनुमोदन अवश्य खुला रहता है; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि सामायिक में बैठने वाला साधक पापाचार की प्रशंसा करे, अनुमोदन करे। सामायिक में तो पापाचार के प्रति प्रशंसा का कुछ भी भाव हृदय में न रहना चाहिए। सामायिक में, किसी भी प्रकार का पापाचार हो, न स्वयं करना है, न दूसरों से करवाना है और न करने वालों का अनुमोदन करना है। सामायिक तो अन्तरात्मा में—रमण करने की—लीन होने की साधना है, अतः उसमें पापाचार के समर्थन का क्या स्थान ?

अब यह प्रष्टव्य हो सकता है कि जब सामायिक में पापाचार का समर्थन अनुचित एवं अकरणीय है; तब सावद्य योग का अनुमोदन खुला रहने का क्या तात्पर्य है ? तात्पर्य यह है कि श्रावक गृहस्थ की भूमिका का प्राणी है। उसका एक पांव संसार-मार्ग में है, तो दूसरा मोक्ष-मार्ग में है। वह सांसारिक प्रपंचों का पूर्ण त्यागी नहीं

है। अतएव जब वह सामायिक में बैठता है; तब भी घर-गृहस्थी की ममता का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकता है। हाँ, तो घर पर जो कुछ भी आरंभ-समारंभ होता रहता है, दूकान पर जो कुछ भी कारोबार चला करता है, कारखाने आदि में जो-कुछ भी द्वन्द्व मचता रहता है, उसकी सामायिक करते समय श्रावक प्रशंसा नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है, तो वह सामायिक नहीं है; परन्तु जो वहाँ की ममता का सूक्ष्म तार आत्मा से बँधा रहता है, वह नहीं कट पाता है। अतः सामायिक में अनुमोदन का भाग खुला रहने का यही तात्पर्य है, यही रहस्य है और कुछ नहीं। भगवती-सूत्र में सामायिक-गत ममता का विषय बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया गया है।

आत्मदोषों की निन्दा

*

सामायिक के पाठ में 'निन्दामि' शब्द आता है, उसका अर्थ है—मैं निन्दा करता हूँ। प्रश्न है, किसकी निन्दा? किस प्रकार की निन्दा? निन्दा चाहे अपनी की जाए या दूसरों की, दोनों ही तरह से पाप है। अपनी निन्दा करने से अपने में उत्साह का अभाव होता है, हीनता एवं दीनता का भाव जागृत होता है। आत्मा चिन्ता तथा शोक से व्याकुल होने लगता है, अंतरंग में अपने प्रति द्वेष की भावना भी उत्पन्न होने लगती है। अतः अपनी निन्दा भी कोई धर्म नहीं, पाप ही है। अब रही दूसरों की निन्दा, यह तो प्रत्यक्षतः ही बड़ा भयंकर पाप है। दूसरों से घृणा करना, द्वेष रखना, उन्हें जनता की आंखों में गिराना, उनके हृदय को विक्षुब्ध करना, पाप नहीं तो क्या धर्म है? दूसरों की निन्दा करना, एक प्रकार से उनका मल खाना है। भारतीय साधकों ने दूसरों की निन्दा करने वाले को विष्ठा खाने वाले सूअर की उपमा दी है। हा! कितना जघन्य कार्य है!

उत्तर में कहना है कि यहाँ निन्दा का अभिप्राय न अपनी निन्दा है, और न दूसरों की निन्दा। यहाँ तो पाप की, पापाचरण की, दूषित जीवन की निन्दा करना अभीष्ट है। अपने में जो दुर्गुण हों, दोष हों, उनकी खूब डटकर निन्दा कीजिए। यदि साधक अपने

दोषों को दोष के रूप में न देख सका, भूल को भूल न समझ सका और उसके लिए अपने हृदय में सहज भाव से पश्चात्ताप का अनुभव न कर सका, तो वह साधक ही कैसा ? दोषों की निन्दा, एक प्रकार का पश्चात्ताप है। और पश्चात्ताप, आध्यात्मिक-क्षेत्र में पाप-मल को भस्म करने के लिए एवं आत्मा को शुद्ध निर्मल बनाने के लिए एक अत्यन्त तीव्र अग्नि माना गया है। जिस प्रकार अग्नि में तपकर सोना निखर जाता है, उसी प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि में तपकर साधक की आत्मा भी निखर उठती है, निर्मल हो जाती है। आत्मा में मल कषाय-भाव का ही है, और कुछ नहीं। अतः कषाय-भाव की निन्दा ही यहाँ अपेक्षित है।

सामायिक करते समय साधक विभाव-परिणति से स्वभाव-परिणति में आता है, बाहर से सिमट कर अन्तर में प्रवेश करता है। पाठक जानना चाहेंगे कि स्वभाव परिणति क्या है और विभाव परिणति क्या है ? जब आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य और तप आदि की भावना में ढलता है, तब वह स्वभाव परिणति में ढलता है, अपने-आप में प्रवेश करता है। ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा का अपना ही स्वभाव है, एक प्रकार से आत्मा ज्ञानादि-रूप ही है, अतः ज्ञानादि की उपासना अपनी ही उपासना है, अपने स्वभाव की ही उपासना है। इसे स्वभाव परिणति कहते हैं। जब आत्मा पूर्ण-रूप से स्वभाव में आ जाएगा, अपने-आप में ही समा जाएगा; तभी वह केवल ज्ञान, केवलदर्शन का महाप्रकाश पाएगा, मोक्ष में अजर-अमर बन जाएगा। क्योंकि, सदाकाल के लिए अपने पूर्ण स्वभाव का पा लेना ही तो दार्शनिक भाषा में मोक्ष है !

अब देखिए, विभाव परिणति क्या है ? पानी स्वभावतः शीतल होता है, यह उसकी स्वभाव परिणति है; परन्तु जब वह उष्ण होता है, अग्नि के सम्पर्क से अपने में उष्णता लेता है, तब वह स्वभाव से शीतल होकर भी उष्ण कहा जाता है। उष्णता पानी का स्वभाव नहीं, विभाव है। स्वभाव अपने-आप होता है—विभाव दूसरे के सम्पर्क से। इसी प्रकार आत्मा स्वभावतः क्षमाशील है, विनम्र है, सरल है, संतोषी है; परन्तु कर्मों के सम्पर्क से क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी बना हुआ है। अस्तु जब आत्मा कषाय के साथ एकरूप होता है, तब वह स्व-भाव में न रह कर विभाव

में रहता है, पर-भाव में रहता है। विभाव परिणति का नाम दार्शनिक भाषा में संसार है। अब पाठक अच्छी तरह से समझ सकते हैं कि निन्दा किसकी करनी चाहिए? सामायिक में निन्दा विभाव परिणति की है। जो अपना नहीं है, प्रत्युत अपना विरोधी है, फिर भी अपने पर अधिकार कर बैठा है, उस कषाय-भाव की जितनी भी निन्दा की जाए, उतनी ही थोड़ी है।

जब किसी वस्त्र पर या शरीर पर मल लग जाए, तो क्या उसे बुरा नहीं समझना चाहिए, उसे धोकर साफ नहीं करना चाहिए? कोई भी सभ्य मनुष्य मल की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार सच्चा साधक भी दोष-रूप मल की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह जब भी ज्यों ही कोई दोष देखता है; झटपट उसकी निन्दा करता है, उसे धोकर साफ करता है। आत्मा पर लगे दोषों के मल को धोने के लिए निन्दा एक अचूक साधन है। भगवान् महावीर ने कहा है—"आत्म-दोषों की निन्दा करने से पश्चात्ताप का भाव जाग्रत होता है, पश्चात्ताप के द्वारा विषय-वासना के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न होता है, ज्यों-ज्यों वैराग्य-भाव का विकास होता है, त्यों-त्यों साधक सदाचार की गुण श्रेणियों पर आरोहण करता है, और ज्यों ही गुण श्रेणियों पर आरोहण करता है, त्यों ही मोहनीय कर्म का नाश करने में समर्थ हो जाता है। मोहनीय कर्म का नाश होते ही आत्मा शुद्ध, बुद्ध, परमात्म-दशा पर पहुँच जाता है।"

निन्दा शोक न बने

*

हाँ, आत्म-निन्दा करते समय एक बात पर अवश्य लक्ष्य रखना चाहिए। वह यह कि निन्दा केवल पश्चात्ताप तक ही सीमित रहे, दोषों एवं विषय-वासना के प्रति विरक्त-भाव जाग्रत करने तक ही अपेक्षित रहे। ऐसा न हो कि निन्दा पश्चात्ताप की मंगल सीमा को लांघकर शोक के क्षेत्र में पहुँच जाए। जब निन्दा शोक का रूप पकड़ लेती है, तो वह साधक के लिए बड़ी भयंकर चीज हो जाती है। पश्चात्ताप आत्मा को सबल बनाता है और शोक निर्बल! शोक में साहस का अभाव है, कर्तव्य-बुद्धि का शून्यत्व है। कर्तव्य-विमूढ़ साधक जीवन की समस्याओं को कदापि

नहीं सुलझा सकता। न वह भौतिक जगत में क्रांति कर सकता है और न आध्यात्मिक जगत् में ही। किसी भी वस्तु का विवेक-शून्य अतिरेक जीवन के लिए घातक ही होता है।

गर्हा : गुरु की साक्षी

*

आत्म-दर्शन के जिज्ञासु साधक को निन्दा के साथ गर्हा का भी उपयोग करना चाहिए। इसीलिए सामायिक-सूत्र में 'निन्दामि' के पश्चात् 'गरिहामि' का भी प्रयोग किया है। जैन-दर्शन की ओर से साधना-क्षेत्र में आत्म-शोधन के लिए गर्हा की महाति-महान् अनुपम भेंट है। साधारण लोग निन्दा और गर्हा को एक ही समझते हैं। परन्तु, जैन-साहित्य में दोनों का अन्तर पूर्ण रूप से स्पष्ट है। जब साधक एकान्त में बैठकर दूसरों को सुनाए बिना अपने पापों की आलोचना करता है, पश्चात्ताप करता है, वह निन्दा है, और जब वह गुरुदेव की साक्षी से अथवा किसी दूसरे की साक्षी से प्रकट रूप में अपने पापाचरणों को धिक्कारता है, मन, वचन, और शरीर तीनों को पश्चात्ताप की धधकती आग में झोंक देता है, प्रतिष्ठा के झूठे अभिमान को त्याग कर पूर्ण सरल-भाव से जनता के समक्ष अपने हृदय की गांठों को खोल कर रख छोड़ता है, उसे गर्हा कहते हैं। प्रतिक्रमण-सूत्र के टीकाकार आचार्य नमि इसी भाव को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

> निन्दामि जुगुप्सामीत्यर्थः। गर्हामीति च स एवार्थः, किन्तु आत्म-साक्षिकी निन्दा, गुरुसाक्षिकी गर्हेति, 'परसाक्षिकी गर्ह' ति वचनात्।
>
> —प्रतिक्रमणसूत्र पदविवृत्तिः, सामायिक-सूत्र

गर्हा जीवन को पवित्र बनाने की एक बहुत ऊँची अनमोल साधना है। निन्दा की अपेक्षा गर्हा के लिए अधिक आत्म-बल अपेक्षित है। मनुष्य अपने-आपको स्वयं धिक्कार सकता है; परन्तु दूसरों के सामने अपने को आचरण-हीन, दोषी और पापी बताना बड़ा ही कठिन कार्य है। संसार में प्रतिष्ठा का भूत बहुत बड़ा है। हजारों आदमी प्रति वर्ष अपने गुप्त दुराचार के प्रकट होने के कारण होने वाली अप्रतिष्ठा से घबरा कर जहर खा लेते हैं,

पानी में डूब मरते हैं; येन केन प्रकारेण आत्म-हत्या कर लेते हैं। अप्रतिष्ठा बड़ी भयंकर चीज है। महान् तेजस्वी एवं आत्म-शोधक इने-गिने साधक ही इस खंदक को लांघ पाते हैं। मनुष्य अन्दर के पापों को झाड़-बुहार कर मुख द्वार पर लाता है, बाहर फेंकना चाहता है; परन्तु ज्योंही अप्रतिष्ठा की ओर दृष्टि जाती है, त्यों ही चुपचाप उस कूड़े को फिर अन्दर की ओर ही डाल लेता है, बाहर नहीं फेंक पाता। गर्हा दुर्बल साधक के वस की बात नहीं है। इसके लिए अन्तरंग की विशाल शक्ति चाहिए। फिर भी, एक बात है, ज्यों ही वह शक्ति आती है, पापों का गंदा मल घुलकर साफ हो जाता है। गर्हा करने के बाद पापों को सदा के लिए विदाई ले लेनी होती है। गर्हा का उद्देश्य भविष्य में पापों का न करना है।

—'पावाणं कम्माणं अकरणयाए'

भगवान् महावीर के संयम-मार्ग में जीवन को छुपाए रखने जैसी किसी बात को स्थान ही नहीं है। यहाँ तो जो है, वह स्पष्ट है, सब के सामने है, भीतर और बाहर एक है, दो नहीं। यदि कहीं वस्त्र और शरीर पर गंदगी लग जाए, तो क्या उसे छुपाकर रखना चाहिए? सब के सामने धोने में लज्जा आनी चाहिए? नहीं, गन्दगी आखिर गन्दगी है, वह छुपाकर रखने के लिए नहीं है। वह तो झटपट धोकर साफ करने के लिए है। यह तो जनता के लिए स्वच्छ और पवित्र रहने का एक जीवित-जाग्रत निर्देश है, इसमें लज्जा किस बात की? गर्हा भी आत्मा पर लगे दोषों को साफ करने के लिए है। उसके लिए लज्जा और संकोच का क्या प्रतिबन्ध? प्रत्युत हृदय में स्वाभिमान की यह ज्वाला प्रदीप्त रहनी चाहिए कि "हम अपनी गन्दगी को धोकर साफ करते हैं, छुपाकर नहीं रखते।" जहाँ छुपाव है, वहीं जीवन का नाश है!

दूषित आत्मा का त्याग

*

सामायिक प्रतिज्ञा-सूत्र का अन्तिम वाक्य **'अप्पाणं वोसिरामि'** है। इसका अर्थ संक्षेप में—आत्मा को, अपने-आपको त्यागना है,

छोड़ना है। प्रश्न है, आत्मा को कैसे त्यागना ? क्या कभी आत्मा भी त्यागी जा सकती है ? यदि आत्मा को ही त्याग दिया, तो फिर रहा क्या ? उत्तर में निवेदन है कि यहाँ आत्मा से अभिप्राय अपने पहले के जीवन से है। पाप-कर्म से दूषित हुए पूर्व जीवन को त्यागना ही, आत्मा को त्यागना है। आचार्य नमि कहते हैं—

"आत्मानम्=अतीत सावद्ययोग-कारिणम्=अश्लाघ्यं'''व्युत्सृजामि"

—प्रतिक्रमणसूत्र पदविवृत्ति, सामायिक-सूत्र

देखिए, जैन तत्त्व-मीमांसा की कितनी ऊँची उड़ान है ! कितनी भव्य कल्पना है ! पुराने सड़े-गले दूषित जीवन को त्याग कर स्वच्छ एवं पवित्र नये जीवन को अपनाने का, कितना महान् आदर्श है ! भगवान् महावीर का कहना है कि "सामायिक केवल वेश बदलने की साधना नहीं है। यह तो जीवन बदलने की साधना है।" अतः साधक को चाहिए कि जब वह सामायिक के आसन पर पहुँचे, तो पहले अपने मन को संसार की वासनाओं से खाली कर दें, पुराने दूषित संस्कारों को त्याग दे, पहले के पापा-चरण-रूप कुत्सित जीवन के भार को फेंक कर बिल्कुल नया आध्यात्मिक जीवन ग्रहण कर ले। सामायिक करने से पहले—आध्यात्मिक पुनर्जन्म पाने से पहले, भोग-बुद्धि-मूलक पूर्व जीवन की मृत्यु आवश्यक है। सामायिक की साधना के समय में भी यदि पुराने विकारों को ढोते रहे, तो क्या लाभ ? दूषित और दुर्गन्धित मलिन-पात्र में डाला हुआ शुद्ध दूध भी अशुद्ध हो जाता है। यह है जैन-दर्शन का गंभीर अन्तर्हृदय, जो 'अप्पाणं वोसिरामि' शब्द के द्वारा ध्वनित हो रहा है।

सामायिक-सूत्र का प्राण प्रस्तुत प्रतिज्ञा-सूत्र ही है। अतएव इस पर काफी विस्तार के साथ लिखा है, और इतना लिखना आवश्यक भी था। अब उपसंहार में केवल इतना ही निवेदन है कि यह सामायिक एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यायाम है। व्यायाम भले ही थोड़ी देर के लिए हो, दो घड़ी के लिए ही हो, परन्तु उसका प्रभाव और लाभ स्थायी होता है। जिस प्रकार मनुष्य प्रातःकाल उठते ही कुछ देर व्यायाम करता है, और उसके

फलस्वरूप दिन-भर शरीर की स्फूर्ति एवं शक्ति बनी रहती है; उसी प्रकार सामायिक-रूप आध्यात्मिक व्यायाम भी साधक की दिन-भर की प्रवृत्तियों में मन की स्फूर्ति एवं शुद्धि को बनाए रखता है। सामायिक का उद्देश्य केवल दो घड़ी के लिए नहीं है, प्रत्युत जीवन के लिए है। सामायिक में दो घड़ी बैठकर आप अपना आदर्श स्थिर करते हैं, बाह्य-भाव से हटकर स्वभाव में रमण करने की कला अपनाते हैं। सामायिक का अर्थ ही है—आत्मा के साथ अर्थात् अपने-आपके साथ एकरूप हो जाना, समभाव ग्रहण कर लेना, राग-द्वेष को छोड़ देना। आचार्य पूज्यपाद तत्त्वार्थ-सूत्र की अपनी टीका में कहते हैं—

'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्-यथा सङ्गतं घृतं सङ्गतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन, अयनं=गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।

—सर्वार्थ सिद्धि ७/२१

हाँ, तो अपनी आत्मा के साथ एकरूपता केवल दो घड़ी के लिए ही नहीं, जीवन-भर के लिए प्राप्त करना है। राग-द्वेष का त्याग दो घड़ी के लिए कर देने-भर से काम नहीं चलेगा, इन्हें तो जीवन के हर क्षेत्र से सदा के लिए खदेड़ना होगा। सामायिक जीवन के समस्त सद्गुणों की आधार-भूमि है। आधार यों ही मामूली-सा संक्षिप्त नहीं, विस्तृत होना चाहिए। साधना के दृष्टिकोण को सीमित रखना, महापाप है। साधना तो जीवन के लिए है, फलतः जीवन-भर के लिए है, प्रतिक्षण, प्रतिपल के लिए है। देखना, सावधान रहना! साधना की वीणा का अमर स्वर कभी बन्द न होने पाए, मन्द न होने पाए! सच्चा सुख विस्तार में है, प्रगति में है, सातत्य में है, अन्यत्र नहीं—

'यो वै भूमा तत्सुखम्'

* *

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्थुणं अरिहंताणं, भगवंताणं ॥ १ ॥
आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं ॥ २ ॥
पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं, पुरिस-वर-पुंड-
रीयाणं, पुरिसवर-गंधहत्थीणं ॥ ३ ॥
लोगुत्तमाणं, लोग—नाहाणं,
लोग-हियाणं, लोग-पईवाणं,
लोग-पज्जोयगराणं ॥ ४ ॥
अभयदयाणं चक्खुदयाणं,
मग्गदयाणं, सरणदयाणं,
जीव-दयाणं, बोहिदयाणं ॥ ५ ॥
धम्मदयाणं, धम्म-देसयाणं, धम्मनायगाणं,
धम्म-सारहीणं, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं ॥ ६ ॥
(दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा)
अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं,
विअट्ट-छउमाणं ॥ ७ ॥
जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाणं,
बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं ॥ ८ ॥
सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं, सिवमयलमरुय-
मणंतमक्खयमव्वावाहमपुणराविति सिद्धि-
गइ—नामधेयं ठाणं संपत्ताणं,
नमो जिणाणं जियभयाणं ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नमोत्थुणं=नमस्कार हो
अरिहन्ताणं=अरिहन्त
भगवंताणं=भगवान् को
[भगवान् कैसे हैं ?]
आइगराणं=धर्म की आदि करने वाले
तित्थयराणं=धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले
सयं=स्वयं ही
संबुद्धाणं=सम्यग्बोध को पाने वाले
पुरिसुत्तमाणं=पुरुषों में श्रेष्ठ
पुरिससीहाणं=पुरुषों में सिंह
पुरिसवरगंधहत्थीणं=पुरुषों में श्रेष्ठ गंधहस्ती
लोगुत्तमाणं=लोक में उत्तम
लोगनाहाणं=लोक के नाथ
लोगहियाणं=लोक के हितकारी
लोगपईवाणं=लोक में दीपक
लोगपज्जोयगराणं=लोक में उद्द्योत करने वाले
अभयदयाणं=अभय देने वाले
चक्खुदयाणं=नेत्र देने वाले
मग्गदयाणं=धर्म मार्ग के दाता
सरणदयाणं=शरण के दाता
जीवदयाणं=जीवन के दाता
बोहिदयाणं=बोधि=सम्यक्त्व के दाता
धम्मदयाणं=धर्म के दाता
धम्मदेसयाणं=धर्म के उपदेशक
धम्मनायगाणं=धर्म के नायक
धम्मसारहीणं=धर्म के सारथि
धम्मवर=धर्म के श्रेष्ठ
चाउरंत=चार गति का अन्त करने वाले
चक्कवट्टीणं=चक्रवर्ती

अप्पडिहय=अप्रतिहत तथा
वर-नाणदंसण=श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के
धराणं=धर्ता
विअट्टछउमाणं=छद्म से रहित
जिणाणं=राग द्वेष के विजेता
जावयाणं=औरों के जिताने वाले
तिन्नाणं=स्वयं तरे हुए
तारयाणं=दूसरों को तारने वाले
बुद्धाणं=स्वयं बोध को प्राप्त
बोहयाणं=दूसरों को बोध देने वाले
मुत्ताणं=स्वयं मुक्त
मोयगाणं=दूसरों को मुक्त कराने वाले
सव्वन्नूणं=सर्वज्ञ
सव्वदरिसीणं=सर्वदर्शी, तथा
सिवं=उपद्रवरहित
अयलं=अचल, स्थिर
अरुयं=रोग रहित
अणंतं=अन्त रहित
अक्खयं=अक्षत
अव्वाबाहं=बाधा रहित
अपुणरावित्ति=पुनरागमन से रहित (ऐसे)
सिद्धिगइ=सिद्धि गति
नामधेयं=नामक
ठाणं=स्थान को
संपत्ताणं=प्राप्त करने वाले
नमो=नमस्कार हो
जियभयाणं=भय के जीतने वाले
जिणाणं=जिन भगवान् को

भावार्थ

श्री अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो। [अरिहन्त भगवान् कैसे हैं ?] धर्म की आदि करने वाले हैं, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, अपने-आप प्रबुद्ध हुए हैं।

पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह हैं, पुरुषों में पुण्डरीक कमल हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती हैं। लोक में उत्तम हैं, लोक के नाथ हैं, लोक के हितकर्ता हैं, लोक में दीपक हैं, लोक में उद्द्योत करने वाले हैं।

अभय देने वाले हैं, ज्ञानरूप नेत्र के देने वाले हैं, धर्म मार्ग के देने वाले हैं, शरण के देने वाले हैं, संयमजीवन के देने वाले हैं, बोधि—सम्यक्त्व के देने वाले हैं, धर्म के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी—संचालक हैं।

चार गति के अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं, अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ ज्ञानदर्शन के धारण करने वाले हैं, ज्ञानावरण आदि घाति कर्म से अथवा प्रमाद से रहित हैं।

स्वयं रागद्वेष के जीतने वाले हैं, दूसरों को जिताने वाले हैं, स्वयं संसार-सागर से तर गए हैं, दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त कराने वाले हैं।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। तथा शिव-कल्याणरूप अचल-स्थिर, अरुज--रोगरहित, अनन्त—अन्तरहित, अक्षय—क्षयरहित, अव्याबाध—बाधा-पीड़ा से रहित, अपुनरावृत्ति—पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित सिद्धि-गति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय को जीतने वाले हैं, रागद्वेष को जीतने वाले हैं—उन जिन भगवानों को मेरा नमस्कार हो।

विवेचन

जैन-धर्म की साधना अध्यात्म-साधना है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में चलिए, किसी भी क्षेत्र में काम करिए, जैन-धर्म आध्यात्मिक जीवन की महत्ता को भुला नहीं सकता। प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे जीवन में पवित्रता का, उच्चता का और अखिल

विश्व की कल्याण भावना का मंगल स्वर झंकृत रहना चाहिए। जहाँ यह स्वर मन्द पड़ा कि साधक पतनोन्मुख हो जाएगा, जीवन के महान् आदर्श भुला बैठेगा, संसार की अँधेरी गलियों में भटकने लगेगा।

भक्ति, ज्ञान एवं कर्मयोग का समन्वय

*

मानव-हृदय में अध्यात्म साधना को बद्धमूल करने के लिए उसे सुदृढ़ एवं सबल बनाने के लिए भारतवर्ष की दार्शनिक चिन्तन-धारा ने तीन मार्ग बतलाए हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। वैदिक-धर्म की शाखाओं में इनके सम्बन्ध में काफी मतभेद उपलब्ध हैं। वैदिक विचारधारा के कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं, जो भक्ति को ही सर्वोत्तम मानते हैं। वे कहते हैं—"मनुष्य एक बहुत पामर प्राणी है। वह ज्ञान और कर्म की क्या आराधना कर सकता है? उसे तो अपने-आप को प्रभु के चरणों में सर्वतोभावेन अर्पण कर देना चाहिए। दयालु प्रभु ही, उसकी संसार-सागर में फंसी हुई नैया को पार कर सकते हैं, और कोई नहीं। ज्ञान और कर्म भी प्रभु की कृपा से ही मिल सकते हैं। स्वयं मनुष्य चाहे कि मैं कुछ करूं, सर्वथा असम्भव है!"

भक्ति-योग की इस विचार-धारा में कर्तव्य के प्रति उपेक्षा का भाव छुपा है। मनुष्य की महत्ता के और आचरण की पवित्रता के दर्शन, इन विचारों में नहीं होते। अपने पुत्र नारायण का नाम लेने मात्र से अजामिल को स्वर्ग मिल जाता है, अपने तोते को पढ़ाने के समय लिए जाने वाले राम नाम से वेश्या का उद्धार हो जाता है, और न मालूम कौन क्या-क्या हो जाता है! वैदिक संप्रदाय के इस भक्ति-साहित्य ने आचरण का मूल्य बिल्कुल कम कर दिया है। नाम लो, केवल नाम और कुछ नहीं! केवल नाम लेने मात्र से जहाँ बेड़ा पार होता हो, वहाँ व्यर्थ ही कोई क्यों ज्ञान और आचरण के कठोर क्षेत्र में उतरेगा?

वैदिक-धर्म के कुछ संप्रदाय केवल ज्ञान-योग की ही पूजा करने वाले हैं। वेदान्त इस विचार-धारा का प्रमुख पक्षपाती है। वह कहता है—'संसार और संसार के दुःख मात्र भ्रान्ति हैं, वस्तुतः नहीं। लोग

व्यर्थ ही तप-जप की साधनाओं में लगते हैं और कष्ट झेलते हैं। भ्रान्ति का नाश तप-जप आदि से नहीं होता है, वह होता है ज्ञान से। ज्ञान से बढ़ कर जीवन की पवित्रता का कोई दूसरा साधन ही नहीं है—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

—गीता ४।३८

अपने-आप को शुद्ध आत्मा समझो, परब्रह्म समझो, बस, बेड़ा पार है। और क्या चाहिए ! जीवन में करना क्या है, केवल जानना है। ज्यों ही सत्य के दर्शन हुए, आत्मा बन्धनों से स्वतन्त्र हुआ।"

वेदान्त की इस धारणा के पीछे भी कर्म की और भक्ति की उपेक्षा रही हुई है। जीवन-निर्माण के लिए एकान्त ज्ञानयोग के पास कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं है। वेदान्त बौद्धिक व्यायाम पर आवश्यकता से अधिक भार देता है। मिसरी के लिए जहाँ उसका ज्ञान आवश्यक है, वहाँ उसका मुँह में डाला जाना भी तो आवश्यक है ! **'ज्ञानं भारः क्रियां विना'** के सिद्धान्त को वेदान्त भूल जाता है।

कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी हैं, जो केवल कर्मकाण्ड के ही पुजारी हैं। भक्ति और ज्ञान का मूल्य, इनके यहाँ कुछ भी नहीं है। मात्र कर्म करना, यज्ञ करना, तप करना, पञ्चाग्नि आदि तप-साधना के द्वारा शरीर को नष्ट-भ्रष्ट कर देना ही, इनका विशिष्ट मार्ग है। इस मार्ग में न हृदय की पूछ है और न मस्तिष्क की ! शुष्क शारीरिक जड़ क्रियाकाण्ड ही, इनके दृष्टिकोण में सर्वेसर्वा है। प्राचीनकाल के मीमांसक और आजकल के हठयोगी साधु, इस विचार-धारा के प्रमुख समर्थक हैं। ये लोग भूल जाते हैं कि जब तक मनुष्य के हृदय में भक्ति और श्रद्धा की भावना न हो, ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश न हो, उचित और अनुचित का विवेक न हो; तब तक केवल कर्म-काण्ड क्या अच्छा परिणाम ला सकता है ? बिना आँखों के दौड़ने वाला अन्धा अपने लक्ष्य पर कैसे पहुँच सकेगा ? जरा समझने की बात है ! जिस शरीर से दिल और दिमाग निकाल दिए जाएँ, वहाँ क्या शेष रहेगा ? बिना ज्ञान के कर्म अन्धा है, और बिना भक्ति के कर्म निर्जीव एवं निष्प्राण !

अतएव जैन-धर्म विभिन्न मत-भेदों पर न चलकर समन्वय के

मार्ग पर चलता है। वह किसी भी क्षेत्र में एकान्त वाद को स्थान नहीं देता। जैन-धर्म में जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अनेकान्तवाद के उज्ज्वल आलोक से आलोकित रहता है। यही कारण है कि वह प्रस्तुत योगत्रय में भी किसी एक योग का पक्ष न लेकर तीनों की समष्टि का पक्ष करता है। वह कहता है—"आध्यात्मिक जीवन की साधना न अकेले भक्तियोग पर निर्भर है, न अकेले ज्ञानयोग पर, और न कर्मयोग पर ही। साधना की गाड़ी तीनों के समन्वय से ही चलती है। भक्तियोग से हृदय में श्रद्धा का बल पैदा करो! ज्ञानयोग से सत्यासत्य के विवेक का प्रकाश लो! और कर्मयोग से शुष्क एवं मिथ्या कर्मकाण्ड की दलदल में न फँसकर अहिंसा, सत्य आदि के आचरण का सत्पथ ग्रहण करो! तीनों का यथायोग्य उचित मात्रा में समन्वय ही साधना को सबल तथा सुदृढ़ बना सकता है।"

भक्ति का सम्बन्ध व्यवहारतः हृदय से है, अतः वह श्रद्धारूप है, विश्वासरूप है, और भावनारूप है। जब साधक के हृदय से श्रद्धा का उन्मुक्त वेगशाली प्रवाह बहता है, तो साधना का कण-कण प्रभु के प्रेमरस से परिप्लुत हो जाता है। भक्त-साधक ज्यों-ज्यों प्रभु का स्मरण करता है, प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु की स्तुति करता है, त्यों-त्यों श्रद्धा का बल अधिकाधिक पुष्ट होता है, आचरण का उत्साह जागृत हो जाता है। साधना के क्षेत्र में भक्त, भगवान् और भक्ति की त्रिपुटी का बहुत बड़ा महत्त्व है।

ज्ञान योग, विवेक-बुद्धि को प्रकाशित करने वाला प्रकाश है। साधक कितना ही बड़ा भक्त हो, भावुक हो, यदि वह ज्ञान नहीं रखता है, उचित-अनुचित का भान नहीं रखता है, तो कुछ भी नहीं है। आज जो भक्ति के नाम पर हजारों मिथ्या विश्वास फैले हुए हैं, वे सब ज्ञानयोग के अभाव में ही वद्धमूल हुए हैं। भक्त के क्या कर्तव्य हैं, भक्ति का वास्तविक क्या स्वरूप है, आराध्य देव भगवान् कैसा होना चाहिए, इन सब प्रश्नों का उचित एवं उपयुक्त उत्तर ज्ञानयोग के द्वारा हीं मिल सकता है। साधक के लिए बन्ध के कारणों का तथा मोक्ष और मोक्ष के कारणों का ज्ञान भी अतीव आवश्यक है। और यह ज्ञान भी ज्ञान-योग की साधना के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

कर्मयोग का अर्थ सदाचार है। सदाचार के अभाव में मनुष्य का

सांस्कृतिक स्तर नीचा 'हो 'जाता है। वह आहार, निद्रा, भय और मैथुन-जैसी पाशविक भोग-बुद्धि में ही फँसा रहता है। आशा और तृष्णा के चाकचिक्य से चुँधिया जाने वाला साधक, जीवन में न अपना हित कर सकता है और न दूसरों का। भोग-बुद्धि और कर्त्तव्य-बुद्धि का आपस में भयंकर विरोध है। अतः दुराचार का परिहार और सदाचार का स्वीकार ही आध्यात्मिक जीवन का मूल-मंत्र है। और इस मंत्र की शिक्षा के लिए कर्म-योग की साधना अपेक्षित है।

श्रद्धा, विवेक एवं सदाचार

*

जैन-दर्शन की अपनी मूल परिभाषा में उक्त तीनों को सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नाम से कहा गया है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष-मार्गः।'

—तत्त्वार्थ सूत्र १।१

अर्थात् सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही मोक्ष-मार्ग है। 'मोक्ष-मार्गः' यह जो एक वचनान्त प्रयोग है, वह यही ध्वनित करता है कि उक्त तीनों मिल कर ही मोक्ष का मार्ग हैं, कोई-सा एक या दो नहीं। अन्यथा 'मार्गः' न कह कर 'मार्गाः' कहा जाता, बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया जाता।

यह ठीक है कि अपने-अपने स्थान पर तीनों ही प्रधान हैं, कोई एक मुख्य और गौण नहीं। परन्तु, मानस-शास्त्र की दृष्टि से एवं आगमों के अनुशीलन से यह तो कहना ही होगा कि आध्यात्मिक साधना की यात्रा में भक्ति का स्थान कुछ पहले है। यहीं से श्रद्धा की विमल गंगा आगे के दोनों योग क्षेत्रों को प्लावित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करती है। भक्ति-शून्य नीरस हृदय में ज्ञान और कर्म के कल्पवृक्ष कभी नहीं पनप सकते। यही कारण है कि सामायिक-सूत्र में सर्वप्रथम नवकार मन्त्र का उल्लेख आया है, उसके बाद सम्यक्त्व-सूत्र, गुरु-गुण स्मरण-सूत्र और गुरु-वन्दन-सूत्र का पाठ है। भक्ति की वेगवती धारा यहीं तक समाप्त नहीं हुई। आगे चलकर एक बार ध्यान में तो दूसरी बार प्रकट रूप से चतुर्विंशति-स्तव-सूत्र यानी लोगस्स के पढ़ने का मंगल विधान है। 'लोगस्स' भक्तियोग

का एक बहुत सुन्दर एवं मनोरम रेखाचित्र है। आराध्य देव के श्री चरणां में अपने भावुक हृदय की समग्र श्रद्धा अर्पण कर देना, एवं उनके वताए मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प रखना ही तो भक्ति है। और यह 'लोगस्स' के पाठ में हर कोई श्रद्धालु भक्त सहज ही पा सकता है। 'लोगस्स' के पाठ से पवित्र हुई हृदय-भूमि में ही सामायिक का वीजारोपण किया जाता है। पूर्ण संयम का महान् कल्पवृक्ष इसी सामायिक के सूक्ष्म वीज में छुपा हुआ है। यदि यह बीज सुरक्षित रहे, क्रमशः अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होता रहे, तो एक दिन अवश्य ही मोक्ष का अमृत फल प्रदान करेगा। हाँ, तो सामायिक के इस अमृत वीज को सींचने के लिए, उसे बद्ध मूल करने के लिए, अन्त में पुनः भक्तियोग का अवलम्बन लिया जाता है, 'नमोत्थुणं' का पाठ पढ़ा जाता है।

'नमोत्थुण'' में तीर्थंकर भगवान् की स्तुति की गई है! तीर्थंकर भगवान् , राग और द्वेप पर पूर्ण विजय प्राप्त कर समभाव-स्वरूप सामायिक के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए महापुरुष हैं। अतः उनकी स्तुति, सामायिक की सफलता के लिए साधक को अधिक-से-अधिक आत्म-शक्ति प्रदान करती है, अध्यात्म-भावना का वल वढ़ाती है।

प्रभावशाली पाठ

*

'नमोत्थूणं' एक महान् प्रभावशाली पाठ है। अतः दूसरे प्रचलित साधारण स्तुति-पाठों की अपेक्षा 'नमोत्थुणं' की अपनी एक अलग ही विशेषता है। वह यह है कि भक्ति में हृदय प्रधान रहता है, और मस्तिष्क गौण। फलतः कभी-कभी मस्तिष्क की अर्थात् चिन्तन की मर्यादा से अधिक गौणता हो जाने के कारण अन्तिम परिणाम यह आता है कि भक्ति वास्तविक भक्ति न रह कर अन्ध-भक्ति हो जाती है, सत्याभिमुखी न रह कर मिथ्याभिमुखी हो जाती है। संसार के धार्मिक इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जान सकता है कि जव मानव-समाज अन्ध-भक्ति की दल-दल में फंस कर विवेक-शून्य हो जाता है, तब वह आराध्य देव के गुणावगुणों के परिज्ञान की ओर से धीरे-धीरे लापरवाह होने लगता है, फलतः

देव-भक्ति के पवित्र क्षेत्र में देवमूढ़ता को हृदय-सिंहासन पर बिठा लेता है। आज संसार में जो अनेक प्रकार के कामी, क्रोधी, अहंकारी, रागी, द्वेषी, विलासी देवताओं का जाल विछा हुआ है, काली और भैरव आदि देवताओं के समक्ष जो दीन, मूक पशुओं का हत्याकांड रचा जा रहा है, वह सब इसी अन्ध-भक्ति और देव-मूढ़ता का कुफल है। भक्ति के आवेश में होने वाले इसी बौद्धिक पतन को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत शक्रस्तव-सूत्र में—'नमोत्थुणं' में तीर्थंकर भगवान् के विश्व-हितंकर निर्मल आदर्श गुणों का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया गया है। तीर्थंकर भगवान् की स्तुति भी हो, और साथ-साथ उनके महामहिम सद्गुणों का वर्णन भी हो, यही 'नमोत्थुणं-सूत्र' की विशेषता है। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' की लोकोक्ति यहाँ पूर्णतया चरितार्थ हो जाती है। सूत्रकार ने 'नमोत्थुणं' में भगवान् के जिन अनुपम गुणों का मंगलगान किया है, उन में प्रत्येक गुण इतना विशिष्ट है, इतना प्रभावक है कि जिसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता। भक्त के सच्चे उत्फुल्ल हृदय से आप प्रत्येक गुण पर विचार कीजिए, चिन्तन कीजिए, मनन कीजिए, आप को एक-एक अक्षर में, एक-एक मात्रा में अलौकिक चमत्कार भरा नजर आएगा। 'गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु, न च लिंगं न च वयः' [गुण ही पूजा का कारण है, वेश या आयु नहीं]—का महान् दार्शनिक घोष, यदि आप अक्षर-अक्षर में से—मात्रा-मात्रा में से ध्वनित होता हुआ सुनना चाहते हैं, तो अधिक नहीं, केवल 'नमोत्थुणं' का ही भावना-भरे हृदय से पाठ कीजिए। आपको इसी में सब-कुछ मिल जाएगा।

अरिहन्त : स्वरूप और परिभाषा

भगवान्—वीतराग देव अरिहन्त होते हैं। अरिहन्त हुए विना वीतरागता हो ही नहीं सकती। दोनों में कार्य-कारण का अटूट सम्बन्ध है। अरिहन्तता कारण है, तो वीतरागता उसका कार्य है! जैन-धर्म विजय का धर्म है, पराजय का नहीं। शत्रुओं को जड़ मूल से नष्ट करने वाला धर्म है, उसकी गुलामी करने वाला नहीं। यही कारण है कि सम्पूर्ण जैन-साहित्य अरिहन्त और जिनके मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है, और अन्त में इनसे ही समाप्त

होता है। जैन-धर्म का मूल मन्त्र नवकार है, उसमें भी सर्व-प्रथम 'नमो-अरिहंताणं' है। जैन-धर्म की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है, उसके प्रतिज्ञा-सूत्र में भी सर्व-प्रथम 'अरिहन्तो मह देवो' है। अतएव प्रस्तुत 'नमोत्थुणं' सूत्र का प्रारम्भ भी 'नमोत्थुणं अरिहंताणं' से ही हुआ है। जैन-संस्कृति और जैन विचार-धारा का मूल अरिहन्त ही है। जैन-धर्म को समझने के लिए अरिहन्त शब्द का समझना, अत्यावश्यक है।

अरिहन्त का अर्थ है—'शत्रुओं को हनन करने वाला।' आप प्रश्न कर सकते हैं कि यह भी कोई धार्मिक आदर्श है? अपने शत्रुओं को नष्ट करने वाले हजारों क्षत्रिय हैं, हजारों राजा हैं, क्या वे वन्दनीय हैं? गीता में श्रीकृष्ण के लिए भी 'अरिसूदन' शब्द आता हैं, उसका अर्थ भी शत्रुओं का नाश करने वाला ही है। श्रीकृष्ण ने कंस, शिशुपाल, जरासन्ध आदि शत्रुओं का नाश किया भी है। अतः क्या वे भी अरिहन्त हुए, जैन संस्कृति के आदर्श देव हुए? उत्तर में निवेदन है कि यहाँ अरिहन्त से अभिप्राय, बाह्य शत्रुओं को हनन करना नहीं है, प्रत्युत अन्तरंग काम-क्रोधादि शत्रुओं को हनन करना है। बाहर के शत्रुओं को हनन करने वाले हजारों वीर क्षत्रिय मिल सकते हैं. भयङ्कर सिंहों और बाघों को मृत्यु के घाट उतारने वाले भी मिलते हैं; परन्तु अपने अन्दर में ही रहे हुए कामादि शत्रुओं को हनन करने वाले सच्चे आध्यात्म-क्षेत्र के क्षत्रिय बिरले ही मिलते हैं। एक साथ करोड़ शत्रुओं से जूझने वाले कोटि-भट वीर भी अपने मन की वासनाओं के आगे थर-थर काँपने लगते हैं, उन के इशारे पर नाचने लगते हैं। हजारों वीर धन के लिए प्राण देते हैं, तो हजारों सुन्दर स्त्रियों पर मरते हैं। रावण-जैसा विश्व-विजेता वीर भी अपने अन्दर की कामवासना से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सका। अतएव जैन-धर्म कहता है कि अपने-आप से लड़ो! अन्दर की वासनाओं से लड़ो! बाहर के शत्रु इन्हीं के कारण जन्म लेते हैं। विष-वृक्ष के पत्ते नोचने से काम नहीं चलेगा, जड़ उखाड़िए, जड़! जब अन्तरंग हृदय में कोई सांसारिक वासना ही न होगी, काम, क्रोध, लोभ आदि की छाया ही न रहेगी; तब बिना कारण के बाह्य शत्रु क्यों कर जन्म लेंगे? जैन-धर्म का युद्ध, धर्म-युद्ध है। इसमें बाहर से नहीं

लड़ना है, अपने-आपसे लड़ना है। विश्व-शान्ति का मूल इसी भावना में है। अरिहन्त बनने वाला, अरिहन्त बनने की साधना करने वाला, अरिहन्त की उपासना करने वाला ही, विश्व-शान्ति का सच्चा स्रष्टा हो सकता है, अन्य नहीं। हाँ तो, इसी अन्तः शत्रुओं को हनन करने वाली भावना को लक्ष्य में रख कर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है कि 'ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही वस्तुतः संसार के सब जीवों के अरि हैं। अतः जो महापुरुष उन कर्म शत्रुओं का नाश कर देता है, वह अरिहन्त कहलाता है।

> अट्ठ विहं पि य कम्मं,
> अरिभूयं होइ सव्व-जीवाणं।
> तं कम्ममरिं हंता,
> अरिहंता तेण वुच्चंति॥

—आवश्यक निर्युक्ति ६१४

प्राचीन मागधी, प्राकृत और संस्कृत आदि भाषाएँ, बड़ी गम्भीर एवं अनेकार्थ-बोधक भाषाएँ हैं। यहाँ एक शब्द, अपने अन्दर में रहे हुए अनेकानेक गंभीर भावों की सूचना देता है। अतएव प्राचीन आचार्यों ने अरिहन्त आदि शब्दों के भी अनेक अर्थ सूचित किए हैं। अधिक विस्तार में जाना यहाँ अभीष्ट नहीं है, तथापि संक्षेप में परिचय के नाते कुछ लिख देना आवश्यक है।

'अरिहन्त' शब्द के स्थान में कुछ प्राचीन आचार्यों ने अरहन्त और अरुहन्त पाठान्तर भी स्वीकार किए हैं। उनके विभिन्न संस्कृत रूपान्तर होते हैं—अर्हन्त, अरहोन्तर, अरथान्त, अरहन्त, और अरुहन्त आदि। 'अर्ह—पूजायांम्' धातु से बनने वाले अर्हन्त शब्द का अर्थ पूज्य है। वीतराग तीर्थंकर-देव विश्व-कल्याणकारी धर्म के प्रवर्तक हैं, अतः असुर, सुर, नर आदि सभी के पूजनीय हैं। वीतराग की उपासना तीन लोक में की जाती है, अतः वे त्रिलोक-पूज्य हैं, स्वर्ग के इन्द्र भी प्रभु के चरण कमलों की धूल मस्तक पर चढ़ाते हैं, और अपने को धन्य-धन्य समझते हैं।

अरहोन्तर का अर्थ—सर्वज्ञ है। रह का अर्थ है—रहस्यपूर्ण—

गुप्त वस्तु। जिनसे विश्व का कोई रहस्य छुपा हुआ नहीं है, अनन्तानन्त जड़चैतन्य पदार्थों को हस्तामलक की भाँति स्पष्ट रूप से जानते देखते हैं, वे अरहोन्तर कहलाते हैं।

अरथान्त का अर्थ है—परिग्रह और मृत्यु से रहित। 'रथ' शब्द उपलक्षण से परिग्रह-मात्र का वाचक है और अन्त शब्द विनाश एवं मृत्यु का। अतः जो सब प्रकार के परिग्रह से और जन्म-मरण से अतीत हो, वह अरथान्त कहलाता है।

अरहन्त का अर्थ—आसक्ति-रहित है। रह का अर्थ आसक्ति है, अतः जो मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर देने के कारण राग-भाव से सर्वथा रहित हो गए हों, वे अरहन्त कहलाते हैं।

अरुहन्त का अर्थ है—कर्म-बीज को नष्ट कर देने वाले, फिर कभी जन्म न लेने वाले। 'रुह' धातु का संस्कृत भाषा में अर्थ है—सन्तान अर्थात् परंपरा। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, फिर बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज—यह बीज और वृक्ष की परंपरा अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कोई बीज को जला कर नष्ट कर दे, तो फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होगा, बीज-वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जायगी। इसी प्रकार कर्म से जन्म, और जन्म से कर्म की परम्परा भी अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कोई साधक रत्नत्रय की साधना की अग्नि से कर्म-बीज को पूर्णतया जला डाले, तो वह सदा के लिए जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाएगा, अरुहन्त बन जाएगा। अरुहन्त शब्द की इसी व्याख्या को ध्यान में रख कर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र के अपने स्वोपज्ञ भाष्य में कहते हैं—

> **दग्धेबीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाऽङ्कुरः।**
> **कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः॥**
>
> —अन्तिम उपसंहारकारिका प्रकरण

भगवान का स्वरूप

*

भारतवर्ष के दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य में भगवान् शब्द बड़ा ही उच्च कोटि का भावपूर्ण शब्द माना जाता

है । इसके पीछे एक विशिष्ट भाव-राशि रही हुई है ! 'भगवान्' शब्द 'भग' शब्द से बना है । अतः भगवान् का शब्दार्थ है— 'भगवाला आत्मा ।'

आचार्य हरिभद्र ने भगवान् शब्द पर विवेचन करते हुए 'भग' शब्द के छः अर्थ बतलाये हैं—ऐश्वर्य=प्रताप, वीर्य=शक्ति अथवा उत्साह, यश=कीर्ति, श्री=शोभा, धर्म=सदाचार और प्रयत्न=कर्तव्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला अदम्य पुरुषार्थ ! वह श्लोक इस प्रकार है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य[1] यशसः श्रियः ।
धर्मस्याऽथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥

—दशवैकालिक-सूत्र टीका, ४/१

हाँ तो अब भगवान् शब्द पर विचार कीजिए । जिस महान् आत्मा में पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण श्री, पूर्ण धर्म और पूर्ण प्रयत्न हो, वह भगवान् कहलाता है । तीर्थंकर महाप्रभु में उक्त छहों गुण पूर्ण रूप से विद्यमान होते हैं, अतः वे भगवान् कहे जाते हैं ।

जैन-संस्कृति, मानव-संस्कृति है । यह मानव में ही भगवत्स्वरूप की झाँकी देखती है । अतः जो साधक, साधना करते हुए वीतराग-भाव के पूर्ण विकसित पद पर पहुँच जाता है, वही यहाँ भगवान् बन जाता है । जैन-धर्म यह नहीं मानता कि मोक्षलोक से भटक कर ईश्वर यहाँ अवतार लेता है, और वह संसार का भगवान् बनता है । जैन-धर्म का भगवान् भटका हुआ ईश्वर नहीं; परन्तु पूर्ण विकास पाया हुआ मानव-आत्मा ही ईश्वर है, भगवान् है । उसी के चरणों में स्वर्ग के इन्द्र अपना मस्तक झुकाते हैं, उसे अपना आराध्य देव स्वीकार करते हैं । तीन लोक का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसके चरणों में उपस्थित रहता है । उसका प्रताप, वह प्रताप है, जिसके समक्ष कोटि-कोटि सूर्यों का प्रताप और प्रकाश भी फीका पड़ जाता है ।

---

१. आचार्य जिनदास ने दशवैकालिक चूर्णि में 'वीर्य' के स्थान में 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है ।

आदिकर

*

अरिहन्त भगवान् 'आदिकर' भी कहलाते हैं। आदि कर का मूल अर्थ है, आदि करने वाला। पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि किस की आदि करने वाला? धर्म तो अनादि है, उसकी आदि कैसी? उत्तर है कि धर्म अवश्य अनादि है। जब से यह संसार है, संसार का बन्धन है, तभी से धर्म है, और उसका फल मोक्ष भी है। जब संसार अनादि है, तो धर्म भी अनादि ही हुआ। परन्तु यहाँ जो धर्म की आदि करने वाला कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि अरिहन्त भगवान् धर्म का निर्माण नहीं करते, प्रत्युत 'धर्म की व्यवस्था का, धर्म की मर्यादा का निर्माण करते हैं। अपने-अपने युग में धर्म में जो विकार आ जाते हैं, धर्म के नाम पर जो मिथ्या आचार फैल जाते हैं, उनकी शुद्धि करके नये सिरे से धर्म की मर्यादाओं का विधान करते हैं। अतः अपने युग में धर्म की आदि करने के कारण अरिहन्त भगवान् 'आदिकर' कहलाते हैं।

हमारे विद्वान् जैनाचार्यों की एक परम्परा यह भी है कि अरिहन्त भगवान् श्रुत-धर्म की आदि करने वाले हैं, अर्थात् श्रुत धर्म का निर्माण करने वाले हैं। जैन-साहित्य में आचारांग आदि धर्म-सूत्रों को श्रुत धर्म कहा जाता है। भाव यह है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने चले आये धर्मशास्त्रों के अनुसार अपनी साधना का मार्ग नहीं तैयार करते। उनका जीवन अनुभव का जीवन होता है। अपने आत्मानुभव के द्वारा ही वे अपना मार्ग तय करते हैं और फिर उसी को जनता के समक्ष रखते हैं। पुराने पोथी-पत्रों का भार लाद कर चलना, उन्हें अभीष्ट नहीं है। हर एक युग का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के अनुसार अपना अलग शास्त्र होना चाहिए, अलग विधि-विधान होना चाहिए। तभी जनता का वास्तविक हित हो सकता है, अन्यथा नहीं। जो शास्त्र चालू युग की अपनी दुरूह गुत्थियों को नहीं सुलझा सकते, वर्तमान परिस्थितियों पर प्रकाश नहीं डाल सकते, वे शास्त्र मानवजाति के अपने वर्तमान युग के लिए अकिंचित्कर हैं, अन्यथा सिद्ध हैं। यही

कारण है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार हूबहू न स्वयं चलते हैं, न जनता को चलाते हैं। स्वानुभव के बल पर नये शास्त्र और नये विधि-विधान निर्माण करके जनता का कल्याण करते हैं, अतः वे आदिकर कहलाते हैं। उक्त विवेचन पर से उन सज्जनों का समाधान भी हो जाएगा, जो यह कहते हैं कि आज कल जो जैन-शास्त्र मिल रहे हैं, वे भगवान् महावीर के उपदिष्ट ही मिल रहे हैं, भगवान् पार्श्वनाथ आदि के क्यों नहीं मिलते ?

तीर्थंकर

*

अरिहन्त भगवान् तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर का अर्थ है—तीर्थ का निर्माता। जिसके द्वारा संसाररूप मोहमाया का महानद सुविधा के साथ तिरा जाए, वह धर्म-तीर्थ कहलाता है। और, इस धर्म-तीर्थ की स्थापना करने के कारण भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर कहे जाते हैं।

पाठक जानते हैं कि उफनती नदी के प्रवाह को तैरना कितना कठिन कार्य है ? साधारण मनुष्य तो देखकर ही भयभीत हो जाते हैं, अन्दर घुसने का साहस ही नहीं कर पाते। परन्तु जो अनुभवी तैराक हैं, वे साहस करके अन्दर घुसते हैं, और मालूम करते हैं कि किस ओर पानी का वेग कम है, कहाँ पानी छिछला है, कहाँ जलचर जीव नहीं है, कहाँ भंवर और गर्त आदि नहीं हैं, कौन-सा मार्ग सर्व साधारण जनता को नदी पार करने के लिए ठीक रहेगा ? ये साहसी तैराक ही नदी के घाटों का निर्माण करते हैं। संस्कृत भाषा में घाट के लिए 'तीर्थ' शब्द प्रयुक्त होता है। अतः ये घाट के बनाने वाले तैराक, लोक में तीर्थंकर कहलाते हैं। हमारे तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार घाट के निर्माता थे, अतः तीर्थंकर कहलाते थे। आप जानते हैं, यह संसार-रूपी नदी कितनी भयंकर है ? क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के हजारों विकार-रूप मगरमच्छ, भँवर और गर्त हैं इसमें, जिन्हें पार करना सहज नहीं है। साधारण साधक इन विकारों के भंवर में फँस जाते हैं, और डूब जाते हैं। परन्तु, तीर्थंकर देवों ने सर्व-साधारण

साधकों की सुविधा के लिए धर्म का घाट बना दिया है, सदाचार-रूपी विधि-विधानों की एक निश्चित योजना तैयार करदी है, जिस से हर कोई साधक सुविधा के साथ इस भीषण नदी को पार कर सकता है।

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। बिना पुल के नदी से पार होना बड़े-से-बड़े बलवान् के लिए भी अशक्य है; परन्तु पुल बन जाने पर साधारण दुर्बल, रोगी यात्री भी बड़े आनन्द से पार हो सकता है। और तो क्या, नन्हीं-सी चींटी भी इधर से उधर पार हो सकती है। हमारे तीर्थंकर वस्तुतः संसार की नदी को पार करने के लिए धर्म का तीर्थ बना गए हैं, पुल बना गए हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध संघ की धर्म-साधना, संसार सागर से पार होने के लिए पुल है। अपने सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी भी पुल पर चढ़िए, किसी भी धर्म-साधना को अपनाइए, आप पल्ली पार हो जाएँगे।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि इस प्रकार धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले तो भारतवर्ष में सर्वप्रथम श्री ऋषभदेव भगवान् हुए थे; अतः वे ही तीर्थंकर कहलाने चाहिएँ। दूसरे तीर्थंकरों को तीर्थंकर क्यों कहा जाता है? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग में प्रचलित धर्म-परम्परा में समयानुसार परिवर्तन करता है, अतः नये तीर्थ का निर्माण करता है। पुराने घाट जब खराब हो जाते हैं, तब नया घाट ढूंढा जाता है न? इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानों में विकृति आ जाने के बाद नये तीर्थंकर, संसार के समक्ष नए धार्मिक विधानों की योजना उपस्थित करते हैं। धर्म का मूल प्राण वही होता है, केवल क्रियाकाण्ड रूप शरीर बदल देते हैं। जैन-समाज प्रारम्भ से, केवल धर्म की मूल भावनाओं पर विश्वास करता आया है, न कि पुराने शब्दों और पुरानी पद्धतियों पर। जैन तीर्थंकरों का शासन-भेद, उदाहरण के लिए भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन-भेद मेरी उपर्युक्त मान्यता के लिए ज्वलन्त प्रमाण है।

स्वयंसम्बुद्ध

*

तीर्थंकर भगवान् स्वयंसम्बुद्ध कहलाते हैं। स्वयंसम्बुद्ध का अर्थ है—अपने-आप प्रबुद्ध होने वाले, बोध पाने वाले, जगने वाले। हजारों लोग ऐसे हैं, जो जगाने पर भी नहीं जगते। उनकी अज्ञान निद्रा अत्यन्त गहरी होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं तो नहीं जग सकते; परन्तु दूसरों के द्वारा जगाए जाने पर अवश्य जग उठते हैं। यह श्रेणी साधारण साधकों की है। तीसरी श्रेणी उन पुरुषों की है, जो स्वयमेव समय पर जाग जाते हैं, मोहमाया की निद्रा त्याग देते हैं, और मोह-निद्रा में प्रसुप्त विश्व को भी अपनी एक आवाज से जगा देते हैं। हमारे तीर्थंकर इसी श्रेणी के महापुरुष हैं। तीर्थंकर देव किसी के बताए हुए पूर्व निर्धारित पथ पर नहीं चलते। वे अपने और विश्व के उत्थान के लिए स्वयं अपने-आप अपने पथ का निर्माण करते हैं। तीर्थंकर को पथ-प्रदर्शन करने के लिए न कोई गुरु होता है, और न कोई शास्त्र! वह स्वयं ही अपना पथ-प्रदर्शक है, स्वयं ही उस पथ का यात्री है। वह अपना पथ स्वयं खोज निकालता है। स्वावलम्बन का यह महान् आदर्श, तीर्थंकरों के जीवन में कूट-कूट कर भरा होता है। तीर्थंकर देव सड़ी-गली और पुरानी व्यर्थ परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर जन-हित के लिए नई परम्पराएँ, नई योजनाएँ स्थापित करते हैं। उनकी क्रांति का पथ स्वयं अपना होता है, वह कभी भी परमुखापेक्षी नहीं होते!

पुरुषोत्तम

*

तीर्थंकर भगवान् पुरुषोत्तम होते हैं। पुरुषोत्तम, अर्थात् पुरुषों में उत्तम—श्रेष्ठ। भगवान् के क्या वाह्य और क्या आभ्यन्तर, दोनों ही प्रकार के गुण अलौकिक होते हैं, असाधारण होते हैं। भगवान् का रूप त्रिभुवन-मोहक! भगवान् का तेज सूर्य को भी हतप्रभ वना देने वाला! भगवान् का मुखचन्द्र सुर-नर-नाग नयन मनहर! भगवान् के दिव्य शरीर में एक-से-एक उत्तम एक हजार आठ लक्षण होते हैं, जो हर किसी दर्शक को

उनकी महत्ता की सूचना देते हैं। वज्रर्षभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान का सौंदर्य तो अत्यन्त ही अनूठा होता है ! भगवान् के परमौदारिक शरीर के समक्ष देवताओं का दीप्तिमान वैक्रिय शरीर भी बहुत तुच्छ एवं नगण्य मालूम देता है। यह तो है बाह्य ऐश्वर्य की बात ! अब जरा अन्तरंग ऐश्वर्य की बात भी मालूम कर लीजिए। तीर्थंकर देव अनन्त चतुष्टय के धर्ता होते हैं। उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुणों की समता भला दूसरे साधारण देवपद-वाच्य कहाँ कर सकते हैं ? तीर्थंकर देव के अपने युग में कोई भी संसारी पुरुष उनका समकक्ष नहीं होता।

पुरुषसिंह

*

तीर्थंकर भगवान् पुरुषों में सिंह होते हैं। सिंह एक अज्ञानी पशु है, हिंसक जीव है। अतः कहाँ वह निर्दय एवं क्रूर पशु और कहाँ दया एवं क्षमा के अपूर्व भंडार भगवान् ? भगवान् को सिंह की उपमा देना, कुछ उचित नहीं मालूम देता ! बात यह है कि यह मात्र एकदेशी उपमा है। यहाँ सिंह से अभिप्राय, सिंह की वीरता और पराक्रम से है। जिस प्रकार वन में पशुओं का राजा सिंह अपने बल और पराक्रम के कारण निर्भय रहता है, कोई भी पशु वीरता में उसकी बराबरी नहीं कर सकता है, उसी प्रकार तीर्थंकर देव भी संसार में निर्भय रहते हैं; कोई भी संसारी व्यक्ति उनके आत्म-बल और तपस्त्याग सम्बन्धी वीरता की बराबरी नहीं कर सकता।

सिंह की उपमा देने का एक अभिप्राय और भी हो सकता है। वह यह कि संसार में दो प्रकृति के मनुष्य होते हैं—एक कुत्ते की प्रकृति के और दूसरे सिंह की प्रकृति के। कुत्ते को जब कोई लाठी मारता है, तो वह लाठी को मुँह में पकड़ता है और समझता है कि लाठी मुझे मार रही है। वह लाठी मारने वाले को नहीं काटने दौड़ता, लाठी को काटने दौड़ता है। इसी प्रकार ज़ब कोई शत्रु किसी को सताता है तो वह सताया जाने वाला व्यक्ति सोचता है कि यह मेरा शत्रु है, यह मुझे तंग करता है, मैं इसे

क्यों न नष्ट कर दूँ ? वह उस शत्रु को शत्रु बनाने वाले अन्तर मन के विकारों को नहीं देखता, उन्हें नष्ट करने की बात नहीं सोचता। इसके विपरीत, सिंह की प्रकृति लाठी पकड़ने की नहीं होती, प्रत्युत लाठी वाले को पकड़ने की होती है। संसार के वीतराग महापुरुष भी सिंह के समान अपने शत्रु को शत्रु नहीं समझते, प्रत्युत उसके मन में रहे हुए विकारों को ही शत्रु समझते हैं। वस्तुतः, शत्रु को पैदा करने वाले मन के विकार ही तो हैं। अतः उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारों पर होता है। अपने दया, क्षमा आदि सद्गुणों के प्रभाव से दूसरों के विकारों को शान्त करते हैं। फलतः शत्रु को भी मित्र बना लेते हैं। तीर्थंकर भगवान् उक्त विवेचन के प्रकाश में पुरुष-सिंह हैं, पुरुषों में सिंह की वृत्ति रखते हैं।

पुरुषवर पुण्डरीक

तीर्थंकर भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान होते हैं। भगवान् को पुण्डरीक कमल की उपमा बड़ी ही सुन्दर दी गई है। पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। दूसरे कमलों की अपेक्षा श्वेत कमल सौन्दर्य एवं सुगन्ध में अतीव उत्कृष्ट होता है। सम्पूर्ण सरोवर एक श्वेत कमल के द्वारा जितना सुगन्धित हो सकता है, उतना अन्य हजारों कमलों से नहीं हो सकता। दूर-दूर से भ्रमर-वृन्द उसकी सुगन्ध से आकर्षित होकर चले आते हैं, फलतः कमल के आस-पास भँवरों का एक विराट् मेला सा लगा रहता है। और इधर कमल बिना किसी स्वार्थभाव के दिन-रात अपनी सुगन्ध विश्व को अर्पण करता रहता है। न उसे किसी प्रकार के बदले की भूख है, और न कोई अन्य वासना! चुप-चाप मूक सेवा करना ही, कमल के उच्च जीवन का आदर्श है।

तीर्थंकरदेव भी मानव-सरोवर में सर्व-श्रेष्ठ कमल माने गए हैं। उनके आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त होती है। अपने समय में वे अहिंसा और सत्य आदि सद्गुणों की सुगन्ध सर्वत्र फैला देते हैं। पुण्डरीक की सुगन्ध का अस्तित्व तो वर्तमान कालावच्छेदेन ही होता है; किन्तु तीर्थंकर देवों के जीवन की सुगन्ध तो हजारों-

लाखों वर्षों बाद आज भी भक्त-जनता के हृदयों को महका रही है। आज ही नहीं, भविष्य में भी हजारों वर्षों तक इसी प्रकार महकाती रहेगी। महापुरुषों के जीवन की सुगन्ध को न दिशा ही अवच्छिन्न कर सकती है, और न काल ही। जिस प्रकार पुण्डरीक श्वेत होता है; उसी प्रकार भगवान् का जीवन भी वीतराग-भाव के कारण पूर्णतया निर्मल श्वेत होता है। उसमें कषायभाव का जरा भी रंग नहीं होता। पुण्डरीक के समान भगवान् भी निस्वार्थ-भाव से जनता का कल्याण करते हैं, उन्हें किसी प्रकार की भी सांसारिक वासना नहीं होती। कमल अज्ञान-अवस्था में ऐसा करता है; जब कि भगवान् ज्ञान के विमल प्रकाश में निष्काम भाव से जन-कल्याण का कार्य करते हैं। यह कमल की अपेक्षा भगवान् की उच्च विशेषता है। कमल के पास भ्रमर ही आते हैं, जब कि तीर्थंकरदेव के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध से प्रभावित होकर विश्व के भव्य प्राणी उनके चरणों में उपस्थित हो जाते हैं। कमल की उपमा का एक भाव और भी है। वह यह है कि भगवान् संसार में रहते हुए भी संसार की वासनाओं से पूर्णतया निर्लिप्त रहते हैं, जिस प्रकार पानी से लबालब भरे हुए सरोवर में रह कर भी कमल पानी से लिप्त नहीं होता। कमलपत्र पर पानी की बूँद अपनी रेखा नहीं डाल सकती। यह कमल की उपमा आगम-प्रसिद्ध उपमा है।

गन्धहस्ती

*

भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती के समान हैं। सिंह की उपमा वीरता की सूचक है, गन्ध की नहीं। और पुण्डरीक की उपमा गन्ध की सूचक है, वीरता की नहीं। परन्तु, गन्ध-हस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनों की सूचना देती है।

गन्धहस्ती एक महान् विलक्षण हस्ती होता है। उसके गण्डस्थल से सदैव सुगन्धित मद जल बहता रहता है और उस पर भ्रमर-समूह गूँजते रहते हैं। गन्ध हस्ती की गन्ध इतनी तीव्र होती है कि युद्ध-भूमि में जाते ही उसकी सुगन्धमात्र से दूसरे हजारों हाथी त्रस्त होकर भागने लगते हैं, उसके समक्ष कुछ देर

के लिए भी नहीं ठहर सकते। यह गन्धहस्ती भारतीय साहित्य में बड़ा मंगलकारी माना गया है। जहाँ यह रहता है, उस प्रदेश में अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि के उपद्रव नहीं होते। सदा सुभिक्ष रहता है, कभी भी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता।

तीर्थंकर भगवान् भी मानव-जाति में गन्धहस्ती के समान हैं। भगवान् का प्रताप और तेज इतना महान् हैं कि उनके समक्ष अत्याचार, वैर-विरोध, अज्ञान और पाखण्ड आदि कितने ही क्यों न भयंकर हों, ठहर ही नहीं सकते। चिरकाल से फैले हुए मिथ्या विश्वास, भगवान् की वाणी के समक्ष सहसा छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, सब ओर सत्य का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

भगवान् गन्ध हस्ती के समान विश्व के लिए मंगलकारी हैं। जिस देश में भगवान् का पदार्पण होता है, उस देश में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव नहीं होते। यदि पहले से उपद्रव हो रहे हों, तो भगवान् के पधारते ही सब-के-सब पूर्णतया शान्त हो जाते हैं। समवायांग-सूत्र में तीर्थंकर देव के चौंतीस अतिशयों का वर्णन है। वहाँ लिखा है—"जहाँ तीर्थंकर भगवान् विराजमान होते हैं, वहाँ आस-पास सौ-सौ कोश तक महामारी आदि के उपद्रव नहीं होते। यदि पहले से हों, तो शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।" यह भगवान् का कितना महान् विश्वहितंकर रूप है! भगवान् की महिमा केवल अन्तरंग के काम, क्रोध आदि उपद्रवों को शान्त करने में ही नहीं है, अपितु बाह्य उपद्रवों की शान्ति में भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार तो जीवों की रक्षा करना, उन्हें दुःख से बचाना पाप है। दुःखों को भोगना, अपने पाप कर्मों का ऋण चुकाना है। अतः भगवान् का यह जीवों को दुःखों से बचाने का अतिशय क्यों? उत्तर में निवेदन है कि भगवान् का जीवन मंगलमय है। वे क्या आध्यात्मिक और क्या भौतिक, सभी प्रकार से जनता के दुःखों को दूर कर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं। यदि दूसरों को अपने निमित्त से सुख पहुँचाना पाप होता, तो भगवान् को यह पाप-वर्द्धक अतिशय मिलता ही क्यों? यह अतिशय तो

पुण्यानुबन्धी पुण्य के द्वारा प्राप्त होता है, फलतः जगत् का कल्याण करता है। इसमें पाप की कल्पना करना तो वज्र-मूर्खता है। कौन कहता है कि जीवों की रक्षा करना पाप है ? यदि पाप है, तो भगवान् को यह पाप-जनक अतिशय कैसे मिला ? यदि किसी को सुख पहुँचाना वस्तुतः पाप ही होता, तो भगवान् क्यों नहीं किसी पर्वत की गुहा में बैठे रहे ? क्यों दूर-सुदूर देशों में भ्रमण कर जगत् का कल्याण करते रहे ? अतएव यह भ्रान्त कल्पना है कि किसी को सुख-शान्ति देने से पाप होता है। भगवान् का यह मंगल-मय अतिशय ही इसके विरोध में सब से बड़ा और प्रबल प्रमाण है।

लोकप्रदीप

*

तीर्थंकर भगवान् लोक में प्रकाश करने वाले अनुपम दीपक हैं। जब संसार में अज्ञान का अन्धकार घनीभूत हो जाता है, जनता को अपने हित-अहित का कुछ भी भान नहीं रहता है; सत्य-धर्म का मार्ग एक प्रकार से विलुप्त-सा हो जाता है; तब तीर्थंकर भगवान् अपने केवल ज्ञान का प्रकाश विश्व में फैलाते हैं और जनता के मिथ्यात्व-अन्धकार को नष्ट कर सन्मार्ग का पथ आलोकित करते हैं।

घर का दीपक घर के कोने में प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुँधला होता है। परन्तु, भगवान् तो तीन लोक के दीपक हैं, तीन लोक में प्रकाश करने का महान् दायित्व अपने पर रखते हैं। घर का दीपक प्रकाश करने के लिए तेल और बत्ती की अपेक्षा रखता है, अपने-आप प्रकाश नहीं करता, जलाने पर प्रकाश करता है, वह भी सीमित प्रदेश में और सीमित काल तक ! परन्तु तीर्थंकर भगवान् तो बिना किसी अपेक्षा के अपने-आप तीन लोक और तीन काल को प्रकाशित करने वाले हैं। भगवान् कितने अनोखे दीपक हैं !

भगवान् को दीपक की उपमा क्यों दी ? सूर्य और चन्द्र आदि की अन्य सब उत्कृष्ट उपमाएँ छोड़ कर दीपक ही क्यों अपनाया गया ? प्रश्न ठीक है; परन्तु जरा गम्भीरता से सोचिए, नन्हे से

दीपक की महत्ता, स्पष्टतः झलक उठेगी। बात यह है कि सूर्य और चन्द्र प्रकाश तो करते हैं, किन्तु किसी को अपने समान प्रकाशमान नहीं बना सकते। इधर लघु दीपक अपने संसर्ग में आए, अपने से संयुक्त हुए हजारों दीपकों को प्रदीप्त कर अपने समान ही प्रकाशमान दीपक बना देता है। वे भी उसी तरह जगमगाने लगते हैं और अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने लगते हैं। हाँ, तो दीपक प्रकाश देकर ही नहीं रह जाता, वह दूसरों को भी अपने समान ही बना लेता है। तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार केवल प्रकाश फैला कर ही विश्रान्ति नहीं लेते; प्रत्युत अपने निकट संसर्ग में आने वाले अन्य साधकों को भी साधना का पथ प्रदर्शित कर अन्त में अपने समान ही बना लेते हैं। तीर्थंकरों का ध्याता, सदा ध्याता ही नहीं रहता, वह ध्यान के द्वारा अन्ततोगत्वा ध्येय-रूप में परिणत हो जाता है। उक्त सिद्धान्त की साक्षी के लिए गौतम और चन्दना आदि के इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण, हर कोई जिज्ञासु देख सकता है।

अभयदयः अभयदान के दाता

*

संसार के सब दानों में अभय-दान श्रेष्ठ है। हृदय की करुणा अभय-दान में ही पूर्णतया तरंगित होती है।

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।'

—सूत्र कृतांग, ६/२३

अस्तु, तीर्थंकर भगवान् तीन लोक में अलौकिक एवं अनुपम दयालु होते हैं। उनके हृदय में करुणा का सागर ठाठें मारता रहता है। विरोधी-से-विरोधी के प्रति भी उनके हृदय से करुणा की धारा बहा करती है। गोशालक कितना उद्दण्ड प्राणी था? परन्तु भगवान् ने तो उसे भी क्रुद्ध तपस्वी की तेजोलेश्या से जलते हुए बचाया। चण्डकौशिक पर कितनी अनन्त करुणा की है? तीर्थंकरदेव उस युग में जन्म लेते हैं, जब मानव-सभ्यता अपना पथ भूल जाती हैं, फलतः सब ओर अन्याय एवं अत्याचार का दम्भपूर्ण साम्राज्य छा जाता है। उस समय तीर्थंकर भगवान् क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या राजा क्या रंक, क्या ब्राह्मण क्या शूद्र,

सभी को सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। संसार के मिथ्यात्व-वन में भटकते हुए मानव-समूह को सन्मार्ग पर लाकर उसे निराकुल बनाना, अभय-प्रदान करना, एकमात्र तीर्थंकर देवों का ही महान कार्य है !

चक्खुदय: ज्ञाननेत्र के दाता

*

तीर्थंकर भगवान् आँखों के देने वाले हैं। कितना ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हो, यदि आँख नहीं तो कुछ भी नहीं। आँखों के अभाव में जीवन भार हो जाता है। अंधे को आँख मिल जाय, फिर देखिए, कितना आनंदित होता है वह। तीर्थंकर भगवान् वस्तुत: अंधों को आँखें देने वाले हैं। जब जनता के ज्ञान-नेत्रों के समक्ष अज्ञान का जाला छा जाता है, सत्यासत्य का कुछ भी विवेक नहीं रहता है; तब तीर्थंकर भगवान् ही जनता को ज्ञान-नेत्र अर्पण करते हैं, अज्ञान का जाला साफ़ करते हैं।

पुरानी कहानी है कि एक देवता का मन्दिर था, बड़ा ही चमत्कार पूर्ण ? वह, आने वाले अन्धों को नेत्र-ज्योति दिया करता था। अन्धे लाठी टेकते आते और इधर आँखें पाते ही द्वार पर लाठी फेंक कर घर चले जाते ! तीर्थंकर भगवान् ही वस्तुत: ये चमत्कारी देव हैं। इनके द्वार पर जो भी काम और क्रोध आदि विकारों से दूषित अज्ञानी अन्धा आता है; वह ज्ञान-नेत्र पाकर प्रसन्न होता हुआ लौटता है। चण्डकौशिक आदि ऐसे ही जन्म-जन्मान्तर के अन्धे थे, परन्तु भगवान् के पास आते ही अज्ञान का अन्धकार दूर हो गया, सत्य का प्रकाश जगमगा गया। ज्ञान-नेत्र की ज्योति पाते ही सब भ्रान्तियाँ क्षण-भर में दूर हो गईं।

धर्मचक्रवर्ती

*

तीर्थंकर भगवान् धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती हैं, चार दिशा रूप चार गतियों का अन्त करने वाले हैं। जब देश में सब ओर अराजकता छा जाती है, तथा छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो कर देश की एकता नष्ट हो जाती है; तब चक्रवर्ती का चक्र

ही पुनः राज्य की सुव्यवस्था करता है, सम्पूर्ण बिखरी हुई देश की शक्ति को एक शासन के नीचे लाता है। सार्वभौम राज्य के बिना प्रजा में शान्ति की व्यवस्था नहीं हो सकती। चक्रवर्ती इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओं में समुद्र-पर्यन्त तथा उत्तर में लघु हिमवान् पर्वत पर्यन्त अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित करता है, अतः चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाता है।

तीर्थंकर भगवान् भी नरक, तिर्यंच आदि चारों गतियों का अन्तकर सम्पूर्ण विश्व पर अपना अहिंसा और सत्य आदि का धर्म राज्य स्थापित करते हैं। अथवा दान, शील, तप और भाव-रूप चतुर्विध धर्म की साधना स्वयं अन्तिम कोटि तक करते हैं, और जनता को भी इस धर्म का उपदेश देते हैं, अतः वे धर्म के चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं। भगवान् का धर्म चक्र ही वस्तुतः संसार में भौतिक एवं आध्यात्मिक अखण्ड शान्ति कायम कर सकता है। अपने-अपने मत-जन्य दुराग्रह के कारण फैली हुई धार्मिक अराजकता का अन्त कर अखण्ड धर्म-राज्य की स्थापना तीर्थंकर ही करते हैं। वस्तुतः यदि विचार किया जाए, तो भौतिक जगत के प्रतिनिधि चक्रवर्ती से यह संसार कभी स्थायी शान्ति पा ही नहीं सकता। चक्रवर्ती तो भोग-वासना का दास एक पामर संसारी प्राणी है। उसके चक्र के मूल में साम्राज्य-लिप्सा का विष छुपा हुआ है; जनता का परमार्थ नहीं, अपना स्वार्थ रहा हुआ है। यही कारण है कि चक्रवर्ती का शासन मानव-प्रजा के निरपराध रक्त से सींचा जाता है, वहाँ हृदय पर नहीं, शरीर पर विजय पाने का प्रयत्न है। परन्तु हमारे तीर्थंकर धर्म-चक्रवर्ती हैं। अतः वे पहले अपनी ही तपः साधना के बल से काम, क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करते हैं, पश्चात् जनता के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना कर अखण्ड आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य कायम करते हैं। तीर्थंकर शरीर के नहीं, हृदय के सम्राट् बनते हैं, फलतः वे संसार में पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति का, त्याग एवं वैराग्य का विश्व-हितंकर शासन चलाते हैं। वास्तविक सुख-शान्ति, इन्हीं धर्म चक्रवर्तियों के शासन की छत्रछाया में प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र नहीं। तीर्थंकर

भगवान् का शासन तो चक्रवर्तियों पर भी होता है। भोग-विलास के कारण जीवन की भूल-भुलैय्या में पड़ जाने वाले और अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हो जाने वाले चक्रवर्तियों को तीर्थंकर भगवान् ही उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाते हैं, कर्तव्य का भान कराते हैं। अतः तीर्थंकर भगवान् चक्रवर्तियों के भी चक्रवर्ती हैं।

व्यावृत्त-छद्म

*

तीर्थंकर देव, व्यावृत्त-छद्म कहलाते हैं। व्यावृत्त- छद्म का अर्थ है—'छद्म से रहित।' छद्म के दो अर्थ हैं—आवरण और छल। ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्म आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि मूल शक्तिओं को छादन किए रहते हैं, ढँके रहते हैं, अतः छद्म कहलाते हैं—

—'छादयतीति छद्म ज्ञानावरणीयादि'

—प्रतिक्रमण सूत्र पद विवृत्ति, प्रणिपातदण्डक

हाँ, तो जो छद्म से, ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मों से पूर्णतया अलग हो गए हैं, वे 'व्यावृत्त-छद्म' कहलाते हैं। तीर्थंकर-देव अज्ञान और मोह आदि से सर्वथा रहित होते हैं। छद्म का दूसरा अर्थ है—'छल और प्रमाद।' अतः छल और प्रमाद से रहित होने के कारण भी तीर्थंकर 'व्यावृत्तछद्म' कहे जाते हैं।

तीर्थंकर भगवान् का जीवन पूर्णतया सरल और समरस रहता है। किसी भी प्रकार की गोपनीयता, उनके मन में नहीं होती। क्या अन्दर और क्या बाहर, सर्वत्र समभाव रहता है, स्पष्ट भाव रहता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों का जीवन पूर्ण आप्त पुरुषों का जीवन रहा है। उन्होंने कभी भी दुहरी बातें नहीं कीं। परिचित और अपरिचित, साधारण जनता और असाधारण चक्रवर्ती आदि, अनसमझ बालक और समझदार वृद्ध-सबके समक्ष एक समान रहे। जो कुछ भी परम सत्य उन्होंने प्राप्त किया, निश्छल-भाव से जनता को अर्पण किया! यही आप्त जीवन है, जो शास्त्र में प्रामाणिकता लाता है। आप्त

पुरुष का कहा हुआ प्रवचन ही प्रमाणाबाधित, तत्त्वो-पदेशक, सर्वजीव-हितकर, अकाट्य तथा मिथ्यामार्ग का निराकरण करने वाला होता है। आचार्य सिद्धसेन शास्त्र की परिभाषा बताते हुए इसी सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं—

> आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य—
> महष्टेष्टविरोधकम्।
> तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं,
> शास्त्रं कापथ-घट्टनम्॥ ६॥
>
> —न्यायावतार

तीर्थंकर की वाणी : जन कल्याण के लिए

*

तीर्थंकर भगवान् के लिए जिन, जापक, तीर्ण, तारक, बुद्ध, बोधक, मुक्त और मोचक के विशेषण बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थंकरों का उच्च-जीवन वस्तुतः इन विशेषणों पर ही अवलम्बित है। राग-द्वेष को स्वयं जीतना और दूसरे साधकों से जितवाना, संसार-सागर से स्वयं तैरना और दूसरे प्राणियों को तैराना, केवलज्ञान पाकर स्वयं बुद्ध होना और दूसरों को बोध देना, कर्म-बन्धनों से स्वयं मुक्त होना और दूसरों को मुक्त कराना, कितना महान् एवं मंगलमय आदर्श है। जो लोग एकान्त निवृत्ति मार्ग के गीत गाते हैं, अपनी आत्मा को ही तारने मात्र का स्वप्न रखते हैं, उन्हें इस ओर लक्ष्य देना चाहिए!

मैं पूछता हूँ—तीर्थंकर भगवान् क्यों दूर-दूर भ्रमण कर अहिंसा और सत्य का सन्देश देते हैं? वे तो, केवलज्ञान और केवल-दर्शन को पाकर कृतकृत्य हो गए हैं। अब उनके लिए क्या करना शेष है? संसार के दूसरे जीव मुक्त होते हैं या नहीं, इससे उनको क्या हानि-लाभ? यदि लोग धर्मसाधना करेंगे, तो उनको लाभ है और नहीं करेंगे, तो उन्हीं को हानि है। उनके लाभ और हानि से भगवान् को क्या लाभ-हानि है? जनता को प्रबोध देने से उनकी मुक्ति में क्या विशेषता हो जाएगी? और यदि प्रबोध न दें तो कौन-सी विशेषता कम हो जाएगी?

इन सब प्रश्नों का उत्तर जनागमों का मर्मी पाठक यही देता है कि जनता को प्रबोध देने और न देने से भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत हानि-लाभ नहीं है। भगवान् किसी स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर कुछ भी नहीं करते। न उनको पंथ चलाने का मोह है, न शिष्यों की टोली जमा करने का स्वार्थ है। न उन्हें पूजा-प्रतिष्ठा चाहिए और न मान-सम्मान! वे तो पूर्ण वीतराग पुरुष हैं। अतः उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति केवल करुणाभाव से होती है। जन-कल्याण की श्रेष्ठ भावना ही धर्म-प्रचार के मूल में निहित है, और कुछ नहीं। तीर्थंकर अनन्त-करुणा के सागर हैं। फलतः किसी भी जीव को मोह-माया में आकुल देखना, उनके लिए करुणा की वस्तु है। यह करुणा-भावना ही उनके महान् प्रवृत्तिशील जीवन की आधारशिला है। जैन-संस्कृति का गौरव प्रत्येक बात में केवल अपना हानि-लाभ देखने में ही नहीं है; प्रत्युत जनता का हानि-लाभ देखने में भी है। केवल ज्ञान पाने के बाद तीस वर्ष तक भगवान् महावीर निष्काम जन-सेवा करते रहे। तीस वर्ष के धर्म-प्रचार से एवं जन-कल्याण से भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत लाभ न हुआ। और न उनको इसकी अपेक्षा ही थी। उनका अपना आध्यात्मिक जीवन बन चुका था और कुछ साधना शेष नहीं रही थी; फिर भी विश्व-करुणा की भावना से जीवन के अन्तिम क्षण तक जनता को सन्मार्ग का उपदेश देते रहे। आचार्य शीलाङ्क ने सूत्रकृताङ्ग सूत्र पर की अपनी टीका में इसी बात को ध्यान में रखकर कहा है—

"धर्ममुक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थम्, न पूजा-सत्कारार्थम्"

—सूत्र कृताङ्ग टीका १/६/४।

केवल टीका में ही नहीं, जैन-धर्म के मूल आगम-साहित्य में भी यही भाव बताया गया है—

"सव्वजगजीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं"

—प्रश्नव्याकरण-सूत्र २/१

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी

*

सूत्रकार ने 'जिणाणं' आदि विशेषणों के बाद 'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं' के विशेषण बड़े ही गम्भीर अनुभव के आधार पर रखे हैं। जैन-धर्म में सर्वज्ञता के लिए शर्त है, राग और द्वेष

का क्षय हो जाना। राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय किए विना, अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग भाव सम्पादन किए विना सर्वज्ञता संभव नहीं। सर्वज्ञता प्राप्त किए विना पूर्ण आप्त पुरुष नहीं हो सकता। पूर्ण आप्त पुरुष हुए विना त्रिलोक-पूज्यता नहीं हो सकती, तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। उक्त, 'जिणाणं' पद ध्वनित करता है कि जैन-धर्म में वही आत्मा सुदेव है, परमात्मा है, ईश्वर है, परमेश्वर है, परब्रह्म है, सच्चिदानन्द है, जिसने चतुर्गति-रूप संसार-वन में परिभ्रमण कराने वाले राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है। जिसमें राग-द्वेष आदि विकारों का थोड़ा भी अंश हो, वह साधक भले ही हो सकता है, परन्तु देवाधिदेव परमात्मा नहीं हो सकता। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

> सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य-पूजितः।
> यथास्थितार्थ-वादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥
>
> —योगशास्त्र २/४

पाठ भेद

*

आवश्यक सूत्र की प्राचीन प्रतियों में तथा हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि आचार्यों के प्राचीन ग्रन्थों में 'नमोत्थुणं' के पाठ में 'दीवो, ताण', सरण', गई, पइट्ठा' पाठ नहीं मिलता। बहुत आधुनिक प्रतियों में ही यह देखने में आया है और वह भी कुछ गलत ढंग से। गलत यों कि 'नमोत्थुणं' के सब पद षष्ठी विभक्ति वाले हैं, जब कि यह बीच में प्रथमा विभक्ति के रूप में है। प्रथमा विभक्ति का सम्बन्ध, 'नमोत्थुणं' में के नमस्कार के साथ किसी प्रकार भी व्याकरणसम्मत नहीं हो सकता। अतः हमने मूल-सूत्र में इस अंश को स्थान नहीं दिया। यदि उक्त अंश को 'नमोत्थुणं' में बोलना ही अभीष्ट हो, तो इसे 'दीवताण-सरण-गइ-पइट्ठाणं' के रूप में समस्त षष्ठी विभक्ति लगा कर बोलना चाहिए। प्रस्तुत अंश का अर्थ है—"तीर्थंकर भगवान् संसार समुद्र में द्वीप–टापू, त्राण–रक्षक, शरण, गति एवं प्रतिष्ठा रूप हैं।"

'नमोत्थुणं' की पाठ विधि

*

'नमोत्थुणं' किस पद्धति से पढ़ना चाहिए, इस सम्बन्ध में

काफी मत-भेद मिल रहे हैं। प्रतिक्रमण-सूत्र के टीकाकार आचार्य नमि पंचांग नमन-पूर्वक पढ़ने का विधान करते हैं। दोनों घुटने, दोनों हाथ और पाँचवां मस्तक—इनका सम्यक् रूप से भूमि पर नमन करना, पंचांग-प्रणिपात नमस्कार होता है। परन्तु, आचार्य हेमचन्द्र और हरिभद्र आदि योग-मुद्रा का विधान करते हैं। योग-मुद्रा का परिचय ऐर्यापथिक—आलोचना सूत्र के विवेचन में किया जा चुका है।

राजप्रश्नीय तथा कल्पसूत्र आदि आगमों में, जहाँ देवता आदि, तीर्थंकर भगवान् को वन्दन करते हैं और इसके लिए 'नमोत्थुणं' पढ़ते हैं, वहाँ दाहिना घुटना भूमि पर टेक कर और बाँया खड़ा करके दोनों हाथ अंजलि-वद्ध मस्तक पर लगाते हैं। आज की प्रचलित परम्परा के मूल में यही उल्लेख काम कर रहा है। वन्दन के लिए यह आसन, नम्रता और विनय भावना का सूचक समझा जाता है।

आजकल स्थानक वासी सम्प्रदाय में 'नमोत्थुणं' दो बार पढ़ा जाता है। पहले से सिद्धों को नमस्कार किया जाता है, और दूसरे से अरिहन्तों को। पाठ-भेद कुछ नहीं है, मात्र सिद्धों के 'नमोत्थुणं' में जहाँ 'ठाणं संपत्ताणं' बोला जाता है, वहाँ अरिहन्तों के 'नत्मोत्थुणं' में 'ठाणं संपाविउंकामाणं' कहा जाता है। 'ठाणं संपाविउकामाणं' का अर्थ है—'मोक्ष पद को प्राप्त करने का लक्ष्य रखने वाले जीवन्मुक्त श्री अरिहन्त भगवान् अभी मोक्ष में नहीं गए हैं, शरीर के द्वारा भोग्य-कर्म भोग रहे हैं, जब कर्म भोग लेंगे तब मोक्ष में जाएँगे; अतः वे मोक्ष पाने की कामना वाले हैं। कामना का अर्थ यहाँ वासना नहीं है, आसक्ति नहीं है। तीर्थंकर भगवान् तो मोक्ष के लिए भी आसक्ति नहीं रखते। उनका जीवन तो पूर्णरूप से वीतराग-भाव का होता है। अतः यहाँ कामना का अर्थ आसक्ति न लेकर ध्येय, लक्ष्य, उद्देश्य आदि लेना चाहिए। आसक्ति और लक्ष्य में बड़ा भारी अन्तर है। बन्धन का मूल आसक्ति में है, लक्ष्य में नहीं।

उपर्युक्त प्रचलित परम्परा के सम्बन्ध में कुछ थोड़ी-वहुत विचारने की वस्तु है। वह यह है कि दो 'नमोत्थुणं' का विधान

प्राचीन ग्रन्थों तथा आगमों से प्रमाणित नहीं होता। 'नमोत्थुणं' के पाठ को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं, तब पता चलता है कि यह पाठ न सब सिद्धों के लिए है और न सब अरिहन्तों के लिए ही। यह तो केवल तीर्थंकरों के लिए है। अरिहन्त दोनों होते हैं—सामान्य केवली और तीर्थंकर। सामान्य केवली में 'तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं' आदि विशेषण किसी भी प्रकार से घटित नहीं हो सकते। सूत्र की शैली, स्पष्टतया 'नमोत्थुणं' का सम्बन्ध तीर्थंकरों से तथा तीर्थंकरपद से मोक्ष पाने वाले सिद्धों से ही जोड़ती है, सब अरिहन्तों तथा सब सिद्धों से नहीं।

दो बार क्यों ?

*

मेरी तुच्छ सम्मति में आजकल प्रथम सिद्ध-स्तुति-विषयक 'ठाणं संपत्ताणं' वाला 'नमोत्थुणं' ही पढ़ना चाहिए, दूसरा 'ठाणं संपाविउकामाणं' वाला नहीं। क्योंकि, दूसरा 'नमोत्थुणं' वर्तमानकालीन अरिहन्त तीर्थंकर के लिए होता है, सो आजकल भारतवर्ष में तीर्थंकर विद्यमान नहीं हैं। आप प्रश्न कर सकते हैं कि महा-विदेह क्षेत्र में बीस विहरमान तीर्थंकर हैं तो सही। उत्तर है कि विद्यमान तीर्थंकरों को वन्दन, उनके अपने शासन-काल में ही होता है, अन्यत्र नहीं। हाँ तो क्या आप बीस विहरमान तीर्थंकरों के शासन में हैं, उनके बताए विधि-विधानों पर चलते हैं ? यदि नहीं तो फिर किस आधार पर उनको वन्दन करते हैं ? प्राचीन आगम-साहित्य में कहीं पर भी विद्यमान तीर्थंकरों के अभाव में दूसरा 'नमोत्थुणं' नहीं पढ़ा गया। ज्ञाता-सूत्र के द्रौपदी-अध्ययन में धर्मरुचि अनगार संथारा करते समय 'संपत्ताणं' वाला ही प्रथम 'नमोत्थुणं' पढ़ते हैं, दूसरा नहीं। इसी सूत्र में कुण्डरीक के भाई पुण्डरीक और अर्हन्नक श्रावक भी संथारे के समय प्रथम पाठ ही पढ़ते हैं, दूसरा नहीं। क्या उस समय भूमण्डल पर अरिहन्तों तथा तीर्थंकरों का अभाव ही हो गया था ? महा-विदेह क्षेत्र में तो तीर्थंकर तब भी थे। और सामान्य केवलीअरिहन्त तो, अन्यत्र क्या, यहाँ भारतवर्ष में भी होंगे। उक्त विचारणा के द्वारा

स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि आगम की प्राचीन मान्यता 'नमोत्थुणं' के विषय में यह है कि—"प्रथम नमोत्थुणं तीर्थंकर पद पाकर मोक्ष जाने वाले सिद्धों के लिए पढ़ा जाए। यदि वर्तमान काल में तीर्थंकर विद्यमान हों, तो राजप्रश्नीय—सूर्याभदेवताधिकार, कल्पसूत्र—महावीरजन्माधिकार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—तीर्थंकरजन्माभिषेकाधिकार, औपपातिक—अंबडशिष्याधिकार और अन्तकृद्दशांग अर्जुनमालाकाराधिकार आदि के उल्लेखानुसार उनका नाम लेकर 'नमोत्थुणं समणस्स भगवतो महावीरस्स ठाणं संपाविउकामस्स' आदि के रूप में पढ़ना चाहिए।"

यहाँ जो कुछ लिखा है, किसी आग्रह-वश नहीं लिखा है, प्रत्युत विद्वानों के विचारार्थ लिखा है। अतः आगमाभ्यासी विद्वान्, इस प्रश्न पर, यथावकाश विचार करने की कृपा करें।

नौ संपदा

*

प्रस्तुत 'नमोत्थुणं' सूत्र में नव सम्पदाएँ मानी गई हैं। सम्पदा का क्या अर्थ है, यह पहले के पाठों में बताया जा चुका है। पुनः स्मृति के लिए आवश्यक हो, तो यह याद रखना चाहिए कि सम्पदा का अर्थ विश्राम है।

प्रथम स्तोतव्य-सम्पदा है। इसमें संसार के सर्वश्रेष्ठ स्तोतव्य—स्तुति योग्य तीर्थंकर भगवान् का निर्देश किया गया है।

दूसरी सामान्य-हेतु-सम्पदा है। इसमें स्तोतव्यता में कारण-भूत सामान्य गुणों का वर्णन है। जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है, अतः उसमें किसी की स्तुति यों ही नहीं की जाती, प्रत्युत गुणों को ध्यान में रख कर ही स्तुति करने का विधान है।

तीसरी विशेष-हेतु-सम्पदा है। इसमें स्तोतव्य महापुरुष तीर्थंकर देव के विशेष गुण वर्णन किए गए हैं।

चतुर्थ उपयोग-सम्पदा है। इसमें संसार के प्रति तीर्थंकर भगवान् की उपयोगिता-परोपकारिता का सामान्यतया वर्णन है।

पाँचवीं उपयोगसम्पदा-सम्बन्धिनी हेतु-सम्पदा है। इसमें बताया गया है कि तीर्थंकर भगवान् जनता पर किस प्रकार महान् उपकार करते हैं।

छठी विशेष-उपयोग-सम्पदा है। इसमें विशेष एवं असाधारण शब्दों में भगवान् की विश्वकल्याणकारिता का वर्णन है।

सातवीं सहेतुस्वरूप-सम्पदा है। इसमें भगवान् के दिक्कालादि के व्यवधान से अनवच्छिन्न, अतः अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन का वर्णन करके उनका स्वरूप-परिचय कराया गया है।

आठवीं निजसमफलद-सम्पदा है। इसमें 'जावयाणं, वोहयाणं, मोयगाणं' आदि पदों के द्वारा सूचित किया गया है कि तीर्थंकर भगवान् संसार-दुःख-संतप्त भव्य जीवों को धर्मोपदेश देकर अपने समान ही जिन, बुद्ध, और मुक्त वनाने की क्षमता रखते हैं।

नौवीं मोक्ष-सम्पदा है। इसमें मोक्ष-स्वरूप का शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्यावाध आदि विशेषणों के द्वारा वड़ा ही सरल एवं भव्य वर्णन किया है।

तार्किक प्रश्न करते हैं कि नौवीं मोक्ष सम्पदा में जो मोक्ष-स्वरूप का वर्णन है, उसका सम्वन्ध सूत्रकार ने स्थान शब्द के साथ जोड़ा है, वह किसी भी तरह घटित नहीं होता। स्थान सिद्ध-शिला अथवा आकाश जड़ पदार्थ है, अतः वह अरुज, अनन्त, अव्यावाध कैसे हो सकता है? उत्तर में निवेदन है कि अभिधा-वृत्ति से सम्वन्ध ठीक नहीं वैठता है। परन्तु, लक्षणा-वृत्ति के द्वारा सम्वन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं रहती। यहाँ स्थान और स्थानी आत्माओं के मोक्ष-स्वरूप में अभेद का आरोप किया गया है। अतः मोक्ष के धर्म, स्थान में आरोपित कर दिए गए हैं। अथवा यहाँ स्थान का अर्थ यदि अवस्था या पद लिया जाए, तो फिर कुछ भी विकल्प नहीं रहता। मोक्ष, साधक आत्मा की एक अंतिम पवित्र अवस्था या उच्च पद ही तो है।

विभिन्न नाम

*

जैन-परम्परा में प्रस्तुत सूत्र के कितने ही विभिन्न नाम प्रचलित हैं। 'नमोत्थुणं' यह नाम, अनुयोग द्वार-सूत्र के उल्लेखानुसार प्रथम अक्षरों का आदान करके वनाया गया है, जिस प्रकार भक्तामर और कल्याण मन्दिर आदि स्तोत्रों के नाम हैं।

दूसरा नाम शक्र-स्तव है, जो अधिक ख्याति-प्राप्त है। जम्बू-द्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र तथा कल्पसूत्र आदि सूत्रों में वर्णन आता है कि प्रथम स्वर्ग के अधिपति शक्र-इन्द्र प्रस्तुत पाठ के द्वारा ही तीर्थंकरों को वन्दन करते हैं, अतः 'शक्र-स्तव' नाम के लिए काफी पुरानी अर्थ-धारा हमें उपलब्ध है।

तीसरा नाम प्रणिपात-दण्डक है। इसका उल्लेख योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति और प्रतिक्रमणवृत्ति आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। प्रणिपात का अर्थ नमस्कार होता है, अतः नमस्कार-परक होने से यह नाम भी सर्वथा युक्ति मूलक है।

उपर्युक्त तीनों ही नाम शास्त्रीय एवं अर्थ-संगत हैं। अतः किसी एक ही नाम का मोह रखना और दूसरों का अपलाप करना अयुक्त है।

महत्त्व

*

'नमोत्थुणं' के सम्बन्ध में काफी विस्तार के साथ वर्णन किया जा चुका है। जैन सम्प्रदाय में प्रस्तुत सूत्र का इतना अधिक महत्त्व है कि जिस की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। आज के इस श्रद्धा-शून्य युग में; सैंकड़ों सज्जन अब भी ऐसे मिलेंगे, जो इतने लम्बे सूत्र की नित्यप्रति माला तक फेरते हैं। वस्तुतः इस सूत्र में भक्ति-रस का प्रवाह बहा दिया गया है। तीर्थंकर महाराज के पवित्र चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने के लिए, यह बहुत सुन्दर एवं समीचीन रचना है। उत्तराध्ययन-सूत्र में तीर्थंकर भगवान् की स्तुति करने का महान् फल बताते हुए कहा है—

"थवथुइमंगलेणं नाण—दंसण—चरित्त—बोहिलाभं जणयइ। नाण—दंसण—चरित्त—बोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोव—वत्तियं आराहणं आराहेइ।"

—उत्तराध्ययन २९/१४

उपर्युक्त प्राकृत सूत्र का भाव यह है कि तीर्थंकर देवों की स्तुति करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ होता है। बोधि के लाभ से साधक साधारण दशा में कल्प विमान तथा उत्कृष्ट दशा में मोक्ष पद का आराधक होता है। ज्ञान, दर्शन

और चारित्र ही जैन-धर्म है। अतः उपर्युक्त भगवद्-वाणी का सार यह निकला कि भगवान् की स्तुति करने वाला साधक सम्पूर्ण जैनत्व का अधिकारी हो जाता है और अन्त में अपनी साधना का परम फल मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। सूत्रकार ने हमारे समक्ष अक्षय-निधि खोल कर रख दी है। आइए, हम इस निधि का भक्ति-भाव के साथ उपयोग करें और अनादिकाल की आध्यात्मिक दरिद्रता का समूल उन्मूलन कर अक्षय एवं अनन्त आत्म-वैभव को प्राप्त करें।

* *

११ ‖ समाप्ति सूत्र

[आलोचना]

(१)

एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स,
पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।
तंजहा—
मण-दुप्पणिहाणे,
वय-दुप्पणिहाणे,
काय-दुप्पणिहाणे,
सामाइयस्स सइ अकरणया,
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

(२)

सामाइयं सम्मं काएण,
न फासियं, न पालियं,
न तीरियं, न किट्टियं,
न सोहियं, न आराहियं,
आणाए अणुपालियं न भवइ,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ

(१)

एयस्स=इस
नवमस्स=नौवें
सामाइयवयस्स=सामायिक व्रत के
पंच अइयारा=पाँच अतिचार
जाणियव्वा=जानने योग्य हैं
समायरियव्वा=आचरण करने योग्य
न=नहीं हैं
तंजहा=वे इस प्रकार हैं
मण-दुप्पणिहाणे=मन की अनुचित्त प्रवृत्ति
वय दुप्पणिहाणे=वचन की अनुचित प्रवृत्ति
काय-दुप्पणिहाणे=शरीर की अनुचित प्रवृत्ति
सामाइयस्स=सामायिक की
सइअकरणया=स्मृति न रखना
सामाइयस्स=सामायक को
अणवट्ठियस्स=अव्यवस्थित
करणया=करना
तस्स=उस अतिचार सम्बन्धी
मि=मेरा
दुक्कडं=दुष्कृत
मिच्छा=मिथ्या होवे

(२)

सामाइयं=सामायिक को
सम्मं=सम्यक् रूप में
काएणं=शरीर से—जीवन से
न फासियं=स्पर्श न किया हो
न पालियं=पालन न किया हो
न तीरियं=पूर्ण न किया हो
न किट्टियं=कीर्तन न किया हो
न सोहियं=शुद्ध न किया हो
न आराहियं=आराधन न किया हो
आणाए=वीतराग देव की आज्ञा से
अणुपालियं=अनुपालित-स्वीकृत
न भवइ=न हुआ हो तो
तस्स मिच्छामि दुक्कडं=वह मेरा पाप निष्फल हो

भावार्थ

(१)

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार—दोष हैं, जो मात्र जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। वे पाँच दोष इस प्रकार हैं—१—मन को कुमार्ग में लगाना २—वचन को कुमार्ग में लगाना, ३—शरीर को कुमार्ग में लगाना, ४—सामायिक को बीच में ही अपूर्ण दशा में पार लेना अथवा सामायिक की स्मृति—खयाल न रखना तथा ५—सामायिक को अव्यवस्थित रूप से—चंचलता से करना। उक्त दोषों के कारण जो भी पाप लगा हो, वह आलोचना के द्वारा मिथ्या—निष्फल हो।

(२)

सामायिक व्रत सम्यग्रूप से स्पर्श न किया हो, पालन न किया हो, पूर्ण न किया हो, कीर्तन न किया हो, शुद्ध न किया हो, आराधन न किया हो एवं वीतराग की आज्ञा के अनुसार पालन न हुआ हो, तो तत्सम्वन्धी समग्र पाप मिथ्या—निष्फल हों।

विवेचन

साधक, आखिर साधक ही है, चारों ओर अज्ञान और मोह का वातावरण है, अतः वह अधिक-से-अधिक सावधानी रखता हुआ भी कभी-कभी भूलें कर बैठता है। जव घर-गृहस्थी के अत्यन्त स्थूल कामों में भी भूलें हो जाना साधारण है; तव सूक्ष्म धर्म-क्रियाओं में भूल होने के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? वहाँ तो रागद्वेष की जरा-सी भी परिणति, विषय-वासना की जरा सी भी स्मृति, धर्म-क्रिया के प्रति जरा-सी भी अव्यवस्थिति, आत्मा को मलिन कर डालती है। यदि शीघ्र ही उसे ठीक न किया जाए, साफ न किया जाए, तो आगे चल कर वह अतीव भयंकर रूप में साधना का सर्वनाश कर देती है।

चार प्रकार के दोष

*

सामायिक वड़ी ही महत्त्व-पूर्ण धार्मिक क्रिया है। यदि यह ठीक रूप से जीवन में उतर जाए, तो संसार-सागर से बेड़ा पार है! परन्तु, अनादिकाल से आत्मा पर जो वासनाओं के संस्कार पड़े हुए हैं, वे धर्म-साधना को लक्ष्य की ओर ठीक प्रगति नहीं करने देते। साधक का अन्तर्मुहूर्त जितना छोटा-सा काल भी शान्ति से नहीं गुजरता है। इसमें भी संसार की उधेड़-वुन चल पड़ती है! अतः साधक का कर्तव्य है कि वह सामायिक के काल में पापों से वचने की पूरी-पूरी सावधानी रक्खे, कोई भी दोष जानते या अजानते जीवन में न उतरने दे। फिर भी, कुछ दोष लग ही जाते हैं। उनके लिए यह है कि सामायिक समाप्त करते समय शुद्ध हृदय से आलोचना कर ले! आलोचना अर्थात् अपनी भूल को स्वीकार करना, अन्तर्हृदय से पश्चात्ताप करना, दोष-शुद्धि के लिए अचूक महौषध है।

प्रत्येक व्रत चार प्रकार से दूषित होता है—अतिक्रम से, व्यतिक्रम से, अतिचार से और अनाचार से। मन की निर्मलता का नष्ट होना, मन में अकृत्य कार्य करने का संकल्प करना, अतिक्रम है। अयोग्य कार्य करने के संकल्प को कार्य-रूप में परिणत करने और व्रत का उल्लंघन करने के लिए तैयार हो जाना, व्यतिक्रम है। व्यतिक्रम से आगे बढ़ कर विषयों की ओर आकृष्ट होना, व्रत-भंग करने के लिए सामग्री जुटा लेना, अतिचार है। और अन्त में आसक्ति-वश व्रत का भंग कर देना, अनाचार कहलाता है—

"मन की विमलता नष्ट होने को अतिक्रम है कहा,
और शीलचर्या के विलंघन को व्यतिक्रम है कहा।
हे नाथ! विषयों में लिपटने को कहा अतिचार है;
आसक्त अतिशय विषय में रहना महाऽनाचार है॥"

अतिचार और अनाचार में भेद

*

यहाँ पर हमें अतिचार और अनाचार का भेद भी समझ लेना चाहिए, अन्यथा, विपर्यय हो जाने की संभावना बनी रहती है। अतिचार का अर्थ है—'व्रत का अंशतः भंग' और अनाचार का अर्थ है—'सर्वतः भंग'। अतिचार तक के दोष व्रत में मलिनता लाते हैं, व्रत को नष्ट नहीं करते, अतः इन की शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण आदि से हो जाती है। परन्तु, अनाचार में तो व्रत का मूलतः भंग ही हो जाता है, अतः व्रत नये सिरे से लेना पड़ता है। साधक का कर्तव्य है कि वह प्रथम तो 'अतिक्रम' आदि सभी दोषों से बचता रहे। संभव है, फिर भी भ्रान्ति-वश कोई भूल शेष रह जाए, तो उसकी आलोचना कर ले। परन्तु, अनाचार की ओर तो बिल्कुल ही अग्रसर न होना चाहिए। इसके लिए विशेष जागरूकता की आवश्यकता है। जीवन में जितना अधिक जागरण है, उतना ही अधिक संयम है!

सामायिक-व्रत में भी 'अतिक्रम' आदि दोष लग जाते हैं। अतः साधक को उनकी शुद्धि का विशेष लक्ष्य रखना चाहिए। यही कारण है कि सामायिक की समाप्ति के लिए सूत्रकार ने जो प्रस्तुत

पाठ लिखा है, इसमें सामायिक में लगने वाले अतिचारों की आलोचना की गई है। व्रत में मलिनता पैदा करने वाले दोषों में अतिचार ही मुख्य है, अतः अतिचार की आलोचना के साथ-साथ अतिक्रम और व्यतिक्रम की आलोचना स्वयं हो जाती है।

पाँच अतिचार

*

सामायिक-व्रत के पाँच अतिचार हैं—मनोदुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, सामायिक-स्मृति-भ्रंश, और सामायिक-अनवस्थित। संक्षेप में अतिचारों की व्याख्या इस प्रकार है :—

१—सामायिक के भावों से बाहर मन की प्रवृत्ति होना, मन को सांसारिक-प्रपंचों में दौड़ाना, और सांसारिक कार्य के लिए इधर-उधर के संकल्प-विकल्प करना; मनो-दुष्प्रणिधान है।

२—सामायिक के समय विवेक-रहित कटु, निष्ठुर एवं अश्लील वचन बोलना, निरर्थक प्रलाप करना; कषाय बढ़ाने वाले सावद्य वचन कहना; वचन-दुष्प्रणिधान है।

३—सामायिक में शारीरिक चपलता दिखाना, शरीर से कुचेष्टा करना, बिना कारण शरीर को इधर-उधर फैलाना, असावधानी से बिना देखे-भाले चलना; काय-दुष्प्रणिधान है।

४—मैंने सामायिक की है अथवा कितनी सामायिक ग्रहण की हैं, इस बात को ही भूल जाना, अथवा सामायिक ग्रहण करना ही भूल बैठना, सामायिक-स्मृति-भ्रंश है। मूल-पाठ में आए 'सइ' शब्द का सदा अर्थ भी होता है। अतः इस दिशा में प्रस्तुत अतिचार का रूप होगा, सामायिक सदाकाल—निरन्तर न करना। सामायिक की साधना नित्य-प्रति चालू रहनी चाहिए। कभी करना और कभी न करना, यह निरादर है।

५—सामायिक से ऊबना, सामायिक का समय पूरा हुआ या नहीं—इस बात का बार-बार विचार लाना, अथवा सामायिक का समय पूर्ण होने से पहले ही सामायिक समाप्त कर लेना; सामायिक का अनवस्थित दोष है।

यदि सामायिक का समय पूर्ण होने से पहिले, जान बूझकर सामायिक समाप्त की जाती है, तब तो अनाचार है, परन्तु 'सामायिक का समय पूर्ण हो गया होगा' ऐसा विचार कर समय

पूर्ण होने से पहले ही सामायिक समाप्त कर ले, तो वह अनाचार नहीं; प्रत्युत अतिचार है।

शंका-समाधान

*

प्रश्न—मन की गति बड़ी सूक्ष्म है। वह तो अपनी चंचलता किए बिना रहता ही नहीं। और, उधर सामायिक के लिए मन से भी सावद्य-व्यापार करने का त्याग किया है, अतः प्रतिज्ञा भंग होजाने के कारण सामायिक तो भंग हो ही जाती है। अस्तु, सामायिक करने की अपेक्षा सामायिक न करना ही ठीक है। प्रतिज्ञा-भंग करने का दोष तो नहीं लगेगा ?

उत्तर—सामायिक की प्रतिज्ञा के लिए छह कोटि बताई गई हैं। अतः यदि एक मन की कोटि टूटती है, तो बाकी पाँच कोटि तो बनी ही रहती हैं, सामायिक का सर्वथा भंग या अभाव तो नहीं होता! मनोरूप अंशतः भंग की शुद्धि के लिए शास्त्रकारों ने पश्चात्ताप-पूर्वक 'मिच्छा मि-दुक्कडं' का कथन किया है। विघ्न के भय से काम ही प्रारम्भ न करना, मूर्खता है। सामायिक, शिक्षाव्रत है। शिक्षा का अर्थ है, निरन्तर अभ्यास के द्वारा प्रगति करना। अभ्यास चालू रखिए, एक दिन मन पर नियन्त्रण हो ही जाएगा। यह असन्दिग्ध है!

* *

परिशिष्ट

१ || विधि

(१)

सामायिक लेने की विधि

शान्त तथा एकान्त स्थान,
भूमि का अच्छी तरह प्रमार्जन,
श्वेत तथा शुद्ध आसन,
गृहस्थोचित पगड़ी तथा कोट आदि उतार कर शुद्ध वस्त्रों का उपयोग,
मुखवस्त्रिका का उपयोग
पूर्व तथा उत्तर की ओर मुख,
[पद्मासन आदि से बैठकर या जिन-मुद्रा से खड़े होकर]
नमस्कार-सूत्र=नवकार, तीन वार
सम्यक्त्व-सूत्र=अरिहंतो, तीनवार
गुरुगुण स्मरण-सूत्र=पंचिदिय, एक बार
गुरुवन्दन-सूत्र=तिक्खुत्तो, तीन वार
[वन्दना करके आलोचना की आज्ञा लेना और जिन-मुद्रा से आगे के पाठ पढ़ना]
आलोचना-सूत्र=ईरियावहियं, एक बार
कायोत्सर्ग-सूत्र=तस्स उत्तरी, एक वार
आगार-सूत्र=अन्नत्थ, एक वार
[पद्मासन आदि से बैठकर या जिन-मुद्रा से खड़े होकर कायोत्सर्ग—ध्यान करना]

कायोत्सर्ग में लोगस्स, 'चन्देसु निम्मलयरा' तक
'नमो अरिहंताणं' पढ़कर ध्यान खोलना,
प्रकट रूप में लोगस्स सम्पूर्ण एक बार
गुरु-वन्दन-सूत्र=तिक्खुत्तो तीन बार

[गुरु से, यदि गुरु न हों तो भगवान् की साक्षी से सामायिक की आज्ञा लेना]

सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र=करेमि भंते, तीन बार

[दाहिना घुटना भूमि पर टेक कर, बायां खड़ा कर, उस पर अञ्जलि-बद्ध दोनों हाथ रखकर]

प्रणिपात-सूत्र=नमोत्थुणं, दो बार

[४८ मिनिट तक स्वाध्याय, धर्म-चर्चा, आत्म ध्यान आदि]

दो नमोत्थुणं में पहला सिद्धों का और दूसरा अरिहंतों का है। अरिहन्तों के नमोत्थुणं में 'ठाणं संपत्ताणं' के बदले 'ठाणं संपाविउ-कामाणं' पढ़ना चाहिए। यह प्रचलित परम्परा है। हमारी अपनी धारणा के लिए 'प्रणिपात-सूत्र—नमोत्थुणं' का विवेचन देखिए।

* *

(२)

सामायिक पारने की विधि

नमस्कारसूत्र=तीन वार,

सम्यक्त्वसूत्र=तीन बार,

गुरु-गुण स्मरण-सूत्र=एक वार,

गुरु-वन्दन-सूत्र=तीन वार,

[वन्दना करके आलोचना की आज्ञा लेना,
और जिन-मुद्रा से आगे के पाठ पढ़ना]

आलोचना-सूत्र=ईरियावहियं, एक वार,

कायोत्सर्ग-सूत्र=तस्स उत्तरी, एकवार,

आगार-सूत्र=अन्नत्थ, एक वार,

[पद्मासन आदि से बैठकर, या जिन-मुद्रा से खड़े होकर
कायोत्सर्ग—ध्यान करना]

कायोत्सर्ग—ध्यान में लोगस्स 'चन्देसु निम्मलयरा' तक,
'नमो अरिहंताणं' पढ़कर ध्यान खोलना,
प्रकट रूप में लोगस्स सम्पूर्ण एक वार,

[दाहिना घुटना टेक कर, वायाँ खड़ा कर, उस पर
अंजलिवद्ध दोनों हाथ रखकर]

प्रणिपात-सूत्र=नमोत्थुणं दो वार,

सामायिक-समाप्ति-सूत्र=एयस्स नवमस्स आदि, एक वार

नमस्कार-सूत्र=नवकार तीन वार

* *

२ ‖ संस्कृत-च्छायानुवाद

[१]

नमोक्कार—नमस्कार-सूत्र

नमोऽर्हद्भ्यः
नमः सिद्धेभ्यः
नम आचार्येभ्यः
नम उपाध्यायेभ्यः
नमो लोके सर्वसाधुभ्यः ।

एष पञ्चनमस्कारः,
सर्व-पाप-प्रणाशनः ।
मंगलानां च सर्वेषां,
प्रथमं भवति मंगलम् ॥

[२]

अरिहंतो—सम्यक्त्व-सूत्र

अर्हन् मम देवः,
यावज्जीवं सुसाधवः गुरवः ।
जिन-प्रज्ञप्तं तत्त्वं,
इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥

[३]

पंचिंदिय—गुरुगुण-स्मरण-सूत्र

पञ्चेन्द्रिय-संवरणः,
तथा नवविध-ब्रह्मचर्य-गुप्तिधरः ।
चतुर्विध-कषायमुक्तः,
इत्यष्टादशगुणैः संयुक्तः ॥१॥
पञ्चमहाव्रत-युक्तः,
पञ्चविधाचार-पालनसमर्थः ।
पञ्चसमितः त्रिगुप्तः,
षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥२॥

[४]

तिक्खुत्तो—गुरुवन्दन-सूत्र

त्रिकृत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां करोमि,
वन्दे,
नमस्यामि,
सत्करोमि, सम्मानयामि,
कल्याणम् ,
मंगलम् ,
दैवतम् ,
चैत्यम् ,
पर्युपासे ,
मस्तकेन वन्दे ।

[५]

ईरियावहियं—आलोचना-सूत्र

इच्छाकारेण सन्दिशत भगवन् !
ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रमामि, इष्टम् ।

इच्छामि प्रतिक्रमितुम् ,
ईर्यापथिकायां विराधनायाम् , गमनागमने,
प्राणाक्रमणे बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे,
अवश्यायोत्तिंग-पनकदकमृत्तिका-मर्कट-सन्तानसंक्रमणे,
ये मया जीवा विराधिताः
एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः,
चतुरिन्द्रियाः, पञ्चेन्द्रियाः,
अभिहताः, वर्तिताः, श्लेषिताः,
संघातिताः, संघट्टिताः, परितापिताः,
क्लामिताः, अवद्राविताः,
स्थानात् स्थानं संक्रामिताः,
जीविताद् व्यपरोपिताः,
तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

[६]

तस्स उत्तरी—कायोत्सर्ग-सूत्र

तस्य उत्तरीकरणेन,
प्रायश्चित्त-करणेन,
विशोधी-करणेन,
विशल्यी-करणेन,
पापानां कर्मणां निर्घातनार्थाय,
तिष्ठामि कायोत्सर्गम् ।

[७]

अन्नत्थ ऊससिएणं—आकार-सूत्र

अन्यत्र उच्छ्वसितेन, निःश्वसितेन,
कासितेन, क्षुतेन,
जृम्भितेन, उद्गारितेन,

वातनिसर्गेण, भ्रमर्या,
पित्तमूर्च्छया,
सूक्ष्मैः अंगसंचालैः,
सूक्ष्मैः श्लेष्मसंचालैः,
सूक्ष्मैः दृष्टि-संचालैः,
एवमादिभिः आकारैः
अभग्नः अविराधितः,
भवतु मे कायोत्सर्गः ।
यावदर्हतां भगवतां
नमस्कारेण न पारयामि,
तावत्कायं,
स्थानेन, मौनेन, ध्यानेन,
आत्मानं व्युत्सृजामि !

[८]

लोगस्स—चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

लोकस्य उद्द्योतकरान्
धर्म-तीर्थकरान् जिनान् ।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि,
चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥१॥
ऋषभमजितं च वन्दे,
संभवमभिनंदनं च सुमतिं च ।
पद्म-प्रभं सुपार्श्वं,
जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥२॥
सुविधिं च पुष्पदन्तं,
शीतलं, श्रेयांसं, वासुपूज्यं च ।
विमलमनन्तं च जिनं,
धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥३॥

कुन्थुमरं च मल्लिं,
वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्दे अरिष्टनेमिं,
पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥४॥
एवं मया अभिष्टुताः,
विधूतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवराः,
तीर्थंकराः मयि प्रसीदन्तु ॥५॥
कीर्तिताः, वन्दिताः, महिताः,
ये एते लोकस्य उत्तमाः सिद्धाः ।
आरोग्य-बोधि-लाभं,
समाधिवरमुत्तमं ददतु ॥६॥
चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः,
आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।
सागरवर-गम्भीराः,
सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥७॥

[९]

करेमि भन्ते—सामायिक-सूत्र

करोमि भदन्त ! सामायिकम्,
सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि,
यावन्नियमं पर्युपासे,
द्विविधं,
त्रिविधेन,
मनसा, वाचा, कायेन,
न करोमि, न कारयामि,
तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि
निन्दामि गर्हे,
आत्मानं व्युत्सृजामि ।

[१०]

नमोत्थुणं—प्रणिपात-सूत्र

नमोऽस्तु—
अर्हद्भ्यः, भगवद्भ्यः,
आदिकरेभ्यः, तीर्थकरेभ्यः, स्वयंसम्बुद्धेभ्यः,
पुरुषोत्तमेभ्यः, पुरुषसिंहेभ्यः,
पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः,
लोकोत्तमेभ्यः, लोकनाथेभ्यः, लोकहितेभ्यः,
लोकप्रदीपेभ्यः, लोकप्रद्योतकरेभ्यः,
अभयदेभ्यः, चक्षुर्देभ्यः, मार्गदेभ्यः,
शरणदेभ्यः जीवदेभ्यः बोधिदेभ्यः धर्मदेभ्यः,
धर्मदेशकेभ्यः, धर्मनायकेभ्यः, धर्मसारथिभ्यः,
धर्मवर-चतुरन्त-चक्रवर्तिभ्यः,
[द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठेभ्यः,]
अप्रतिहत-वर-ज्ञान-दर्शन-धरेभ्यः,
व्यावृत्त-छद्मभ्यः,
जिनेभ्यः, जापकेभ्यः,
तीर्णेभ्यः, तारकेभ्यः,
बुद्धेभ्यः, बोधकेभ्यः,
मुक्तेभ्यः, मोचकेभ्यः,
सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः,
शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधम्—
अपुनरावृत्ति-सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं
संप्राप्तेभ्यः,
नमो जिनेभ्यः, जितभयेभ्यः।

[११]

सामायिक-सम्पन्न-सूत्र

: १ :

एतस्य नवमस्य सामायिकव्रतस्य—
पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः
तद्यथा—
१—मनो-दुष्प्रणिधानम्,
२—वचो-दुष्प्रणिधानम्,
३—काय-दुष्प्रणिधानम्,
४—सामायिकस्य स्मृत्यकरणता,
५—सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता,
तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्,

: २ :

सामायिकं सम्यक्-कायेन
न स्पृष्टं, न पालितम्,
न तीरितं, न कीर्तितम्,
न शोधितं, न आराधितम्,
आज्ञया अनुपालितं न भवति,
तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् ।

* *

३ ‖ सामायिक-सूत्र : हिंदी पद्यानुवाद

: १ :

नमस्कार सूत्र

[कुकुभ की ध्वनि]

नमस्कार हो अरिहन्तों को,
राग-द्वेप — रिपु-संहारी !
नमस्कार हो श्री सिद्धों को,
अजर अमर नित अविकारी !
नमस्कार हो आचार्यों को,
संघ-शिरोमणि आचारी !
नमस्कार हो उवज्झायों को,
अक्षय श्रुत-निधि के धारी !
नमस्कार हो साधु सभी को,
जग में जग-ममता मारी !
त्याग दिए वैराग्य-भाव से,
भोग-भाव सब संसारी !
पाँच पदों को नमस्कार यह,
नष्ट करे कलि-मल भारी !
मंगलमूल अखिल मंगल में
पापभीरु जनता तारी !

: २ :

सम्यक्त्व-सूत्र

[पीयूषवर्ष की ध्वनि]

देव मम अर्हन् विजेता कर्म के,
साधुवर गुरुदेव धारक धर्म के !
जिन-प्रभाषित धर्म केवल तत्व है,
ग्रहण की मैंने यही सम्यक्त्व है !

: ३ :

गुरुगुणस्मरण-सूत्र

[दिक्पाल की ध्वनि]

चंचल, चपल, हठीली नित पाँच इन्द्रियों का,—
संवर-नियंत्रणा से भव-विष-उतारते हैं !
नव गुप्ति शील व्रत का सादर सदैव पालें,
कलुषित कषाय चारों दिन-रात टारते हैं !
पाँचों महाव्रतों के धारक सुधैर्य-शाली,
आचार पाँच पालें जीवन सुधारते हैं !
गुरुदेव पाँच समिती तीनों सुगुप्ति धारी,
छत्तीस गुण विमल हैं, शिव-पथ सँवारते हैं !

: ४ :

गुरुवन्दन-सूत्र

[लावनी की ध्वनि]

तीन बार गुरुवर ! प्रदक्षिणा,
आदक्षिण मैं करता हूँ !
वन्दन, नति, सत्कार और,
सम्मान हृदय से करता हूँ !

मंगल-मय, कल्याण-रूप,
देवत्व-भाव के धारक हो !
ज्ञान-रूप हो, प्रबल अविद्या-
अन्धकार — संहारक हो !
पर्युपासना श्री चरणों की,
एकमात्र जीवन-धन है !
हाथ जोड़कर शीश झुका कर
वार वार अभिवन्दन है !

: ५ :

आलोचना-सूत्र

[चन्द्रमणि की ध्वनि]

आज्ञा दीजे हे प्रभो ! प्रतिक्रमण की चाह है;
ईर्यापथ-आलोचना, करने का उत्साह है !
आज्ञा मिलने पर करूँ प्रतिक्रमण प्रारंभ में;
आते पथ गन्तव्य में, किया जीव आरंभ में !
प्राणी, बीज तथा हरित, ओस, उतिंग, सेवाल का,
किया विमर्दन मृत्तिका, जल, मकड़ी के जाल का !
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा त्रीन्द्रिय की सीमा नहीं;
चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय नष्ट हुए हों यदि कहीं !
सम्मुख आते जो हने और ढके हों धूल से,
मसले हों यदि भूमि पर, व्यथित हुए हों भूल से !
आपस में टकरा दिए, छू कर पहुँचाई व्यथा,
पापों की गणना कहाँ, लम्बी है अब भी कथा !
दी हो कटु परितापना, ग्लानि, मरण सम भी किए,
त्रास दिया, इक स्थान से अन्य स्थान हटा दिए !
अधिक कहूँ क्या प्राण भी, नष्ट किए निर्दय बना;
दुष्कृत हो मिथ्या सकल, अमल सफल हो साधना।

: ६ :

कायोत्सर्ग-सूत्र

[छप्पय की ध्वनि]

पापमग्न निज आत्म-तत्त्व को विमल बनाने,
प्रायश्चित्त ग्रहण कर अन्तर ज्ञान-ज्योति जगाने!
पूर्ण शुद्धि के हेतु समुज्ज्वल ध्यान लगाने,
शल्य-रहित हो पाप-कर्म का द्वन्द्व मिटाने!
राग-द्वेष-संकल्प तज; कर समता-रस पान,
स्थिर हो कायोत्सर्ग का करूँ पवित्र विधान!

: ७ :

आगार-सूत्र

[रूपमाला की ध्वनि]

नाथ! पामर जीव है यह, भ्रान्ति का भंडार;
अस्तु, कायोत्सर्ग में कुछ, प्राप्त है आगार!
श्वास ऊँचा, श्वास नीचा, छींक अथवा काश;
जृम्भणा, उद्गार, वातोत्सर्ग, भ्रम मतिनाश!
पित्तमूर्च्छा, और अणु भी अंग का संचार;
श्लेष्म का और दृष्टि का यदि सूक्ष्म हो प्रविचार!
अन्य भी कारण तथाविध हैं अनेक प्रकार;
चंचलाकृति देह जिनसे शीघ्र हो सविकार!
भाव कायोत्सर्ग मम, हो, पर अखंड अभेद्य;
भावना-पथ है सुरक्षित देह ही है भेद्य!
जाव कायोत्सर्ग, पढ़ नवकार ना लूं पार;
ताव स्थान, सुमौन से स्थित ध्यान की झनकार!
देह का सब भान भूलूँ, साधना इक तार;
आत्म-जीवन से हटाऊँ, पाप का व्यापार!

: ८ :

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

[हरिगीतिका की ध्वनि]

संसार में उद्द्योत-कर श्रीधर्म-तीर्थंकर महा;
चौवीस अर्हन् केवली वन्दूं अखिल पापापहा!
श्री आदि नरपुंगव ऋषभ जिनवर अजित इन्द्रियजयी;
संभव तथा अभिनन्द जी शोभा अमित महिमामयी!
श्री सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि जिनराज का;
शीतल तथा श्रेयांस का तप तेज है दिनराज का!
श्री वासुपूज्य, विमल, अनन्त, अनन्तज्ञानी धर्म जी;
श्री शान्ति, कुन्थु तथैव अर, मल्ली, नशाए कर्म जी!
भगवान् मुनिसुव्रत, गुणी नमि, नेमि, पार्श्व जिनेश को;
वर वन्दना है भक्ति से श्री वीर धर्म-दिनेश को!
हो कर्ममल-विरहित जरा-मरणादि सब क्षय कर दिए;
चौवीस तीर्थंकर जिनेन्द्र कृपालु हों गुण-स्तुति किए!
कीर्तित, महित, वन्दित सदा ही सिद्ध जो हैं लोक में;
आरोग्य, बोधि, समाधि, उत्तम दें, न आएं शोक में!
राकेश से निर्मल अधिक उज्ज्वल अधिक दिवसेश से;
व्यामोह कुछ भी है नहीं, गंभीर सिन्धु जलेश से!
संसार की मधु-वासना अन्तर्हृदय में कुछ नहीं;
श्री सिद्ध तुम—सी सिद्धि मुझको भी मिले आशा यही!

: ९ :

सामायिक-प्रतिज्ञा-सूत्र

[घनाक्षरी की ध्वनि]

भगवन्! सामायिक करता हूं समभाव,
पापरूप व्यापारों की कल्पना हटाता हूं!

यावत् नियम धर्म-ध्यान की उपासना है;
युगल करण तीन योग से निभाता हूँ !
पापकारी कर्म मन, वच और तन द्वारा;
स्वयं नहीं करता हूं और न कराता हूँ !
करके प्रतिक्रमण, निन्दा तथा गर्हणा मैं;
पापात्मा को वोसिरा के विशुद्ध बनाता हूँ !

: १० :

प्रणिपात-सूत्र

[रोला की ध्वनि]

नमस्कार हो वीतराग अर्हन् भगवन् को;
आदि धर्म की कर्ता श्री तीर्थंकर जिन को !
स्वयंबुद्ध हैं, भूतल के पुरुषों में उत्तम;
पुरुष-सिंह हैं, पुरुषों में अरविन्द महत्तम !
पुरुषों में हैं श्रेष्ठ गन्धहस्ती से स्वामी;
लोकोत्तम हैं, लोकनाथ हैं, जगहित-कामी !
लोक-प्रदीपक हैं, अति उज्ज्वल लोक-प्रकाशक;
अभयदान के दाता अन्तर चक्षु-विकाशक !
मार्ग, शरण, सद्बोधि, धर्म, जीवन के दाता;
सत्य धर्म के उपदेशक, अधिनायक त्राता !
धर्म-प्रवर्तक, धर्म-चक्रवर्ती जग-जेता;
द्वीप-त्राण-गति-शरण-प्रतिष्ठामय शिवनेता !
श्रेष्ठ तथा अनिरुद्ध ज्ञान दर्शन के धारी;
छद्मरहित, अज्ञान भ्रान्ति की सत्ता टारी !
राग-द्वेष के जेता और जिताने वाले;
भवसागर से तीर्ण तथैव तिराने वाले !
स्वयं बुद्ध हो, बोध भव्य जीवों को दीना;

मुक्त और मोचक का पद भी उत्तम लीना !
लोकालोक-प्रकाशी अविचल केवलज्ञानी;
केवलदर्शी परम अहिंसक शुक्ल-ध्यानी !
मंगल-मय, अविचंचल, शून्य सकल रोगों से,
अक्षय, और अनन्त रहित बाधा-योगों से !
एक बार जा वहाँ, न फिर जग में आए हैं;
सर्वोत्तम वह स्थान मोक्ष का अपनाए हैं !
([1]एक बार जा वहाँ, न फिर जग में आना है;
सर्वोत्तम वह स्थान मोक्ष का अपनाना है ।)
नमस्कार हो श्री जिन अन्तर-रिपु जयकारी;
अखिल भयों को जीत पूर्ण निर्भयता धारी !

: ११ :

समाप्ति-सूत्र

[घनाक्षरी की ध्वनि]

(१)

सामायिक व्रत का समग्र काल पूरा हुआ,
भूल चूक जो भी हुई आलोचना करूँ मैं; ।
मन, वच, तन बुरे मार्ग में प्रवृत्त हुए,
अन्तरंग शुद्धि की विभग्नता से डरूँ मैं ! ॥
स्मृतिभ्रंश तथा व्यवस्थिति-हीनता के दोष,
पश्चात्ताप कर पाप-कलिमा से टरूँ मैं, ।
अखिल दुरित मम शीघ्र ही विफल होवें;
अतल असीम भवसागर से तरूँ मैं !!

(२)

सामायिक भली भाँति उतारी न अन्तर में,
स्पर्शन, पालन, यथाविधि पूर्ण की नहीं; ।

१—उक्त कोष्ठांकित पाठान्तर अरिहन्तों के लिए है ।

वीतराग, वचनों के अनुसार कीर्तना की,
शुद्धि की, आराधना की दिव्य ज्योति ली नहीं !!
संसार की ज्वालाओं से पिपासित हृदय ने,
शान्तिमूल समभावना की सुधा पी नहीं; ।
आलोचना, अनुताप करता हूँ बार-बार,
साधना में क्यों न सावधान वृत्ति की नहीं !!

* *

४ सामायिक पाठ

[आचार्य अमितगति]

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
विलष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्य-भावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

—हे जिनेन्द्र देव ! मैं यह चाहता हूँ कि यह मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मित्रता का भाव, गुणी-जनों के प्रति प्रमोद का भाव, दुःखित जीवों के प्रति करुणा का भाव, और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी तथा विरोधी जीवों के प्रति राग-द्वेषरहित उदासीनता का भाव धारण करे।

शरीरतः कर्तुमनन्त—शक्तिं,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति : ॥२॥

—हे जिनेन्द्र आपकी स्वभाव-सिद्ध कृपा से मेरी आत्मा में ऐसा आध्यात्मिक बल प्रकट हो कि मैं अपनी आत्मा को कार्मण शरीर आदि से उसी प्रकार अलग कर सकूं, जिस प्रकार म्यान से-तलवार अलग की जाती है। क्योंकि, वस्तुतः मेरी आत्मा अनन्त शक्ति से

सम्पन्न है, और सम्पूर्ण दाषों से रहित होने के कारण निर्दोष वीतराग है !

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा ।
निराकृताशेष-ममत्व-बुद्धेः,
समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ॥३॥

—हे नाथ ! संसार की समस्त ममता-बुद्धि को दूर करके मेरा मन सदा काल दुःख में, सुख में, शत्रुओं में, बन्धुओं में, संयोग में, वियोग में, घर में, वन में सर्वत्र राग-द्वेष की परिणति को छोड़कर सम बन जाए !

मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निखाताविव बिम्बिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा,
तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

—हे मुनीन्द्र ! अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाले आपके चरण-कमल दीपक के समान हैं, अतएव मेरे हृदय में इस प्रकार बसे रहें, मानो हृदय में लीन होगए हों, कील की तरह गड़ गए हों, बैठ गए हों, या प्रतिबिम्बित हो गए हों !

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडितास्-
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

—हे जिनेन्द्र ! इधर उधर प्रमादपूर्वक चलते-फिरते मेरे से यदि एकेन्द्रिय आदि प्राणी नष्ट हुए हों, टुकड़े किये गए हों, निर्दयतापूर्वक मिला दिए गए हों, किं बहुना, किसी भी प्रकार से दुःखित किए हों, तो वह सब दुष्ट आचरण मिथ्या हो !

विमुक्तिमार्ग-प्रतिकूल-वर्तिना,
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।

चारित्र-शुद्धेर्यदकारि लोपनं,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ! ॥६॥

—हे प्रभो ! मैं दुर्बुद्धि हूँ, मोक्षमार्ग से प्रतिकूल चलने वाला हूँ, अतएव चार कषाय और पाँच इन्द्रियों के वश में होकर मैंने जो-कुछ भी अपने चारित्र की शुद्धि का लोप किया हो, वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो !

विनिन्दनालोचन—गर्हणैरहं,
मनोवचःकाय—कषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं,
भिषग् विषं मंत्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥

—मन, वचन, शरीर एव कषायों के द्वारा जो-कुछ भी संसार के दुःख का कारणभूत पापाचरण किया गया हो, उस सब को निन्दा, आलोचना और गर्हा के द्वारा उसी प्रकार नष्ट करता हूँ, जिस प्रकार कुशल वैद्य मंत्र के द्वारा अंग-अंग में व्याप्त समस्त विष को दूर कर देता है !

अतिक्रमं यं विमतेर्व्यतिक्रमं,
जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः ।
व्यधामनाचारमपि प्रमादतः,
प्रतिक्रम तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥

—हे जिनेश्वर देव ! मैंने विकार-बुद्धि से प्रेरित होकर अपने शुद्ध चारित्र में जो भी प्रमाद वश अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार रूप दोष लगाए हों, उन सब की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करता हूँ !

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं,
व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलङ्घनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं,
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

—हे प्रभो ! मन की शुद्धि में क्षति होना अतिक्रम है, शील-वृति

का अर्थात् स्वीकृत प्रतिज्ञा के उल्लंघन का भाव व्यतिक्रम है, विषयों में प्रवृत्ति करना अतिचार है, और विषयों में अतीव आसक्त हो जाना—निर्गल हो जाना—अनाचार है !

यदर्थमात्रापदवाक्य—हीनं,
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षत्मिवा विदधातु देवीं,
सरस्वती केवल—बोध-लब्धिम् ॥१०॥

—यदि मैंने प्रमाद-वश होकर अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन या अधिक कोई भी वचन कहा हो, तो उसके लिए जिन-वाणी मुझे क्षमा करे और केवल ज्ञान का अमर प्रकाश प्रदान करे !

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने,
त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि ! ॥११॥

—हे जिनवाणी देवी ! मैं मुझे नमस्कार करता हूँ । तू अभीष्ट वस्तु के प्रदान करने में चिन्तामणि-रत्न के समान है । तेरी कृपा से मुझे रत्नत्रय-रूप बोधि, आत्मलीनता-रूप समाधि, परिणामों की पवित्रता, आत्म-स्वरूप का लाभ और मोक्ष का सुख प्राप्त हो!

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्र—वृन्दैर्—
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

—जिस परमात्मा को संसार के सब मुनीन्द्र स्मरण करते हैं, जिसकी नरेन्द्र और सुरेन्द्र तक भी स्तुति करते हैं, और जिसकी महिमा संसार के समस्त वेद, पुराण एवं शास्त्र गाते हैं, वह देवों का भी आराध्य देव वीतराग भगवान् मेरे हृदय में विराजमान होवे !

यो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः,
समस्तसंसार-विकार-बाह्यः ।

समाधिगम्यः परमात्म-संज्ञः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

—जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख का स्वभाव धारण करता है, जो संसार के समस्त विकारों से रहित है, जो निर्विकल्प समाधि (ध्यान की निश्चलता) के द्वारा ही अनुभव में आता है, वह परमात्मा देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे !

निषूदते यो भवदुःख-जालं,
निरीक्षते यो जगदन्तरालम् ।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

—जो संसार के समस्त दुःख-जाल को विध्वस्त करता है, जो त्रिभुवनवर्ती सब पदार्थों को देखता है, और जो अन्तर्हृदय में योगियों द्वारा निरीक्षण किया जाता है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे !

विमुक्ति-मार्ग-प्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्यु-व्यसनाद् व्यतीतः ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १५ ॥

—जो मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करने वाला है, जो जन्म-मरण-रूप आपत्तियों से दूर है, जो तीन लोक का द्रष्टा है, जो शरीर-रहित है और निष्कलंक है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे।

क्रोडीकृताशेष शरीरि-वर्गा,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १६ ॥

—समस्त संसारी जीवों को अपने नियंत्रण में रखने वाले रागादि दोष जिसमें नाममात्र को भी नहीं हैं, जो इन्द्रिय तथा मन से रहित है,

अथवा अतीन्द्रिय है, जो ज्ञानमय है और अविनाशी है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवें।

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तिः,
सिद्धो विबुद्धो धुत-कर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकल विकारं,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १७ ॥

—जो विश्व-ज्ञान की दृष्टि से अखिल विश्व में व्याप्त है, जो विश्व-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होता है, सिद्ध है, बुद्ध है, कर्म-बन्धनों से रहित है, जिसका ध्यान करने पर समस्त विकार दूर हो जाते हैं, वह देवाधिदेव मेरे अन्तर्मन में विराजमान होवे।

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैर्,
यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

—जो कर्म-कलंक-रूपी दोषों के स्पर्श से उसी प्रकार रहित है, जिस प्रकार प्रचण्ड सूर्य अन्धकार-समूह के स्पर्श से रहित होता है, जो निरंजन है, नित्य है, तथा जो गुणों की दृष्टि से अनेक है और द्रव्य की दृष्टि से एक है, उस परम सत्य-रूप आप्तदेव की शरण मैं स्वीकार करता हूँ।

विभासते यत्र मरीचिमालि-
न्यविद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

—लौकिक सूर्य के न रहते हुए भी जिसमें तीन लोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान का सूर्य प्रकाशमान हो रहा है, जो निश्चय नय की अपेक्षा से अपने आत्म-स्वरूप में ही स्थित है, उस आप्त देव की शरण मैं स्वीकार करता हूँ।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

—जिसके ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व अलग-अलग रूप में स्पष्टतया प्रतिभासित होता है, और जो शुद्ध है, शिव है, शान्त है, अनादि है, अनन्त है, उस आप्त देव की शरण मैं स्वीकार करता हूँ।

येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा,
विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ता ।
क्षय्योऽनलेनेव तरू-प्रपञ्चस्—
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

—जिस प्रकार दावानल वृक्षों के समूह को भस्म कर डालता है, उसी प्रकार जिसने काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक और चिन्ता को नष्ट कर डाला है, उस आप्त देव की शरण मैं स्वीकार करता हूँ।

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मितः ।
यतो निरस्ताक्षकषाय-विद्विषः,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥२२॥

—सामायिक के लिए विधान के रूप में न तो पत्थर की शिला को आसन माना है, और न तृण, पृथ्वी, काष्ठ आदि को। निश्चय दृष्टि के विद्वानों ने उस निर्मल आत्मा को ही सामायिक का आसन-आधार माना है, जिसने अपने इन्द्रिय और कषाय-रूपी शत्रुओं को पराजित कर दिया है।

न संस्तरो भद्र ! समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

—हे भद्र ! यदि वस्तुतः देखा जाए तो समाधि का साधन न आसन है, न लोक-पूजा है, और न संघ का मेल-जोल ही है। अतएव तू तो संसार की समस्त वासनाओं का परित्याग कर निरन्तर अध्यात्म-भाव में लीन रह।

न सन्ति बाह्याः मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै ॥२४॥

—संसार में जो भी बाह्य भौतिक पदार्थ हैं, वे मेरे नहीं हैं और न मैं ही कभी उनका हो सकता हूँ—इस प्रकार हृदय में निश्चय ठान कर हे भद्र ! तू बाह्य वस्तुओं का त्याग कर दे और मोक्ष की प्राप्ति के लिए सदा आत्म-भाव में स्थिर रह।

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्—
त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र-तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

—जब तू अपने को अपने-आप में देखता है, तब तू दर्शन और ज्ञान रूप हो जाता है, पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। जो साधक अपने चित्त को एकाग्र बना लेता है, वह जहाँ कहीं भी रहे, समाधि-भाव को प्राप्त कर लेता है।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥२६॥

—मेरी आत्मा सदैव एक है, अविनाशी है, निर्मल है और केवल ज्ञान-स्वभाव है। ये जो-कुछ भी बाह्य पदार्थ हैं, सब आत्मा से भिन्न हैं। कर्मोदय से प्राप्त, व्यवहार दृष्टि से अपने कहे जाने वाले जो भी बाह्य-भाव हैं, सब अशाश्वत हैं, अनित्य हैं।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्ध,
तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र मित्रैः ?
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

—जिसकी अपने शरीर के साथ भी एकता नहीं है, भला उस आत्मा का पुत्र, स्त्री और मित्र आदि से तो सम्बन्ध ही क्या हो सकता है ? यदि शरीर के ऊपर से चमड़ा अलग कर दिया जाए, तो उसमें रोम-कूप कैसे ठहर सकते हैं ? विना आधार के आधेय कैसा ?

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

—संसार रूपी वन में प्राणियों को जो यह अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है, वह सब संयोग के कारण है, अतएव अपनी मुक्ति अभिलाषियों को यह संयोग मन, वचन एवं शरीर तीनों ही प्रकार से छोड़ देना चाहिए ।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
संसार-कान्तार-निपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्वं परमात्म-तत्त्वे ॥२९॥

—संसार--रूपी वन में भटकाने वाले सब दुर्विकल्पों का त्याग करके तू अपनी आत्मा को पूर्णतया जड़ से भिन्न रूप में देख और परमात्मतत्त्व में लीन हो ।

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

—आत्मा ने पहले जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म किया है, उसी का

शुभाशुभ फल वह प्राप्त करता है। यदि कभी दूसरे का दिया हुआ फल प्राप्त होने लगे, तो फिर निश्चय ही अपना किया हुआ कर्म निरर्थक हो जाए।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्य—मानसः,
परो ददातीति विमुंच शेमुषीम् ॥३१॥

—संसारी जीव अपने ही कृत-कर्मों का फल पाते हैं, इसके अति-रिक्त दूसरा कोई किसी को कुछ भी नहीं देता। हे भद्र ! तुझे यही विचारना चाहिए। और अनन्यमन यानी अचंचल चित्त होकर 'दूसरा कुछ देता है'—यह बुद्धि छोड़ देनी चाहिए।

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः,
सर्व-विविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते,
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥३२॥

—जो भव्य प्राणी अपार ज्ञान के धर्ता अमितगति गणधरों से वन्दनीय, सव प्रकार की कर्मोपाधि से रहित, और अतीव प्रशस्य पर-मात्म-रूप का अपने मन में निरन्तर ध्यान करते हैं, वे मोक्ष की सर्व-श्रेष्ठ लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

विशेष

यह सामायिक-पाठ आचार्य अमितगति का रचा हुआ है। आचार्य ने आध्यात्मिक भावनाओं का कितना सुन्दर चित्रण किया है, यह हरेक सहृदय पाठक भली भाँति जान सकता है।

आजकल दिगम्बर जैन-परम्परा में इसी पाठ के द्वारा सामायिक की जाती है। दिगम्बर-परम्परा में सामायिक के लिए कोई विशेष विधान नहीं है। केवल इतना ही कहा जाता है कि एकान्त स्थान में पूर्व या उत्तर को मुख करके दोनों हाथों को लटका कर जिन-मुद्रा से खड़े हो जाना चाहिए। और मन में यह नियम लेना चाहिए कि जब

तक ४८ मिनट सामायिक की क्रिया करूँगा, तब तक मुझे अन्य स्थान पर जाने का और हिंसा आदि का त्याग है।

तदनन्तर, नौ बार या तीन बार दोनों हाथ जोड़ कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। आवर्त का अर्थ—बाईं ओर से दाहिनी ओर हाथों को घुमाना है। इस प्रकार तीन आवर्त और एक शिरो-नति की क्रिया को प्रत्येक दिशा में तीन-तीन बार करना चाहिए। पुनः पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके पद्मासन से बैठ कर पहले प्रस्तुत सामायिक-पाठ पढ़ना चाहिए और बाद में माला आदि से जप करना चाहिए।

* *

५ प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र
२. प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति—आचार्य जयसेन
३. सूत्रकृताङ्गसूत्र-टीका—आचार्य शीलाङ्क
४. आवश्यक-निर्युक्ति—आचार्य भद्रवाहु
५. दशवैकालिक-टीका—आचार्य हरिभद्र
६. पञ्चाशक—आचार्य हरिभद्र
७. शास्त्रवार्ता,समुच्चय—आचार्य हरिभद्र
८. अष्टक-प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
९. षोडशक-प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
१०. व्यवहारभाष्य-टीका—आचार्य मलयगिरि
११. प्रतिक्रमणसूत्र-वृत्ति—आचार्य नमि
१२. सामायिक-पाठ—आचार्य अमितगति
१३. तत्त्वार्थ-सूत्र—आचार्य उमास्वाति
१४. योग-शास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र
१५. आवश्यक-बृहद्वृत्ति—आचार्य हरिभद्र
१६. विषेशावश्यक-भाष्य—जिनभद्र क्षमाश्रमण
१७. आत्म-प्रबोध—जिनलाभसूरि
१८. तीन-गुणव्रत—पूज्य जवाहिराचार्य

१९. तत्त्वार्थसूत्र-टीका—वाचक यशोविजय
२०. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका—यशोविजय
२१. व्यवहार-भाष्य—संघदासगणी
२२. राजप्रश्नीयसूत्र टीका—मलयगिरि
२३. स्थानाङ्गसूत्र-टीका—अभयदेव
२४. सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद
२५. धर्म-संग्रह—मानविजय
२६. सर्वार्थसिद्धि—कमलशील
२७. तत्त्वार्थ-राजवार्तिक—भट्टाकलङ्क
२८. अष्टाध्यायी-व्याकरण—पाणिनि
२९. अमरकोषटीका—भानुजी दीक्षित
३०. भगवती सूत्र-वृत्ति—अभयदेव
३१. सामायिक-सूत्र—सं० मोहनलाल देसाई
३२. वैदिक-सन्ध्या—दामोदर सातवलेकर
३३. नैषधचरित—श्रीहर्ष
३४. दशवैकालिक-सूत्र
३५. निशीथ-सूत्र
३६. प्रायश्चित-समुच्चयवृत्ति
३७. निरुक्त
३८. योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति
३९. निशीथसूत्र-चूर्णि
४०. आचाराङ्ग-सूत्र
४१. अन्तकृद्दशांग-सूत्र
४२. कल्प-सूत्र
४३. औपपातिक-सूत्र
४४. उत्तराध्ययन-सूत्र
४५. स्थानाङ्ग-सूत्र
४६. सूत्रकृताङ्ग-सूत्र

४७. ज्ञातासूत्र
४८. प्रश्नव्याकरण सूत्र
४९. भगवती-सूत्र
५०. अमितगति-श्रावकाचार
५१. उपासकदशांग, सूत्र
५२. भगवद्गीता
५३. यजुर्वेद
५४. अथर्ववेद
५५. शतपथ-ब्राह्मण

* *